CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ISSN No. 0971-796 X

प्राकृत विद्या

समयसार विशेषांक

वर्ष 18, अंक 3

अक्टूबर-दिसम्बर '2006 ई.

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्यरत्नश्री देशभूषण जी महाराज (जन्म शताब्दी

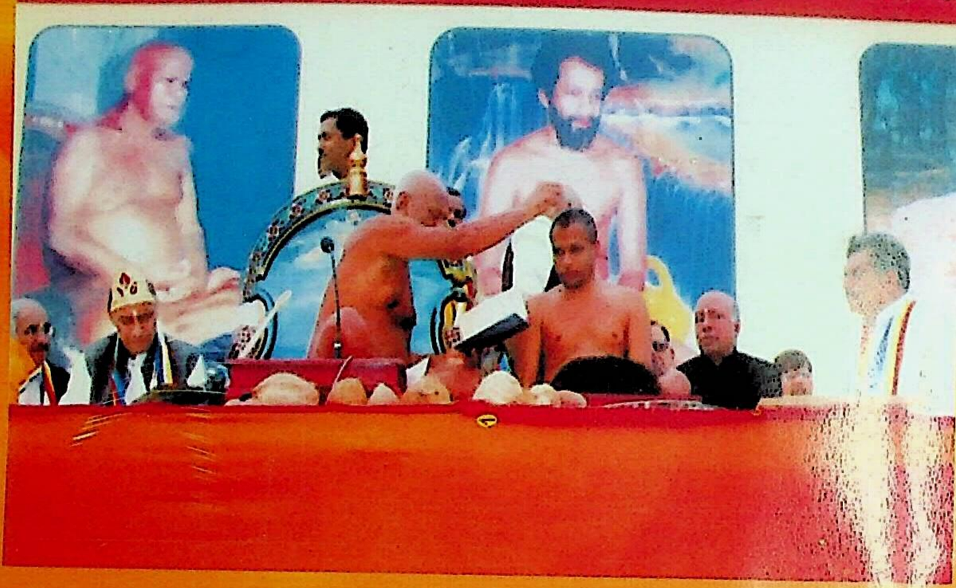

आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज
उपाध्यायश्री श्रुतसागर जी पर एलाचार्य पद के संस्कार करते हुए।

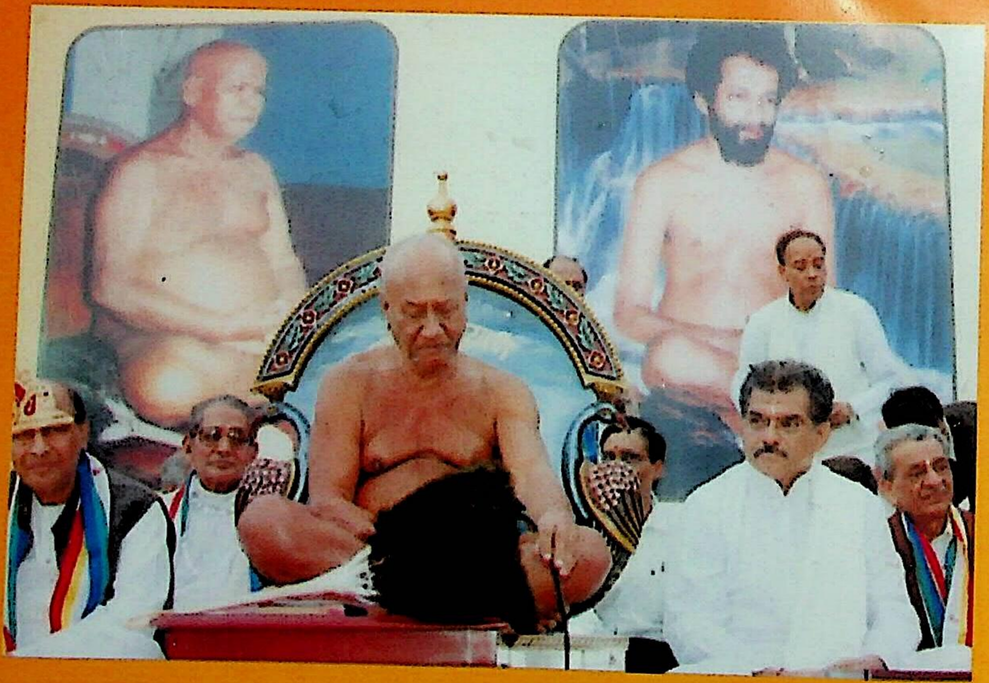

आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज एवं अन्य विशिष्ट महानुभाव।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ISSN No. 0971-796 ×

प्राकृत-विद्या
पागद-विज्जा

PRAKRIT-VIDYA
Pagad-Vijja

प्राकृत, अपभ्रंश आदि प्राच्य भारतीय भाषाओं की हिन्दी तक की विकास-यात्रा दर्शानेवाली समर्पित त्रैमासिकी शोध-पत्रिका

A quarterly journal devoted to researches on the development of Prakrit, Apabhramsha and Ancient Indian Languages upto Hindi Language

वीरसंवत् 2533 अक्तूबर-दिसम्बर 2006 ई. वर्ष 18 अंक 3
Veersamvat 2533 October-December 2006 Year 18 Issue 3
आचार्य कुन्दकुन्द समाधि-संवत् 2017

सम्पादक-मण्डल
प्रो. (डॉ.) राजाराम जैन
प्रो. (डॉ.) प्रेम सुमन जैन डॉ. दामोदर शास्त्री प्रो. (डॉ.) शशिप्रभा जैन
श्री पारस दास जैन डॉ. वीरसागर जैन डॉ. अनेकान्त कुमार जैन

मानद सम्पादक
डॉ. सत्यप्रकाश जैन

प्रबन्ध सम्पादक
श्री सतीश जैन (आकाशवाणी)

No. 4858

प्रकाशक
श्री सुरेशचन्द्र जैन
अध्यक्ष
श्री कुन्दकुन्द भारती ट्रस्ट
18-बी, स्पेशल इन्स्टीट्यूशनल एरिया,
नई दिल्ली-110067
फोन (011) 26564510, 26513138

Publisher
SURESH CHANDRA JAIN
President
Shri Kundkund Bharti Trust
18-B, Special Institutional Area
New Delhi-110067
Phone (011) 26564510, 26513138

इस प्रति का मूल्य पाँच रुपए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निर्वाण-वीथि के दीपक

पर-परिणति बन्धन है, स्व-परिणति मोक्ष है, यही सारभूत है। समयसार की गाथाएँ संसार-बन्ध का निवर्त्तन करानेवाली हैं, तथापि जब तक शब्दरूप वाक्यवृत्ति का अभ्यास-अनुशीलन मन पर छाया हुआ है, तब तक परिणाम में मोक्षतत्त्व का उपस्थापन करनेवाली गाथाएँ भी बन्धन से व्यावर्तित नहीं करतीं। शब्दों के अर्थ जब आत्मा में गहरे पैठ जाते हैं, तब ग्रन्थों की अपेक्षा नहीं रह जाती। ज्ञान और चारित्र प्रयत्नसाध्य हैं; किन्तु दर्शन के सम्बन्ध में स्थिति भिन्न है। सम्यग्दर्शन की उपलब्धि में प्रयत्न का सीधा हाथ नहीं है, वह कालादिलब्धियों पर आश्रित है। तर्कसम्मत और समीचीन तो यह है कि जैसे-जैसे चारित्र आगे बढ़ेगा, वैसे-वैसे परिणामों में सरलता आयेगी और आत्मानुभूति अर्थात् तत्त्वश्रद्धान का सुयोग स्वयमेव उपस्थित होगा। यह स्वाभाविक और तर्कसंगत प्रक्रिया है।

जे व्यवहार कूँ सर्वथा असत्यार्थ कहे हैं तैं तो जिनमत तें प्रतिकूल है, तिनिकी संगति ही स्व-पर की घातक है, ऐसा जानना। आत्मा की शोध करने जा रहे हो और उसे पुद्गल-पर्यायों में खोज रहे हो। यह तो वांछितोपलब्धि का पथ नहीं। सुनो, विलक्षण उपलब्धि का मार्ग भी विलक्षण होता है। तुम यह सब प्रवचन, मेधा-बल तथा श्रुत-दर्प छोड़ो। कुछ काल मौन रहो तथा अपने में ही उस अन्वेष्टव्य का अन्वेषण करो। शान्ति की इच्छा है तो बन्धनों को झटक दो और अपने आप में स्थित हो जाओ। जीवन का सार समय है और समय का सार स्व-समय। वाणी का उपयोग समय का व्याख्यान है, श्रोत्र की सफलता समय-विषयक श्रुति है, नेत्रों का दृष्टिमत्त्व समय का सम्यग्दर्शन। वह प्राणों का प्राण है, हृदय का हृदय है, चक्षु का चक्षु है, नरकान्धकूप-पतन से निवारण करनेवाला है, स्वर्ग के लिए मणिसोपान है और निर्वाण-वीथि का दीपक है। ❖❖

सामयिक भी, सामायिक भी

जीवात्मा का अन्तिम गन्तव्य मोक्ष है, जिसे स्व-समय कहा गया है एवं उसकी अन्तिम भावानुभूति परम पारिणामिक भाव है, जो उसके अपने परिणाम हैं। समय का ज्ञाता तो वह है जिसने **नाहं देहः कुतो मृत्युः** के रहस्य को जान लिया है। वस्तुतः निर्मल आत्मा की प्राप्ति को ही सर्वोपरि मानने वालों को इतर हेय द्रव्यों के समान गण, गच्छ और संघ भी अन्ततः त्याज्य हैं। जहाँ निर्ग्रन्थ अवस्था अशेष ग्रन्थिविमोककारिणी है, वहाँ निर्मल आत्मद्रव्य के अतिरिक्त कौन स्वकीय है? जितना समय समय को दिया गया वह सामयिक है और सामायिक भी; किन्तु समय-तन्मयता से बहिर्भूत समयोपयोग असामयिक और असामायिक है। ●●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुक्रम

क्र.	शीर्षक	लेखक	पृष्ठ सं.
01.	मंगलाचरण : समयसार स्तुति	आचार्य सन्मतिसागर मुनि	5
02.	सम्पादकीय :	डॉ. वीरसागर जैन	6
03.	निर्मल आत्मा ही समयसार	आचार्य विद्यानन्द मुनि	8
04.	उपादान और निमित्त	डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल	38
05.	आचार्य-विद्यानन्द-प्रवचनांश	डॉ. सत्यप्रकाश जैन	44
06.	समय-सौन्दर्य	अनिल कुमार जैन	141
07.	वैदिक व श्रमण साहित्य में 'न्यास'	आचार्य विद्यानन्द मुनि	142
08.	समयसार की... आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि	पं. बंशीधर व्याकरणाचार्य	153
09.	समयसार का दार्शनिक पृष्ठ	डॉ. दरबारी लाल कोठिया	160
10.	समयसार में नय व्यवस्था	पं. जगन्मोहनलाल शास्त्री	168
11.	प्रमाण और नय	पं. नाथूराम डोंगरीय	173
12.	मोक्षमार्ग में........परस्पर समन्वयवाद	पं. नरेन्द्र कुमार भिसीकर	179
13.	निश्चयनय और व्यवहारनय	डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल	183
14.	आचार्य कुन्दकुन्द की आध्यात्मिक योग विद्या	डॉ. अनेकान्त कुमार जैन	189
15.	समाचार दर्शन		195

समयसार ही सम्यग्दर्शन

समयसार ही सम्यक्‌दर्शन समयसार ही सम्यक्‌ज्ञान।
नय पक्षों से रहित आत्मा ही है समयसार भगवान।।

है अनादि विज्ञान ज्ञानघन पावन प्रभु परमात्मस्वरूप।
आदि अंत अरु मध्यरहित है केवल एक शुद्ध चिद्रूप।।
कर्म-उदय अरु कर्म-निर्जरा बन्ध-मोक्ष इसमें न कहीं।
कर्म अकारक तथा अवेदक कर्ता-भोक्ता जीव नहीं।।
परमोत्कृष्ट सहज सुखसागर समयसार परिपूर्ण महान।
समयसार ही सम्यक्‌दर्शन समयसार ही सम्यक्‌ज्ञान।।

निरालंब निर्द्वंद्व अनघ निर्मल निर्दोष अचल नीराग।
निःशरीर निर्दंड निरामय निर्भय निर्मद अमर अराग।।
निर्विकल्प निष्पाप ज्ञानमय दर्शनमयी अपूर्व अमान।
वीतराग निष्काम पूर्ण प्रभु नित्य निरंजन महिमावान।।
जय जय समयसार अध्यात्म ज्ञान ज्योतिमय दिव्य प्रधान।
समयसार ही सम्यक्‌दर्शन समयसार ही सम्यक्‌ज्ञान।।

–पं. राजमल पवैया ●●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समय

✍ *कोठिया सुदेश जैन*

समय
जो आता है
जगाने के लिए
समय जो जाता है
सँभल जाने के लिए
इसलिए
समय से पहले
समय को पहचानो
समय आता है
निकल जाने के लिए।
समय क्या है?
समय सत् है—
समय शाश्वत है
वह चरम सुख है।
वह परम सुख है
इसलिए
समय को जानो
समय का सार है—
निज को निज— और
पर को पर मानो
निज अपना है
पर सपना है
सपना क्या है?
सपना तो!
बस! सपना है!!
नश्वर है, छलना है
तन, धन, वैभव भी
बस! सपना है
जो नहीं होता स्थिर
जो नहीं होता अपना है।
फिर अपना क्या है?
अपना तो
वह सुख है
जो पर में नहीं
निज में है
जो अविनाशी है
स्वधर्म है
जो स्व घटवासी है
अंततोगत्वा—
जिसे पाना है
जिसे जपना है
जिसमें रमना है
अन्यथा— तुम्हीं बताओ
और क्या करना है?
और कहाँ जाना है?
इसलिए— समय रहते
समय को जानो
समय के सार को
निकट से पहचानो
उसे अपने में ही
प्रकट करो
समय तो
सबका आता है
आपका भी
समय आया है
भवसागर से
निकल जाने के लिए
सोचते ही मत रहो
प्रमाद को छोड़ो
अरे ! प्रयत्न तो करो
समय आया है
समय रहते
सँभल जाने के लिए

❖❖

समय नाम है आत्म का, सार आत्म विन कर्म।
भाव, द्रव्य, नोकर्म विन, 'समय सार' जिय धर्म।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मंगलाचरण

समयसार स्तुति

✍ आचार्य सन्मतिसागर मुनि

हो समयसार को नमन निरत, आत्म अनुभव की क्यारी है।
उत्पाद रू व्यय है ध्रौव्य रूप, चेतन गुण अमल विहारी है।। 1।।

नो-कर्म द्रव्य अरु भाव कर्म, चेतन की छटा निराली है।
निज समयसार अवलम्बन लें, उनकी ही मिटे भवाली है।। 2।।

हूँ एक शुद्ध चैतन्य पिण्ड, निज रस में रमने वाला हूँ।
पर-समय, राग का काम नहीं, ज्ञाता चैतन्य उजाला हूँ।। 3।।

निज समय भूल कामादि रमा, क्रोधादि कर्म विह्वल कीना।
मिथ्यात्व परे ज्ञाता द्रष्टा, निज धर्म भूल से नहीं चीना।। 4।।

मिथ्यात्रय से हो परे निरत, सम्यक्त्रय में नित राचूँगा।
है समयसार मेरा मुझमें, नित स्वानुभूति में जाचूँगा।। 5।।

तन की क्रिया, शुभ कर्मों को, मैं धर्म समझ, गुण भूल गया।
स्वर्गादि सुखों का वैभव पा, निज अनुभव, वैभव भूल गया।। 6।।

उपयोग अशुभ से शुभतर में, उपयोग शुद्ध प्रगटाऊँगा।
भूला था आत्मवैभव को, निज में रम के प्रगटाऊँगा।। 7।।

पर्याय दृष्टि से परे दृष्टि, निज द्रव्य दृष्टि प्रकटाना है।
'सन्मति' समभाव क्षुधा रस से, जीवन अवशेष बिताना है।। 8।।

❖❖

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्पादकीय

समयसारस्वरूपोऽहम्[1]

डॉ. वीरसागर जैन

समयसार सम्पूर्ण जिनवाङ्मय रूपी पृथ्वी पर सुमेरु के समान उत्तुंग रत्नपर्वत के समान है।[2] इसके द्वारा ही जीवन पारमार्थिक उन्नति को प्राप्त कर सकता है। अनेक आचार्यों ने इसी ग्रन्थ को आधार बनाकर अपने ग्रन्थों की रचना की है। अत एव इसे सम्पूर्ण द्वादशांग और चतुर्दश पूर्व का सार तक कहा गया है–

'समयसारं द्वादशांगचतुर्दशपूर्वाणां सारं परमतत्त्वम्।[3]'

अर्थात् समयसार परमतत्त्व का प्रतिपादक होने से द्वादशांग और चतुर्दश पूर्वों का सार है। इससे स्पष्ट है कि समयसार सम्पूर्ण ग्रन्थों का मूल आधार है और शेष सभी ग्रन्थ उसके उपजीवी हैं। 'समयसार' के रचयिता दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द हैं, जो विक्रम की प्रथम शताब्दी में हुये थे और जिन्होंने समयसार के अतिरिक्त प्रवचनसार, नियमसार आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की है। आचार्यों में कुन्दकुन्द और उनकी कृतियों में भी 'समयसार' का महत्त्व विशिष्ट है। जीवन में 'समयसार' का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। आचार्यों ने स्पष्ट कहा है कि वह जीव अज्ञानी है, मूढ़ है जो 'समयसार' को नहीं जानता—

'सो अण्णाणी मूढो जो ण याणदे समयसारं।[4]'

समयसार माता के दूध के समान हितकर एवं सुपाच्य है और इसीलिए सभी के द्वारा निर्बाध रूप से पठनीय है; तथापि वर्तमान में हमारे ही कुछ बन्धु ऐसा कहते देखे जाते हैं कि इसे गृहस्थों को नहीं पढ़ना चाहिए। उनका ध्यान हम यहाँ 'समयसार' के ही निम्नलिखित कथन की ओर विशेषत: आकर्षित करना चाहते हैं जिसमें स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द देव ने कहा है कि आत्मा न गृहस्थ है, न मुनि, तथापि जो आत्मा को गृहस्थ या मुनि लिंग वाला समझता है वह मूढ़ है, मोक्षमार्गी नहीं। यथा—

'पासंडीलिंगाणि व गिहिलिंगाणि व बहुप्पयराणि।
घेत्तुं वदंति मूढा लिंगमिणं मोक्खमग्गो त्ति॥[5]'

हाँ, इतना अवश्य है कि इसे समझने के लिए आत्महित की सच्ची रुचि एवं विलक्षण बुद्धि की आवश्यकता है। उसके बिना कोई भी इस अध्यात्मविषयक ग्रन्थराज के मर्म को नहीं समझ सकता है। आचार्यों ने कहा है कि जिस प्रकार पति नेत्रविहीन हो तो पत्नी का शृंगार-सौन्दर्य एवं हाव-भाव-विलास निष्फल रह जाता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है, उसीप्रकार विलक्षण बुद्धि से रहित श्रोता का शास्त्र-श्रवण व्यर्थ है। यथा—

'अप्रतिबुद्धे श्रोतरि वक्तृत्वमनर्थकं भवति पुंसाम्।
नेत्रविहीने भर्तरि विलासलावण्यमिव स्त्रीणां॥ [6]'

अतः समयसार के पाठक को भी विद्वान होना चाहिए —इसमें कोई सन्देह नहीं परन्तु 'समयसार' के अध्ययन हेतु किसी पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाना चाहिए। यह सभी के लिए है। प्रत्येक स्त्री-पुरुष और आबालगोपाल तक इसके पठन का अधिकारी है। समयसार को घर-घर तक ही नहीं, जन-जन तक पहुँचाना चाहिए। समयसार अपने पाठक की भाग्यलिपि बदल सकता है, सम्पूर्ण जीवन ही बदल सकता है, अतः उसके अध्ययन से किसी को रोकना एक बड़ा अपराध है।

आज के समय में जब जीवन में सर्वत्र भागदौड़ और तनाव-सा दिखाई दे रहा है तब तो समयसार की आवश्यकता और भी अधिक है। परमपूज्य चारित्रचक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागर जी मुनिराज 'समयसार' के महान स्वाध्यायी थे, उसे उन्होंने स्वहस्त से लिखा भी था। वे कहते थे—

समयसार पढ़ ले जो कोई। ताहि तनाव कभी नहिं होई॥

सत्य है, समयसार के पाठक को जीवन में कभी कोई तनाव नहीं हो सकता। कैसी भी विषम परिस्थिति उसे अशान्त नहीं कर सकती। वह सीख जाता है— 'मेरी मुझको वन्दना, सोहं आतमराम।' समयसार में आचार्य कुन्दकुन्द का महान सन्देश यह है कि हे भव्य जीवो ! यदि तुम उत्तम सुख चाहते हो तो सदैव इस समयसार स्वरूप शुद्धात्मा में ही रति करो, इसी में संतुष्ट रहो और बस एक इसी में सदा तृप्त रहो, तुम्हें अवश्य उत्तम सुख की प्राप्ति होगी। यथा—

'एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि।
एदेण होहि तित्तो होहिदि तुह उत्तमं सोक्खं॥ [7]'

समयसार का यह अमृत-सन्देश हम सभी के जीवन में चरितार्थ हो— इसी मंगल कामना के साथ 'प्राकृत-विद्या' का यह 'समयसार-विशेषांक' सुधी पाठकों के करकमलों में समर्पित है। इसमें आचार्य कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दी समारोह, समयसार-संगोष्ठी आदि अनेक अवसरों पर लिखे गये विद्वज्जनों के आलेख संगृहीत हैं। साथ ही पूज्य आचार्यश्री विद्यानन्दजी मुनिराज के प्रवचनों के भी आध्यात्मिक अंश सम्पादित हैं। वस्तुतः इस विशेषांक का सम्पूर्ण श्रेय पूज्य आचार्यश्री को ही है। हम उन्हें इस अवसर पर विशेष प्रणाम करते हैं।

अन्त में, समयसार घर-घर तक ही नहीं, घट-घट तक भी पहुँच जाए— इस मंगल कामना के साथ मैं विराम लेता हूँ।

---

1. आचार्य माघनन्दि, ध्यानसूत्र 45 2. आचार्य देवसेन, नयचक्र, श्लोक 2 3. आचार्य वट्टकेर, मूलाचार 10-1-892 4. आचार्य देवसेन, भावसंग्रह 271 5. समयसार, गाथा 408 6. पंचसंग्रह, श्लोक 2, पृष्ठ 585 7. समयसार, गाथा 206 ❖❖

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निर्मल आत्मा ही समयसार

आचार्य विद्यानन्द मुनि

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे।। –(समयसार कलश, 1)

स्वानुभूति से चकासित, चैतन्य स्वभाव, सत्तात्मक एवं सम्पूर्ण इतर भावों के उच्छेदक समयसार (निर्मल आत्मद्रव्य) को नमस्कार है।

एक अन्तिम शिखर-केतु :— यह आत्मस्तुति है, आत्मवन्दना है, स्व की अर्चा है; नमस्यों की परम्परा में एक अन्तिम शिखर-केतु है। इस आत्मपरिणति की अवस्था को प्राप्त करने के पूर्व अनेक परद्रव्यों को नमस्कार करते जन्म बीता। अनेक स्थानों पर स्वाध्यायमुख से, देवार्चन विधि से, गुरु-उपासना से, तीर्थ-पर्यटन से, बुद्धि-कौशल से परम नमस्य किसी गूढ़ तत्त्व का अन्वेषण करते रहे। ग्रन्थों के अक्षरों में उसे स्वाध्याय की चलनी से छानकर देखने का अभीक्ष्ण प्रयास किया और तब एक दिन किसी प्रबल प्रशस्त योग से सूर्य-शलाकाओं से रात्रि के तिमिर के सम्पूर्ण घटाटोप का विध्वंस कर निर्मल, निरवद्य आत्मदेव का प्रादुर्भाव हुआ। उसका साक्षात्कार होते ही ग्रन्थ खुले-के-खुले रह गये, प्रवचन के श्लोक अर्धोक्ति में समाप्त हो गये और सम्पूर्ण आत्मभिन्न पटल दिवास्वप्न हो गये। प्रतिक्षण अन्य द्रव्यों को नमस्कार करनेवाले पाणियुगल आज अपने अन्तःस्थ को प्रणामांजलि समर्पित करने के लिए उत्कण्ठित हो उन्मत्त ताल में गाने लगे— **नमः समयसाराय, नमः समयसाराय, नमः समयसाराय।**

उत्तम रसास्वाद :— यह विलक्षण अनुभव है, अद्भुत अमृत स्पर्श है। अमृतस्यन्दी इन्दु-किरणों का स्पर्श क्या इतना आह्लादक हो सकता है? क्या परद्रव्यों का अनन्त समवाय युगपत् मिलकर ऐसा अलौकिक आनन्द मन्दिर निर्माण कर सकता है? निषेध-भारती में ही इसका उत्तर दिया जा सकता है। संसार का कोई शब्द, कोई रस, कोई वर्ण, कोई गन्ध इस रसगन्धवर्णादि रहित आत्मा से प्रसूत उत्तम रसास्वाद का, अनुपम सुरभि और अवर्णनीय वर्ण का वर्णन नहीं कर सकता। यदि अन्य द्रव्यों में इसकी समता का अथवा अतिशायिता का सामर्थ्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होता तो इसे **सर्वभावान्तरच्छित्** कैसे कहा जा सकता?

कैसे ठहरती :— स्वानुभूति तो आज हुई। इससे पूर्व में हुई अनुभूतियों में तन्मय अवस्था की प्रतीति कहाँ हुई थी? यदि तन्मयता की प्रतीति हुई होती तो अतन्मय बहिर्द्रव्यों में रति कैसे ठहर सकती थी?

अहो ! संसार परिभ्रमण में रात्रिन्दिव प्रसक्त रहने वाले काच-खंडों का संचय कर उन्हें मणि-रत्न संज्ञा प्रदान करते हैं, कतिपय गन्धबहुल लता-वृक्षावली को स्थान-विशेष में आरोपित कर उसे नन्दनवन कहने लगते हैं, स्त्री के लावण्य पर मुग्ध हो उसे लक्ष्मी अभिधान से विभूषित करते हैं और इस प्रकार धन कन कंचन राजसुख जैसे सुलभ पदार्थों में रतिमुग्ध होकर उन्हें ही उपास्य, सेव्य और आवश्यक (उपादेय) मानने की भूल कर बैठते हैं; परन्तु संसार की यह भोगावली श्रम से, विनिमय से, बुद्धि से, बल और छल से मिलती रहती है। शास्त्रकारों ने इसे महान् नहीं माना। यदि ये विभूतियाँ तीर्थंकरों के भी हों, तो भी उन्हें इन नश्वर लोकसम्पदाओं से महनीय पदवी नहीं।[1]

कुबेर-कोष से भी अक्रय्य :— यहाँ दुर्लभपद का प्रयोग यदि किया गया है तो वह एकमात्र यथार्थ ज्ञान के लिए; क्योंकि वह कुबेर-कोष-सम्पदा से भी क्रय्य नहीं तथा किसी बलाढ्य के बलदर्पविकत्थन से वशीकरणीय भी नहीं।

यदि ऐसा होता तो संसार के धनिक और बलवान् सर्वाधिक आत्मवान् होते। उसकी प्राप्ति के लिए ऋषि-मुनि महाव्रती न होते। आत्मदर्शियों ने ऐसे वचन, मेधा और बहुश्रुत के दम्भ-पर्वतों को ध्वस्त करते हुए स्पष्ट कह दिया—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। –(कठ. 1/2/22)

इस आत्मा को प्रवचन से, मेधा से अथवा बहुश्रुत होकर प्राप्त नहीं किया जा सकता। तब इसे प्राप्त करने का मार्ग कौन-सा है? मानो इसी प्रश्न का समाधान करने के लिए समयसार टीका मे आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा— चित्स्वभावस्य स्वयमुपलभ्यमानत्वात्।

वस्तु कहीं, ढूँढ़ें कहीं :— हे आत्मार्थिन् ! किन प्रपंचों में पड़ गये हो? कहाँ वाद-कोलाहल और कहाँ आत्मा ! यह तो वही उक्ति हुई– वस्तु कहीं, ढूँढ़े कहीं अथवा **आम्रान् पृष्टः कोविदारान् आचष्टे** आम पूछ रहे हैं और कोविदार को बता रहे हो। आत्मा की शोध करने जा रहे हो और उसे पुद्गल-पर्यायों में खोज रहे हो। पूर्व की ओर जाना चाहते हो और पश्चिम की ओर दौड़ लगा रहे हो। यह तो वांछितोपलब्धि का पथ नहीं। सुनो, विलक्षण उपलब्धि का मार्ग भी विलक्षण होता है। तुम यह सब प्रवचन, मेधा-बल तथा श्रुत-दर्प छोड़ो। कुछ काल मौन रहो तथा अपने में ही उस अन्वेष्टव्य का अन्वेषण करो। धैर्य रखो और प्रतीक्षा करो कि परिणाम क्या निकलता है?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वह शान्ति-वन जहाँ

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन, स्वयमपि निभृतःसन् पश्य षण्मासमेकम्।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो, ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धिः।।

—(समयसार कलश, 34)

कोलाहल से दूर आत्मा का वह शान्तिवन है जहाँ आत्मा वक्ता, आत्मा श्रोता और आत्मा ही उस उक्त और श्रुत का ध्याता है। वहाँ का उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य अपूर्व है। उसे **उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति जलकल्लोलवज्जले** इस पंक्ति द्वारा कथंचित् स्पष्टीभूत कहा जा सकता है। कोलाहल तो मुखरभाव है और मुखरता अन्तःस्थ संगीत को बाहर करने का बलप्रयोग है जब कि इस आत्मसिद्धि के लिए बाह्यभाव-परिहाणपूर्वक अन्तर्मुख होना आवश्यक प्रतिपादित किया गया है। उपनिषदों में इस आत्मस्थिति का वर्णन करते हुए ऋषियों ने कहा है कि जो आत्माराम हैं, उन्हें स्वव्यतिरिक्त अन्य का सत्ता-बोध ही नहीं। जैसे जल से उत्पन्न बुद्बुद जल में ही खो जाते हैं, वैसे आत्मलीन आत्मा से उठकर आत्मा में ही समाधिस्थ हो जाते हैं। उनको देखने, सुनने, वार्तादि करने के लिए किसी प्रकार के अन्य योग की अपेक्षा नहीं— **यस्य सर्वमात्मैवाभूद् विजानतः। तत्र कः कं पश्येत् कः कं पृच्छेत् कः कं शृणुयात्।** वहाँ तो ज्ञान-दर्शन-चेतना इतनी स्फीत हो जाती है कि उसमें अखिल विश्व की वेद्यता का समाहार हो जाता है। वहाँ पहुँचा हुआ पुरुष सर्वज्ञ हो जाता है, बुद्ध, वर्द्धमान, शिव कहाने लगता है जिसकी स्तुति में तदनुगामियों के प्रार्थना-स्वर अमन्द हो उठते हैं।[2]

योगी एकाकी विचरण करे :— साधनावस्था में स्वाध्याय, पृच्छा, विचारणा, ऊहापोह, जिज्ञासा आदि को आवश्यक अवश्य कहा गया है। साधु-संगति का भी वहाँ महत्त्वपूर्ण योगदान है। यह तिमिर में दीपकवत् अथवा पंगु को यष्टि-आलम्बनवत् साधन हैं। एक पर्वतारोही को आरम्भ में आरोहणात्मक श्रम आवश्यक है और आरूढ़ होने पर उस श्रम से विरति अपेक्षित है। अतः उस महत् ज्ञानमय ज्योति को प्राप्त करने के लिए सम्प्रश्नादि पूर्वावस्था में (अनिष्पन्न पर्याय में) आवश्यक हैं। निष्पन्नावस्था में तो **एक एव चरेद् योगी कुमार्या इव कंकणम्** —योगी एकाकी विचरण करे; क्योंकि **द्वयोर्वार्ता भवेन् मिथः** यदि युगल विहार करेंगे तो परस्पर वार्तालाप होगा। वार्ता के लिए वाणी तथा जिह्वा-यंत्र को प्रबुद्ध करना होगा तथा मनोव्यापार को प्रेरक बनाना पड़ेगा। वह मनोव्यापार वार्ता के लिए किन्हीं प्रसंगों का चिन्तन करेगा। वे प्रसंग सदा आत्मिक ही होंगे, ऐसा निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। तब चित्त में विकल्पों का प्रादुर्भाव होगा, संशय उठेंगे और गन्तव्य पथ दिग्भ्रान्ति में पड़ जाएगा।[3] इसलिए आत्मार्थी को बहुत अवधानपूर्वक अपना मार्ग, अपनी चर्या, स्थिर करनी चाहिए। यदि ऐसा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपेक्षित प्रतीत हो कि अभी संगतिकरण आवश्यक है तो उसके एक-एक पल को जिज्ञासा की सम्पूर्ति में लगाना चाहिए—

अविद्याभिदुरं ज्योतिः परं ज्ञानमयं महत्।
तत्प्रष्टव्यं तदेष्टव्यं तद् द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः।। –(इष्टोपदेश, 49)

गये और आये तो बहुत :– आत्मस्थिति की इस प्रक्रिया की स्थापना में प्रश्न, एषणा आदि उपकारक हैं। आत्मा का दृढ़ श्रद्धान प्राप्त करने के लिए भी तो मार्गबोध चाहिए; नहीं तो— **चलन चलन सब कोई कहे, चलना है किस गाँव,** यह स्थिति महान् अनर्थों का सर्जन कर देगी; क्योंकि यह तो संसार है, संसरणशील है। जगत् है, गतिमय है। यहाँ उपस्थित लोग कुछ जा रहे हैं। कुछ जा चुके हैं। **लोकोऽयं नाट्यशाला** रंगमंच पर कौन अधिक समयपर्यन्त टिक सका है। एतावता जाना अनिवार्य है; परन्तु कहाँ? **सुर नारक नर तिर्यक् मँझार। भव धर धर मर्यो अनन्त बार।** गये और आये तो बहुत, परन्तु कहाँ गये, कहाँ तक गये (अंतिम ग्रैवेयक लौं हद) तथा जाना कहाँ है? यह परिज्ञान तो अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना निरुद्देश्य अन्ध भ्रमण क्या वांछनीय होगा?

समय के दर्पण में इस गंतव्य गतिविलास का निरीक्षण करना चाहिए। जो वास्तविक गंतव्य को जा चुके हैं, वे सिद्ध हैं, परमात्मा हैं। उन्होंने मार्ग का स्वयं अनुसंधान किया है। उन्होंने ही समीचीन पथ का बोध दिया है। उनमें कतिपय स्वयंबुद्ध हैं, कतिचन प्रत्येक बुद्ध हैं और अन्य कतिचन बोधितबुद्ध हैं। भगवान् आदिनाथ को नीलांजना नामा दिव्य नर्तकी के आकस्मिक निधन से सांसारिक क्षणभंगुरता का बोध हुआ, अतः वह प्रत्येकबुद्ध परमात्मा हैं। भगवान नेमिनाथ ने पशुओं को एक स्थान पर निगडित देखा और वह विवाह-मण्डप में न जाकर ऊर्जयन्त गिरि पर तपश्चर्यार्थ चले गये, वह बोधितबुद्ध परमात्मा हैं। इसी प्रकार निमित्त के बिना भी स्वयं आत्मा में उत्कट विराग भावना समुत्पन्न होने से अन्तिम तीर्थंकर श्री महावीर वर्द्धमान ने निवृत्ति-मार्ग स्वीकार किया। वह स्वयंबुद्ध सर्वज्ञ भगवान् हैं। इन्होंने जाना है किस ठौर? इस प्रश्न का समाधान प्राप्त किया और विश्व को वह परम मार्ग बताया। वे नमस्य हैं, नित्य प्रणम्य हैं।

पत्तेयसयंबुद्धा बोहियबुद्धा य होंति ते सिद्धा।
पत्तेयं पत्तेयं समये समयं पडिवदामि सदा।। –(सिद्धभक्ति, 7)

उन्होंने समय को अपना बना लिया, स्वाधिकार में ले लिया। अब समय उनकी सम्पत्ति हो गया। वे स्वयं समयमय अथवा समय हो गये। समय का कालपरक अर्थ गौण हो गया और समय के समय रूप में परमात्मा का अभिधान अन्वित होकर यशोभाजन हो उठा— **परमप्पो खलु समओ।**

समीचीन पथ-बोध :— तत्त्वज्ञान और तत्त्वज्ञानियों की इस विधि में आकर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
समय ने अपने आपको पर्याप्त समुन्नत किया। वह अब कालाणुमात्र नहीं रहा जैसा कि प्रवचनसार का वचन है—

> वदिवदितो तं देसं तस्सम समओ तदो परो पुव्वो।
> जो अत्थो सो कालो समओ उप्पण्णपद्धंसी।। –(2/47)
> एक्को व दुगे बहुगा संखातीदा तदो अणंता य।
> दव्वाणं च पदेसा संति हि समय त्ति कालस्स।। –(2/49)

आकाश के एक प्रदेश में मन्द गमन से गति करनेवाले पुद्गल-परमाणु को जितना कुछ सूक्ष्म काल लगे तत्सम कालपदार्थ समयनाम पर्याय कहा जाता है। उस पर्याय से पर और पूर्व जो नित्य पदार्थ है, वह कालनाम पदार्थ है (2/47); कालद्रव्य के बिना शेष पाँच द्रव्यों के निर्विभाग अंशरूप प्रदेश एक, दो, बहुत, असंख्यात तथा अनंत सदा रहते हैं। कालद्रव्य का समय पर्याय रूप एक प्रदेश निश्चय कर जानना चाहिए।

नये अर्थ की प्रतिष्ठा :– समय की इस आत्मानुभूति-रसमयी परिणति पर, उसके विशिष्टार्थपरक होने पर हठात् एक धर्मसूक्ति का स्मरण हो उठा है। श्री वादिराज **एकीभाव स्तोत्र** में मानस्तम्भ पर एक सदुक्ति का गुम्फन करते हुए कहते हैं कि यदि मनुष्य-भव के दुरभिमान का स्तम्भन अथवा शमन करने में मानस्तम्भ की समर्थता है तो वह इसलिए नहीं है कि स्तम्भ की तुंगता अधिक है किंवा उसके शिल्प में मणि-राशियों का प्रचुरता से उपयोग किया गया है; क्योंकि रत्नादि जड़ द्रव्य तो अन्यत्र भी पुष्कल मिल जाएँगे तथा एक मात्र ऊँचाई को ही उसका हेतु मानें तो पर्वतादि का उच्छ्राय उससे कहीं अधिक है। अतः मानस्तम्भ की रत्नमयता और तुंगता मनुष्यों के लिए अभिमान-रोग-शमन हेतुभूत नहीं हैं। उसमें मुख्य हेतु जिनेन्द्र भगवान् की सन्निधि है। उस सन्निधि ने ही मानस्तम्भ को मानस्तम्भत्व प्रदान किया है—

> पाषाणात्मा तदितरसमः केवलं रत्नमूर्ति-
> र्मानस्तम्भो भवति च परस्तादृशो रत्नवर्गः।
> दृष्टिप्राप्तो हरति स कथं मानरोगं नराणां
> प्रत्यासत्तिर्यदि न भवतस्तस्य तच्छक्तिहेतुः।। –(एकीभावस्तोत्रम्, 9)

शिव और शव में प्राणशक्ति की उपस्थिति-अनुपस्थिति का ही तो भेद है। यावत् प्राणों की विद्यमानता है तावत् यह जड़, पुद्गलस्कन्ध शरीर में शिव है और जिस क्षण इससे प्राणवियुक्ति हो जाती है, यह शव हो जाता है। उत्तम के सन्निधान से वस्तु में उत्तमत्व का आविर्भाव हो जाता है। पाषाण भी प्रतिष्ठाविधि के अनन्तर देवत्व ग्रहण कर लेता है। समय शब्द के साथ परमात्मार्थ का आविर्भाव करनेवालों ने इसकी निरुक्तियों में अनुपम सुखसंवर्धक भावराशियों की सृष्टि की है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समयो खलु णिम्मलो अप्पा :— आचार्य कुन्दकुन्द ने समय का अर्थ निर्मल आत्मा (परमात्मा) किया है। रयणसार की 163वीं गाथा कि रत्नत्रय ही गण है, मोक्षमार्ग ही गच्छ है, गुणों का संघात ही संघ है तथा निर्मल आत्मा ही परमात्मा है[4]—

रयणत्तयमेव गणं, गच्छं गमणस्स मोक्ख-मग्गस्स।
संघो गुणसंघादो, समओ खलु णिम्मलो अप्पा।। –(रयणसार, 158)

वस्तुतः निर्मल आत्मा की प्राप्ति को ही सर्वोपरि ध्येय मानने वालों को इतर हेयद्रव्यों के समान गण, गच्छ और संघ भी अन्ततः त्याज्य हैं। जहाँ निर्ग्रन्थ अवस्था अशेष ग्रन्थिविमोक्षकारिणी है, वहाँ निर्मल आत्मद्रव्य के अतिरिक्त कौन स्वकीय है? गण, गच्छों का भेद लेकर उन्हीं के साथ अपना अभेदान्वय रखनेवाले आत्मा में निर्मलता कैसे ला पायेंगे? क्योंकि उनके आत्मा में तो गण, गच्छ, संघ और उनके नियमादि ओतप्रोत हैं। सम्भव है, आत्मा से भी अधिक गण-गच्छादि में व्यवहार करनेवाले परसमय-निष्ठों को लक्ष्य करते हुए ही आचार्य ने उक्त पारमार्थिक नवीन निश्चयात्मिका व्याख्या की हो तथा परसमयों पर मधुर कटाक्ष किया हो।

समय ही सामायिक :— भावसामायिक का निरूपण करते हुए मूलाचार में प्रतिपादित किया गया है कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान, संयम और तपों से जीव के एकीभाव को समय कहते हैं, इस (इत्थंलक्षण) समय को ही सामायिक समझो—

संमत्तणाणसंजमतवेहिं जं जं पस्सत्थसमगमणं।
समयं तु तं तु भणिदं तमेव सामाइअं जाणे।। –(7/23)

यह समय में स्थित होना ही सामायिक है। जो प्रतिक्षण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं संयम-तपों से अपने साथ ऐक्य की प्रतीति करता है तथा परीषहों को जीतकर, दुर्लेश्या, दुर्ध्यान आदि से अबद्ध रहता हुआ आत्मध्यान-मग्न है, वह सामायिकवान् है। वही वास्तविक मोक्षपथिक है। मोक्षार्थी का स्थितिकेन्द्र आत्मा, ध्येय आत्मा, अनुभवनीय आत्मा तथा विहरणीय-विचारणीय भी आत्मा। इस आत्मा से भिन्न समस्त द्रव्य श्वपचवत् अस्पृश्य। आत्मा राजा और आत्मा प्रजा। आत्मा ही राष्ट्र और आत्मा ही लोक। आत्मा ही पाचक और वही भोक्ता। आत्मा ही दृश्य और आत्मा ही दर्शक। ऐसा एकान्त प्रदेश जहाँ अन्यों का प्रवेश निषिद्ध।

आचार्य पूज्यपाद ने समय का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ करते हुए लिखा है— **समेकीभावे वर्तते। तद् यथा संगतं घृतं संगतं तैलमित्युच्यते एकीभूतमिति गम्यते। एकत्वेन अयनं गमनं समयः। समय एव सामायिकम्। समयः प्रयोजनमस्येति वा विगृह्य सामायिकम्।** सम् यह संगतिपरक शब्द है। जैसे संगतं घृतम् का अर्थ एकीभूत घृत है। समय शब्द का पूर्वार्द्ध यही एकीभावद्योतक सम् उपसर्ग है। इसका उत्तरपद अय है। अय का अर्थ गति, गमन है। **समुदायो ह्यर्थवान् समुदायस्यैकदेशो निरर्थकः** इस वैयाकरणोक्ति के अनुसार सम् और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अय से निष्पन्न समय का अर्थ एक हो जाना है। यह एकीभाव सजातीय में ही घटित होता है विजातीय में नहीं। जैसे तिल-तण्डुलों को एकत्र करने पर भी वे पृथक्-पृथक् प्रतीत होते रहेंगे; अतः आत्मद्रव्य एकाकी होने से उसका किसी इतर के साथ एकीभाव नहीं हो सकता। यह आत्म-पुद्गल के मिश्रण का प्रत्याख्यान ही आत्मा का समय है। इस समय की साधनावस्था सामायिक है। सामायिक ही समय-धर्म है। जितना समय समय-चिंतन (आत्मस्थिति) में उपयोगबद्ध है, उतना ही सामयिक भी कहा जा सकता है, जिसका अर्थ प्राप्तकाल है। **समयस्तदस्य प्राप्तम्** (जैनेन्द्र व्याकरण, 3/4/98) का तात्त्विक विमर्श यही संकेत ध्वनित करता है। अतः जितना समय-समय को दिया गया वह सामयिक है और सामायिक भी; किन्तु समयतन्मयता से बहिर्भूत समयोपयोग असामयिक और असामायिक ही है। श्री समन्तभद्रस्वामी ने समयज्ञ उन्हें ही माना है जो समय (आगम तथा आत्मा) को जानते हैं। **समयं जानंति समयज्ञाः** (रत्नकरण्ड श्रावकाचार 4/8) यहाँ धर्म प्रेरणा को उपोद्वलित करनेवाले करुणाशील आचार्य समय में स्थितीकरण के लिए, यदि अधिक काल कोई न दे सके, उसे अत्यल्प समय भी निकालकर सामायिक करना चाहिए, इस आशय से कहते हैं कि वह भी सामायिकवान् है जो अपने केशबन्ध, मुष्टिबन्ध, वस्त्रबन्ध और पर्यंकासनबन्ध परिमाण समय को भी स्वोपयोग में स्थिर करता है। इस विलक्षण साधर्मीस्नेह के सुभाषित हैं—

मूर्धरुहमुष्टिवासोबन्धं पर्यंकबन्धनं चापि।
स्थानमुपवेशनं वा समयं जानन्ति समयज्ञाः।। —(रत्नकरण्ड 4/8)

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्, अनुभव भवमूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्त्तम्।
पृथगथ विलसंतं स्वं समालोक्य येन, त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम्।।
—(समयसार कलश 23)

हे भव्य ! तत्त्व की जिज्ञासा के लिए किसी प्रकार से भी मृतक अवस्था का अनुभव करते हुए भी अपने चैतन्य पुरुष को इस जड़ पुद्गलावच्छिन्न देह से पृथक् देखने का प्रयत्न मुहूर्त भर के लिए ही करो। ऐसा प्रयत्न करने से अपने स्व को शरीर से अलग जानकर तत्क्षण ही तुम इस मूर्ति के साथ कल्पित अपने एकत्व मोह से मुक्त हो जाओगे।

सव्वे जीवा णाणमया जो समभाव मुणेइ।
सो सामाइय जाणि फुडु जिणवर एम भणेइ।। —(योगसार, 99)

सम्पूर्ण जीव ज्ञानमय हैं (लब्धि-अक्षर से केवलज्ञानपर्यन्त) इस प्रकार के जो समभाव हैं, वह सामायिक है— ऐसा जिनेन्द्र भगवान् का वचन है।

अयनमयः सम् . एकत्वेन अयनं गमनं परिणमनं समयः। समय एव सामायिकम् स्वार्थे इकण्। अथवा समयः प्रयोजनमस्येति सामायिकम्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रयोजनार्थे इकण्। कोऽर्थः देववन्दनायां निःसंक्लेशं सर्वप्राणिसमताचिंतनं सामायिकमित्यर्थः। —(तत्त्वार्थवृत्ति 7/21)

समय शब्द के साथ इकण् प्रत्यय से स्वार्थ में सामायिक पद सिद्ध किया गया है जिसका अर्थ हुआ एकरूप से परिणमन करना। यह समय ही सामायिक है अथवा प्रयोजन अर्थ में इकण् प्रत्यय करने पर समय अर्थात् एकत्वपरिणति ही जिसका प्रयोजन हो, वह सामायिक है। तात्पर्य यह कि देव-वन्दना आदि काल में विना संक्लेश के सब प्राणियों में समता आदि का चिंतन करना सामायिक है।

एकत्वेन गमनं समयः। प्रतिनियतकायवाङ्मनस्कर्मपर्यायार्थ प्रतिनिवृतत्वादात्मनो द्रव्यार्थेनैकत्वगगनमित्यर्थः (तत्त्वार्थ राजवार्तिक 7/21); अर्थात् मन, वचन और काय की क्रियाओं से निवृत्त होकर एक आत्मद्रव्य में लीन हो जाना समय है।

अनन्ताः सामायिकसिद्धाः इत्येतदपि त्रितयमेव साधयति। कथम्? ज्ञस्वभावस्यात्मनस्तत्त्वं श्रद्दधानस्य सागायिकचारित्रोपपत्तेः। समय एकत्वमभेद इत्यनर्थान्तरम्। समय एव सामायिकं चारित्रं सर्वसावद्यनिवृत्तिरिति अभेदेन संग्रहादिति। —(राजवार्तिक 49)

सामायिक से सिद्धि प्राप्त करनेवाले सिद्ध भगवान् हुए अनन्त हैं। यह कथन भी सम्यक्त्रयी समर्थक है; क्योंकि ज्ञानदर्शनलक्षण आत्मा जब तत्त्वश्रद्धान-प्रवृत्त होता है तब उसे चारित्ररूप उपपत्ति होती है। अतः समय, अभेद और एकत्व तीनों शब्द समानार्थक हैं। समय ही सामायिक है, चारित्र है, सर्वसावद्यनिवृत्ति है— इत्यादि अर्थ अभेद से संगृहीत हैं। इस आशय पर समयसार कलश में अमृतचन्द्रसूरि की एक सदुक्ति पठनीय है—

एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मक-
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तगनिशं ध्यायेच्च तं चेतति।
तस्मिन्नैव निरन्तरं विहरति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन्
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विन्दति।। —(240)

इस आत्मतन्मय स्थिति को आचार्य माघनन्दी ने समयसार स्वरूप कहा है। **समयसारस्वरूपोऽहम्** —(ध्यानसूत्र, 45) परन्तु यह उपलब्धि नितान्त वाचिक नहीं है। एक असत्यभाषी अपने विषय में यदि उच्चस्वर में अपने सत्यवक्ता होने की घोषणा करे तो वह परिचितों में परिहास-पात्र ही होता है, क्योंकि वास्तविकता से असंस्पृष्ट शब्दों का अर्थ व्याहत हो जाता है। ऐसे पुरुषों को लक्ष्य करते हुए आचार्यों ने कहा है कि वास्तविक तत्त्वज्ञान से अपरिचित निर्मल समयसार का दर्शन नहीं कर पाते। समयसार कलश में आचार्य कहते हैं—

ये त्वेनं परिहृत्य संवृतिपथप्रस्थापितेनात्मना
लिंगे द्रव्यमये वहन्ति ममतां तत्त्वावबोधच्युताः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नित्योद्योतमखण्डमेकमतुलालोकं स्वभावप्रभा-
प्राग्भारं समयस्य सारममलं नाद्यापि पश्यन्ति ते।।

तत्त्वावबोध का यह मार्ग भिन्न है और द्रव्यलिंगममकार-मीलितों का मार्ग अलग है। द्रव्यलिंगी बाह्यचेतनासक्त होता है तो भावलिंगी अन्तश्चक्षु। समयसार की स्थिति आत्मा है और अन्यासक्त का रतिकेन्द्र पुद्गल-परिवार है। आत्मभावी ध्यानस्थ होकर सोचता है। योगवासिष्ठ में लिखा है—

नाहं रामो न मे वांछा भोगेष्वपि न मे मनः।
शान्त आसितुमिच्छामि स्वात्मन्येव जिनो यथा।।

मैं राम नहीं, भोगों में मेरा मन नहीं। मैं तो आत्मस्वरूप हूँ और जिनेन्द्र प्रभु के समान आत्मा में ही स्थिति चाहता हूँ; क्योंकि **राम** यह नाम तो मेरे इस पुरुषपर्याय का संकेतपद है, यह नश्वर है। इस नाम के साथ अपने सम्पर्क की भावना करना बहिर्दृष्टि है। मोह-भावना है, अहंकार-प्रबोध है। **रामोऽहम्** कहते ही सारे लौकिक दर्प उपस्थित हो जाते हैं कि मैं राम हूँ-अयोध्यापति, रावणजेता, रक्षःसंहारकारी, पितृआज्ञापालक, लोकनमस्कृत और और जाने क्या-क्या? जितना बड़ा व्यक्ति उतने दीर्घ-दीर्घतर उसके विभाव-संयोग और जितने दीर्घ-दीर्घतर विभाव-संयोग उतना अधिक बन्धन, मोह, ममता तथा आर्त्त-रौद्र। इन सम्पूर्ण उपाधि-विभावों से आत्मचेतना का क्या सम्बन्ध? **आत्मान्यः पुद्गलश्चान्यः** आत्मा अन्य है और पुद्गल अन्य है। पुद्गल स्थूल है, कृश है, कृष्ण है, शुक्ल है, मरणधर्मा है, क्षयी है। ये बाह्य विकल्परूप आत्मा में नहीं है। वह इस दैन्य से बहुत ऊपर है अमर, अमृतमय, आनन्दस्वरूप, ज्ञानमय, चैतन्य। इसीलिए मुनिवृत्ति अपनाने वालों ने दिगम्बर होकर, क्षुत्पिपासादि सहन कर, अनिकेत व्रत लेकर, इन्द्रियों का दमन कर देह को अकिंचन बनाया और आत्मा को परमवैभव (मुक्ति श्री) प्रदान किया। देह अकिंचन है और आत्मा परम सम्राट् —यह निर्ग्रन्थमुद्रा आत्मनिष्ठों की वह सांकेतिक भाषा है जिसमें अपरिमित आनन्द के छन्दों की सृष्टि हुई है—

आत्मा पुद्गल से भिन्न

णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण ण कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीणं।। –(प्रवचन. 2/68)

यह देह, मन, वाणी आत्मा नहीं है, समय नहीं है। न यह उनका कारण है और न कर्ता, कारयिता तथा अनुमन्ता है; क्योंकि आत्मा पुद्गल से भिन्न कहा गया है। न्यायशास्त्र कहता है— **घटो न भवति पटः, पटो वा न भवति घटः**, घट है वह पट नहीं होता और पट है वह घट नहीं होता। जब दो पुद्गल द्रव्य सहसा पर-परिणति नहीं करते तब विशुद्ध आत्मद्रव्य पुद्गलद्रव्यों में परिणमन कैसे करेगा? आत्मा के नामरूप से अतीत वैशिष्ट्य का ज्ञान रखनेवालों ने इसी आशय को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सहस्रधा परिस्फुट करते हुए आत्म को चिदानन्द वीतराग कहा है— **चिदानन्दरूपं नमो वीतरागम्।**

जब जीवात्मा शुद्ध निश्चयनय से पृथक् होकर व्यवहारनय में प्रवृत्त होता है तब अपने को **रामोऽहं कृष्णोऽहं स्थूलोऽहं कृशोऽहं पुमानहं स्त्री-अहं** इत्यादि कहता है परन्तु पारमार्थिक निश्चय भाषा में अहं के साथ ये पुद्गलविभाव सम्बद्ध नहीं रहते। जब कुम्भ का निर्माण होता है तब उसके उपादान और निमित्त कारण अपेक्षित रहते हैं। उस समय मिट्टी का पिण्ड, चक्र, चीवर, दण्ड, कुलाल एवं सूत्र आवश्यक हैं; परन्तु अग्नि-पक्व होने पर घट को जब पानी भरने के प्रयोग में लिया जाता है तब उन कुलाल-चक्रादि की अपेक्षा नहीं रहती। आत्मा जब अपने शुद्ध द्रव्य का चिन्तन करता है, तब वह भी अपने स्थूल नाम-रूपों की संज्ञा से अलग रहता है। आत्मचिन्तन में **क्षत्रियकुमारो रामोऽहं ध्यायामि** मैं क्षत्रिय ध्याता आत्मा है, वह चेतन है। क्षत्रिय पुत्र वीर नाम से परिचित पिण्डात्मक देह जड़ है, वह ध्यान कैसे कर सकता है? अतः **आत्मा आत्मानं ध्यायामि** यह कथन युक्त है—

मृत्पिण्डदण्डचक्रादि घटो जन्मन्यपेक्षते।
उदकाहरणे तस्य तदपेक्षा न विद्यते।। —(श्लोकवार्तिक)

जाति, लिंग, नाम, द्रव्य आदि में समय (आत्मा) का आग्रह करनेवाले बहिरात्मा हैं, उन्हें मूढ़दृष्टि अथवा मिथ्यादृष्टि जानना चाहिए। आत्मप्रदेश से बाहर परिभ्रमण करते रहने से उन्हें आत्मपद में प्रतिष्ठित होने का लाभ नहीं मिलता—

जातिलिंगविकल्पेन येषां च समयाग्रहः।
तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव परमं पदमात्मनः।। —(समाधिशतक, 89)

इस परपरिणति और स्वपरिणति को शास्त्रकारों ने अनेक विधियों द्वारा समझाने का अपूर्व प्रयास किया है। जैसे मधुर पकवान में अनेक नाम-रूप जातियाँ होती हैं; परन्तु सबमें मिष्टत्व शर्कराजन्य ही होता है वैसे शास्त्रोपदेश के विविध सन्दर्भ अनेक वर्णन-शैली में भिन्न प्रतीत होते हुए भी **जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्यः** का उपबृंहण-मात्र हैं। परिणामतः स्वपरिणति श्लाघ्य है और पररति त्याज्य है। इसे स्वसमय और परसमय नाम से निरूपित करते हुए प्रवचनसार की गाथा है—

जे पज्जएसु णिरदा जीवा परसमयिग त्ति णिद्दिट्ठा।
आदसहावम्मि ठिदा ते सगसमया मुणेदव्वा।। —(2/2)

शास्त्र नहीं, शास्त्राभास :— परिणामों में परत्व को स्व में अध्यवसित करनेवाले परसमयिक हैं तथा आत्म के शुद्ध स्वभाव में स्थित हैं, वे स्वसमय हैं। संसारी जीवों की परसमय-रति प्रायः अधिक होती है। संसार के चाकचिक्य उत्पन्न करनेवाले पदार्थ उन्हें सहसा आकर्षित कर लेते हैं और परिणामस्वरूप ऐसे पुरुष धनपतित्व, नरपतित्व, चक्रवर्तित्व आदि लोक में देहसुख प्रदान करनेवाले पौद्गलिक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चक्रव्यूहों में घिर जाते हैं। उन्हें ऐसा मति-विभ्रम होने लगता है कि देवता धन-सम्पत्ति देते हैं, शास्त्रों में लौकिक सुखों का वर्णन है और गुरुदेव का पुरुषार्थ हमें संसार-सागर से पार उतारने वाली नौका है; परन्तु सत्य इससे भिन्न होता है। शास्त्रों का विषय तत्त्वज्ञान-संग्रह है, गुरुदेव मार्गोपदेष्टा हैं और सुखदाता अथवा दुःखप्रसविता देव नहीं, अपने कर्म हैं। **परो ददातीति विमुंच शेमुषीम्।** यह सम्यग्दृष्टि की दर्शनलब्धि है। जहाँ धनादि नश्वर पदार्थों की स्तुति है, वे शास्त्र नहीं, शास्त्राभास हैं और जहाँ सुख-दुःख प्रदाता देव बताये गये हैं, वह कर्म-मीमांसा से अनभिज्ञ विषय देवाभास है। ऐसे गुरुदेव ही जहाँ सर्व शिष्य-समूह के लिए मोक्षाधिकार लिये हुए हैं, वे कोई मिथ्यागुरु होंगे— सम्यग्दृष्टि भव्यों को इन तीनों क्षेत्रों में अपनी ही अमूढ़दृष्टि का सहयोग लेना चाहिए। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में चेतावनी के स्वर स्मरणीय हैं—

लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे।
नित्यमपि तत्त्वरुचिना कर्त्तव्यममूढदृष्टित्वम्।। —(26)

किं च- **इह जन्मनि विभवादीनमुत्र चक्रित्वकेशवत्वादीन्।**
एकान्तवाददूषितपरसमयानपि च नाकांक्षेत्।। —(पुरुषार्थ. 24)

नय-नदियाँ :— परसमय का परिज्ञान यदि परसमयनिवर्तक और स्वसमयप्रवर्तक होता है तो यह बाधक नहीं, प्रत्युत तत्त्वज्ञान में सहायक है। ब्रह्म को धारण करने के लिए अब्रह्म का ज्ञानपूर्वक परित्याग व्रती को ब्रह्म के मिथ्यापक्ष (अब्रह्मचर्य) से परित्राण ही प्रदान करता है; परन्तु परसमय के साथ मैत्री करना शोचनीय है, आत्मघात-सदृश है। जानने मात्र पर्यवसितवृत्ति तो सर्वज्ञ भगवान् में भी है। वे परसमयों को तथा स्वसमय को जानते हैं; परन्तु तन्मयता उनकी स्वसमय में ही है—

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणयेन केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं।। —(नियमसार, 158)
दव्व-गुण-पज्जयेहिं जाणदि पर-सग-समयादि-विभेदं।
अप्पाणं जाणदि सो, सिव-गदि-पहणायगो होदि।। —(रयणसार, 139)
दोण्ह वि णयाण भणिदं जाणदि णवरिं तु समयपडिबद्धो।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचि वि णयपक्खपरिहीणो।। —(समयसार, 143)

केवली भगवान् श्रुतज्ञान के अवयवभूत व्यवहार और निश्चयनयपक्ष को जानते अवश्य हैं; क्योंकि सर्वज्ञ हैं, किन्तु सहज उल्लसित अमन्दआनन्द-कल्लोल-संकुल अपने अखिल ज्ञानसिन्धु में नित्य निमग्न रहने से किसी नयपक्ष का तन्मयत्वेन ग्रहण नहीं करते हैं। क्योंकि नयवाद व्यवहार है और व्यवहार परसमय है—

जावइया वयणपहा तावइया चेव हुंति णयवाया।
जावइया णयवाया तावइया चेव हुंति परसमया।। —(सन्मतितर्क 3/47)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन अपरिशुद्ध नयों की परिसंख्या नहीं है। ये तो निश्चयसिंधु को प्राप्त करानेवाली नदी की सहस्र धाराएँ हैं। धाराओं में समुद्र में पहुँचा जा सकता है, परन्तु धाराएँ समुद्र नहीं हो सकतीं। सिद्धसेन दिवाकर द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका में इन नय और निश्चय का विभेद स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ ! दृष्टयः।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः।। —(4/15)

साक्षात् समयसार :– निश्चय के एकान्त प्रदेश में वीतरागभाव की अव्याहत स्थिति है। वहाँ नयपक्ष की संकल्पविकल्पचातुरी का प्रवेश निषिद्ध है। इन्हें, वहाँ पहुँचा हुआ पुरुष इन्द्रजालवत् समझता है, सिन्धु-लहरियों सा अनुभव करता है। वह अन्तर्बहिः समरस होने से इन एक देशव्यापी परसमयों से नितान्त असंस्पृष्ट रहता है। आत्मा के सम्यग्दर्शनज्ञानरूप शुद्ध उपयोग में स्थित रहनेवाला नयपराङ्मुख होकर साक्षात् समयसार हो जाता है। समयसार और सम्यग् दर्शन ज्ञान एकानुप्रविष्ट समानार्थी शब्द युगल हैं। जो समयसार है, वही सम्यग्दर्शनज्ञान है। यह समयसार केवलज्ञानादि अनन्त गुणों का पुंज है। यहाँ निश्चय का एकमात्र नित्यरम्य प्रदेश है; किन्तु नयपक्ष का लेश भी नहीं। विकल्पों के गहन वन को पार करने पर विज्ञानघनस्वभाव इस समयसार रूप आनन्दभूमि की प्राप्ति होती है—

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एदं तु जाण णयपक्खं।
णयपक्खातिक्कंतो भण्णदि जो सो समयसारो।।
सम्मद्दंसणणाणं एसो लहदि त्ति णवरि ववदेसं।
सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो।।

—(समयसार, 142, 144)

आत्मा की शोभा : स्व-परिणति :– प्रत्येक वस्तु स्वस्वरूप में अवस्थित शोभायमान होती है। अग्नि का दाहकत्व उसका स्वधर्म, स्वगुण होने से शोभनीय है। जल का शीतत्व-पावनत्व गुण उसकी श्लाघा है। इसी प्रकार आत्मा की शोभा उसकी स्वपरिणति अथवा मुक्तावस्था है। उत्तम-मध्यम-अधम पर्यायधारी होकर देव-मनुष्य-तिर्यक् योनियों का सहचारित्व आत्मा के स्वाभाविक गुणों का आवरण करता है, अल्प बनाता है। आचार्यों ने समय की व्याख्या करते हुए कहा है— **समयते इति समयः** अर्थात् एकीभाव से अपने गुणपर्यायों में जो अपना परिणमन करे, वह समय है। एतावता धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव द्रव्य स्वस्वधर्मस्थिति से सुन्दरता प्राप्त करते हैं। यह सत्य और सुन्दर होते हुए भी जीव अनादि काल से पुद्गल के साथ साहचर्य करने से असुन्दर होकर बन्धदशा को प्राप्त हो रहा है। यह इसका परसमय है, परपरिणति है, मोक्षक्षय है, संसारपरावर्तन है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वह स्व-सुख नहीं

एयत्तणिच्छयगदो समओ सव्वत्थ सुंदरो लोगे।
बंधकहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होदि।। –(समयसार, 3)

एकत्व निश्चय में प्राप्त समय सब लोक में सुन्दर है। इसलिए एकत्व में दूसरे के साथ बंध की कथा निन्दा करानेवाली है। आशय यह है कि सामान्यतया सभी पदार्थ समय शब्द से कहे जाते हैं; क्योंकि समय शब्द का अर्थ है— समयते इति समयः अर्थात् एकीभाव से अपने गुण-पर्यायों को प्राप्त हुआ जो परिणमन करे, वह समय है। इसलिए धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव द्रव्य स्वरूप लोक में जो कुछ पदार्थ हैं वे सभी यद्यपि अपने द्रव्य में अन्तर्मग्न हुए अपने अनन्त धर्मों का स्पर्श करते हैं, तथापि परस्पर में एक-दूसरे का स्पर्श नहीं करते। यद्यपि वे अत्यन्त निकट एकक्षेत्रावगाह रूप स्थित हैं तथापि सदाकाल निश्चय से अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते। अतएव विरुद्ध कार्य और अविरुद्ध कार्य (स्वभाव से विपरीत कार्य और स्वभावरूप कार्य) दोनों में सदा सब परस्पर उपकार करते हैं; परन्तु निश्चय से एकत्वनिश्चय प्राप्त होने से ही सुन्दरता प्राप्त करते हैं। यदि वे द्रव्य अन्य द्रव्यरूप परिणमनशील हो जाएँ तो संकर-व्यतिकर आदि सभी दोष उनमें आ जाएँ। इसप्रकार सब पदार्थों का भिन्न-भिन्न एकत्व सिद्ध होने पर जीव नामक समय को बंध की कथा से विसंवाद की आपति होती है; क्योंकि बन्ध कथा का मूल कारण पुद्गल कर्म के प्रदेशों में स्थित रूप पर-समयता से उत्पन्न जीव में पर-समय, स्व-समयरूप, द्विविधता आती है। अतः समय का एकत्व होना ही सिद्ध होता है। सारांश यह कि निश्चय से सब पदार्थ स्व-स्वभाव स्थित होने से शोभा पाते हैं परन्तु जीव नामक पदार्थ अनादि काल से पुद्गल कर्म के साथ बंध प्राप्त है, उससे इस जीव में विसंवाद खड़ा होता है, इसलिए शोभा नहीं पाता; अतः एकत्व होना इसके लिए शोभा-जनक है।

एक एकत्व-निश्चय-प्राप्त समय सब लोक में सुन्दर है। वस्तु यथा-जात-रूप ही उसका सौंदर्य होता है। परानुप्रविष्ट होने पर उसमें कृत्रिमता तथा परगुण का समावेश हो जाता है तो उसके मूल सौंदर्य को संकीर्ण तथा गौण बना देता है। अपने स्वाभाविक रूपाभिजात्य का विस्मरण कर उसे परकीय गुणसन्निवेश से उत्कृष्ट मानना स्वगुण-गौरव का तिरस्कार नहीं तो क्या है? एक भारतीय जब अपनी मातृ-भाषा का परित्याग कर 'मेकाले' की भाषा में गर्वानुभूति करता है; तब वह अपनी भाषा को हीन, अपने वेष को अभद्र मानकर उस परच्छन्द के साथ होने में कथंचित् अपने को सुखी मानता है। उसका वह सुख स्वसुख नहीं, पर सुखसंकर दोषमात्र है। पर समय को अंगीकार करने से इसी स्वसमय का तिरस्कार होता है। यह उपेक्षा जीव के लिए अधोगतिकारिणी होती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परम वैभव की यशःपताका :— इस संदर्भ में समय के तीन भेद किये जा सकते हैं— कुसमय, सुसमय और स्वसमय। इन्हें बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा भी कह सकते हैं। ये ही आत्मा के अशुभ परिणाम, शुभ परिणाम तथा शुद्ध परिणाम हैं। अशुभ परिणाम कुगतिदायी हैं तथा शुभ परिणाम सुगतिप्रद हैं; किन्तु मुक्ति शुद्ध परिणाम का ही परिणाम है। स्वतंत्रता की प्राप्ति, आत्मतंत्र पर स्वाधिकार अथवा सर्वबंधराहित्य स्वसमय का वरदान है। जीव जब तक अशुद्ध दशाओं में संचरण करता है तब तक विशुद्धि नहीं पा सकता—

काजल की कोठरी में कितो हू सयानो जाय,
काजल की एक रेख लागी है पै लागी है।

कज्जल के अंगण और कज्जल की भित्तियों में बदी हुआ व्यक्ति उसकी कालिमा से कहाँ बच पाता है। जो विकृतियों की उपासना करेगा, उसे विकृतियाँ मिलेंगी और जो सुकृतमार्गी होगा, उसको सुकृतों की उपलब्धि से कौन वंचित कर सकता है; क्योंकि **कर्माधीनमिदं जगत्** यह संसार कर्म की शलाका से लिखा हुआ चित्रपट है। यदि इस लोक में किसी का मुख वक्रविद्रूप है तो वह कर्म-दर्पण की छाया ही है। कु और सु पद कुत्सा और प्रशंसा के वाचक हैं तथा कुत्सा और प्रशंसा के भाव नितान्त जागतिक हैं। इनसे ऊपर उठकर ही लोकाकाश तथा धर्मास्तिकाय की चरम सीमाओं पर स्थिर आसन लगाया जा सकता है। वह स्थिरासन स्वसमय की परिणति है, आत्मा के परम वैभव की यशःपताका है, घोर संसारवारिधि-सन्तरण का पौरुषाभिलेख है। इसी परिणाम-त्रयी की व्याख्या में कहा गया है—

सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावत्ति भणिदमण्णेसु।
परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये।। –(प्रवचनसार 2/89)

अन्तिम गन्तव्य :— परमागम में पुण्य को शुभ परिणामी एवं पाप को अशुभकारी बताया गया है; किन्तु सर्वदुःखक्षयकारी परिणाम तो आत्मा का अनन्य परिणाम ही है। जब तक जीव बहिरात्मा रहता है, उसे शान्ति नहीं मिलती। जैसे चलती हुई दीवार-घड़ी का पेण्डुलम भी चलता रहता है, वैसे ही बहिरात्मा का मन भी चलायमान रहता है। चंचलता की यह स्थिति तब तक बनी रहती है, जब तक बाहरी भटकावों की परिसमाप्ति नहीं होती और बाहरी दुष्पर्यटन का अवसान तब तक नहीं होता जब तक यह जीव स्वस्थित नहीं हो जाता। शुभ और अशुभ परिणाममय औदयिक भावों की सत्ता के रहने तक जीव सातावेदनीय तथा असातावेदनीय कर्मों के बन्धयुगल से मुक्त नहीं हो सकता। उपशम, क्षयोपशम तथा क्षायिक भावों से ही बंध की निर्जरा सम्भाव्य है। कर्मों की निर्जरा होने पर मोक्षगामी को रागद्वेष-रहित परम पारिणामिक भाव की सम्प्राप्ति होती है जो शुभाशुभ एवं बंधमोक्षपरिणतियों से असंस्पृष्ट है। जीवात्मा का अन्तिम गन्तव्य मोक्ष है, जिसे स्वसमय कहा गया है एवं उसकी अन्तिम भावानुभूति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परम-पारिणामिक भाव हैं, जो उसके अपने परिणाम हैं। यह उपलब्धि दृष्टि-भेद से सम्भव होती है। जो आत्मा तथा पुद्गल के भिन्नत्व को उनके पृथक्-पृथक् धर्मानुबंध से जानता है कि आत्मा नित्य है, जड़ से भिन्न है तथा परद्रव्य अनित्य है, उसकी दृष्टि को सम्यक् (समीचीन) कहा गया है। यह सम्यक्त्व यथार्थग्राही और यथास्थित का ज्ञाता है। जब तक रज्जु में सर्प की भ्रान्ति है, इन्दु-ज्योत्स्ना में परिलक्षित शुक्ति में रजत-प्रत्यय है, तब तक वह दृष्टि, वह ज्ञान निर्भ्रान्त नहीं। शरीर में आत्मा का एकीभाव भी ऐसा ही भ्रान्ति-मूढ़ता है जिसमें सम्यक्त्व नहीं।

णाणा धम्मेहिं जुदं अप्पाणं तह परं पि णिच्छयदो।
जं जाणेदि सजोगं तं णाणं भण्णदे समये।।

—(कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 253)

परदव्वं देहादि कुणइ ममत्तं च जाव तस्सुवरिं।
परसमयरदो तावं बज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं।। —(तत्त्वसार 34)

पिंजरा मोह का, तोता परिग्रह का :— इस परसमय को लाक्षणिक भाषा में मूर्च्छा कहा गया है। मूर्च्छा विसंज्ञा का नामान्तर है। जिसे संज्ञा नहीं, चेतना नहीं, वह विसंज्ञ है, मूर्च्छित है। यह मूर्च्छा मोहावस्था है। सराग परिणति है। जो जितना परिग्रहानन्दी है, वह उतना ही मूर्च्छित है। प्राचीन काल में वृद्ध नानियाँ बच्चों को किसी एक डायन की कथा सुनाया करती थीं कि उस डायन के प्राण सात समुद्र पार एक महल में पिंजरे में बन्द तोते में है। यदि उस शुक को कोई मार दे तो वह डायन तत्क्षण मर जाएगी। मूर्च्छा भी जीव के साथ लगी हुई एक डायन है जिसके प्राण परिग्रह-शुक की सुरक्षा से की जा रही है। संसारियों के प्राण प्रायः अपने देह में नहीं होते; वे इन्हीं भूमि, हिरण्य परिवार आदि परिग्रहों में होते हैं। ऐसे बहिरात्मा इस देह को ही सर्वस्व मानकर उसकी रक्षा के अचिन्त्य उपाय करते रहते हैं। यह जीव तो मुक्तावस्था से पूर्व तक वैसे ही बँधा हुआ है; किन्तु अज्ञान-विमूढ़ उसको परिग्रहादि में और अधिक बाँधकर रखना चाहता है। वह देह की रक्षा के उतने उद्दाम उपाय करता है, जितने कोई काच-पात्र की रक्षा में करता है; परन्तु गिरते ही चकनाचूर हो जाने वाला काच क्या सर्वकाल में सुरक्षित रह सकता है?

दृढ़ात्मबुद्धिर्देहादावुत्पश्यन्नाशमात्मनः ।
मित्रादिभिर्वियोगं च बिभेति मरणाद्भृशम्।। —(समाधितन्त्र, 76)

परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादिसु जस्स पुणो।
सो ण विजाणदि समयं सगस्स सव्वागमधरो वि।। —(भावना, 20)

समय का ज्ञाता तो वह है जिसने नाहं देहः कुतो मृत्युः रहस्य को जान लिया है। वह कहता है— मैं मोहरहित हूँ। मेरे उपयोग में आ सके, ऐसा कोई द्रव्य इन आत्मभिन्न पदार्थों में नहीं है। ये सब परभाव है—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

णत्थि मम को वि मोहो बुज्झदि उवओग एव अहमेक्को।
तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति।।–(समयसार 36)

रागी को त्याग नहीं रुचता :— समयोपयोग का उपशिक्षण करने वाले ये बोधिसूक्त आगम-शास्त्रों की रंगावली हैं, शिवपथ के सर्वतोभद्र स्वस्तिक हैं, मुक्तिलक्ष्मी के संचार-कमल हैं; किन्तु क्या इतने पर भी सम्पूर्ण संसार रागपरिग्रह का परित्याग कर सका? क्या इस अनुभव-मथित पीयूष का पान करने में समर्थ हो सका? क्या आज इन मुक्तिसूक्तों की रचना के पश्चात् बहिरात्माओं का अभाव हो सका? नहीं, क्योंकि गोक्षीर सुलभ होने पर भी लोग मद्यपान करते हैं, अन्न-फल मिलने पर भी अभक्ष्य-भक्षण करते हैं, पुण्य करने की क्षमता रखते हुए पापमग्न रहते हैं। समस्त हेय-उपादेय का परिज्ञान रखते हुए उपादेय का तिरस्कार तथा हेय का सत्कार करते हैं; क्योंकि उपदेश सभी को अमृत प्रतीत नहीं होता। रागी को त्याग नहीं रुचता और भोगी को योग विद्या से प्रीति नहीं होती। अपने औदयिक कर्मों के पाश से उन्हें छुटकारा नहीं मिलता। यदि शास्त्र और तीर्थंकर सभी को समान रूप से प्रबोध दे पाते तो आज कुसमयों एवं मिथ्यादृष्टियों का अस्तित्व नहीं रह जाता। अतः आत्मकल्याणाभिलाषी को अपने गन्तव्य की दूरी न्यून करने का प्रयत्न करना उचित है न कि लोकसुधार के स्तूप खड़े कर अपनी दिशा को भूल जाना।[5]

आत्मा ज्ञेय, ज्ञाप्य नहीं

णाणा जीवा, णाणा कम्मं, णाणाविहा हवे लद्धी।
तह्मा वयणविवादं सगपरसमएहिं वज्जिज्जो।। –(नियमसार, 156)

स्वपर समयविज्ञ होकर आत्मानुचिन्तन करना श्रेयस्कर है; परन्तु स्वज्ञान की उस विशिष्ट सम्प्राप्ति को प्रवचन-कोलाहल का रूप दे देना अनावश्यक है। स्व-परसमय का ज्ञान और स्वपर समय पर वाद-कोलाहल नितान्त भिन्न वस्तु है। एक आत्मकल्याणपरक है तथा अन्य अपरसमयों को बलात् वशीकरण का वृथा प्रयास है। समाधिशतक में यह स्पष्ट कह दिया गया है कि आत्मा ज्ञेय है, स्ववेद्य है, ज्ञाप्य नहीं। अतएव इसे दूसरों को ग्रहण करा सकना अशक्य है—

यद्‍बोधयितुमिच्छामि तन्नाहं यदहं पुनः।
ग्राह्यं तदपि नान्यस्य तत्किमन्यस्य बोधये।। –(समाधितन्त्र, 59)

आवश्यकता स्व-सत्य की :— आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार कलश में जो 'स्वयमपि निभृतः सन्' कहा है[6] उसके मूल में भी यही हार्द है कि भगवान् आदिनाथ और अन्य केवलियों ने आत्मोपलब्धि की—यह इतिहास तो प्राणी ने जान लिया; परन्तु उसके मोक्षविषयक प्रकरण की चर्चामात्र तो अलं नहीं। इससे तो श्रुतसत्य की तथा परसत्य की जानकारी हुई है, आवश्यकता तो स्वसत्य की है। भर्तृहरि ने जिस स्वानुभूत्यैकमान शान्त तेज को नमन किया है (स्वानुभूत्यैकमानाय नमः शान्ताय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तेजसे)— वह तो आत्मना अनुभाव्य है। उस पर विवाद न करना ही परसमयों से बचना है। वही उपलब्धि का मार्ग है। कुसमयों का विशासन करानेवाले जिनेन्द्र भगवान् के शासन से उस अनुपम सुख उपयोग के स्थान को पहचानना चाहिए—

सिद्धं सिद्धट्ठाणं ठाणमणोवमसुहं उवगयाणं।
कुसमयविसासणं सासणं जिणाणं भवजिणाणं।। –(सन्मतितर्क, 1)

परसमय : अविद्या में निमग्नता :— समस्त नयवाद परसमय हैं, व्याख्यानकोलाहल और स्वपर विवाद भी परसमय हैं। स्वचित्स्वभाव की भावना से अन्यत्र परिणमन परसमय है। द्रव्यात्मक एवं गुणात्मक पर्यायी पदार्थों में आत्मबुद्धि रखना परसमय है। द्रव्य और लिंग में ममकार परसमय है। मिथ्यादृष्टि परसमय है। बहिरात्मा और अन्तरात्मा परसमय है। पुद्गल-कर्मप्रदेश स्थित होना परसमय है। अविद्या में निमग्न रहना परसमय है। इन सम्पूर्ण परसमयों से पृथक् शुद्धनिश्चयनय के अंगीकर्ता ही उस समयसार के सारवित् है—

अध्यास्य शुद्धनयमुद्धतबोधचिह्नं,
ऐकाग्र्यमेव कलयन्ति सदैव ये ते।
रागादिमुक्तमनसः सततं भवन्तः,
पश्यन्ति बन्धविधुरं समयस्य सारम्।। –(स. कलश, 120)

जीवो चरित्तदंसणणाणठिदो तं हि ससमयं जाणे।
पोंग्गलकम्मपदेसट्ठिदं च तं जाण परसमयं।। –(समयसार, 2)

सुख की खोज :– समयवेदी को ही कालज्ञ कहते हैं। जो **अंगाःकथं वंगाःकथं** ऐसी परचर्चा में ही समय का अवसान कर देता है वह असमयज्ञ है, अबुध है। कालज्ञ जहाँ कर्मक्षय कर सर्वकालज्ञ (सर्वज्ञ) हो जाता है, वहाँ अकालज्ञ कालकवलित होकर अपने को प्राप्त हुए सुयोग से भी वंचित रह जाता है। समयज्ञ स्व-समय में स्थित होने के लिए व्रत ग्रहण करता है, महाव्रती होता है और अपनी निःसंग-निरवद्यचर्या में कर्म-कश्मलविमुक्त हो श्रेयःसनाथ हो जाता है—

चित्ते कुर्वन्निरवधिसुखज्ञानदृग्वीर्यरूपं,
देव ! त्वां यः समयनियमादादरेण स्तवीति।
श्रेयोमार्गः स खलु सुकृती तावता पूरयित्वा,
कल्याणानां भवति विषयः पंचधा पंचितानाम्।। –(एकीभाव, 25)

अहो ! स्वस्वभाव में स्थित आत्मा ही ज्ञेयप्रमाण ज्ञान को एक समय में जानता है। दर्शन और ज्ञान एक समय में आत्मा के ये ही दो उपयोग हैं। इस स्वस्वभाव में स्थित आत्मा को ही परमात्मभाव की प्राप्ति होती है और उस परम पारिणामिक भाव में इतना अनन्त सुख है जिसे देव-मनुष्य त्रिकाल में भी नहीं पा सकते किन्तु जो परमात्मा को एक समय में प्राप्त है—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनन्तगुणितं तस्मादत्यक्षं स्वस्वभावजम्।
एकस्मिन् समये भुंक्ते तत् सुखं परमेश्वरः।।–(ज्ञानार्णव, 62/68)

स्वसमय में स्थित होना अपार सुखप्रद है। सम्पूर्ण विश्व सुख की खोज में लगा है; परन्तु सुख क्या वैभव-विलास में है? अथवा क्या वह विषयोपभोग में है? क्या वह स्वादु मिष्टान्न में है? क्या वह मित्र-कुटुम्बादि में है? यदि यहाँ सुख होता तो आदिनाथ प्रव्रज्या क्यों लेतें? नेमिनाथ ऊर्जयन्तगिरि पर क्यों तपते? महावीर गृहस्थ क्यों न हो जाते? कोटि-कोटि भव्यात्मा मुनीश्वरत्व क्यों स्वीकारते? उन्होंने अनुभव किया **त्यागात् शान्तिः** —त्याग से शान्ति मिलेगी। **वैराग्यमेवाभयम्** अभय होना है तो वैराग्य लो—चलो, दूर हो जाओ इन परसमयों से। कितने जन्मों तक उठाये फिरोगे इस परिग्रह-भार को? शुद्ध आत्मा पर यह पुद्गल का पाश क्या शोभनीय है? शान्ति की इच्छा है तो बन्धनों को झटक दो और अपने-आपमें स्थित हो जाओ।

कर्म झर जाते हैं

छिन्दन् शेषानशेषान्निगलबलकलींस्तैरनन्तस्वभावैः
सूक्ष्मत्वाग्र्यावगाहागुरुलघुकगुणैः क्षायिकैः शोभमानः।
अन्यैश्चान्यव्यपोहप्रवणविषयसंप्राप्तिलब्धिप्रभावै-
रूर्ध्वव्रज्यास्वभावात् समयमुपगतो धाम्नि संतिष्ठतेऽग्र्ये।।

–(सिद्धभक्तिः 5)

कर्ममलविमुक्त आत्मा कभी अधःपतित नहीं होता। वह स्वभावतः ऊर्ध्वगामी है। अनन्त चतुष्टय से सम्पन्न है वह। जब क्षायिक गुणों से उसके कर्म झर जाते हैं, तब वह अविभाज्य पुद्गल परमाणु के मंदगति से एक प्रदेश संक्रमण काल परिणामरूप एक समय में ऊर्ध्वगमन कर लोकाकाश के अग्रभाग में स्थित होता है। धर्मास्तिकाय का अभाव होने से उससे ऊपर सिद्धात्माओं का गमन नहीं होता—

अवरोधविनिर्मुक्तं लोकाग्रं समये प्रभुः।
धर्माभावे ततोऽप्यूर्ध्वगमनं नानुमीयते।। –(ज्ञानार्णव, 42/60)

अनादिकाल से आत्मा पर परपदार्थों का भार है। यह भार गुरुतर होता जाता है। जितना गुरुतर यह होता जाता है उतना नीचे दबता जाता है। चतुर्गति परिभ्रमण इसी भार के गुरु-लघु होने का परिणाम है। यद्यपि मूलतः आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगतिशील है जैसा कि **ऊर्ध्वं व्रज्यास्वभावात्** इस सिद्धभक्ति-पद में वर्णन किया गया है तथापि कर्मजुष्ट होने से पुद्गल भारायमाण यह जीवात्मा उस आत्मधर्म को सर्वथा प्राप्त नहीं कर पाता। देखा जाए तो पुद्गलावच्छिन्न होने से इसे नाना भवक्लेश भुगतने पड़ते हैं। बहुत पीटा गया है यह। जैसे डाक में छोड़े गये पत्र पर मुद्रा लगानेवाला कर्मचारी ठोककर डाकघर की मुहर लगाता है और उसे संकेतित गली-घर-गाँव पहुँचाता है, वैसे परभाव के समाचारों को वहन करनेवाले आत्मा को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर्म ठोक-पीटकर यहाँ-वहाँ पहुँचा रहे हैं। कर्म वाचक होकर इस पर लिखे हुए परपरिणामों को पढ़ते रहते हैं। जब तक यह पत्र अपने ऊपर अंकित इस पराश्रयी कृष्णमषी के अभिलेखों से मुक्त नहीं हो जाता, इसी प्रकार किसी नर, सुर, तिर्यक् नाम-पते पर पहुँचता रहेगा और अनेक डाकघरों की अनेक मुहरें इसके मुख पर लगती रहेंगी। संसार परिभ्रमण की इस कथा को योगसार में बहिरात्मा का धर्म कहा है—

मिच्छादंसणमोहियउ परु अप्पा ण मुणेइ।
सो बहिरप्पा जिण भणिउ पुण संसार भमेइ।। –(4/7)

आत्मा कैसा है :— जब मनुष्य ज्ञानावरण से मोहमूढ़ होता है तब असत् में सत्-प्रतीति करने लगता है। **श्रावणान्धो हरितं पश्यति**—एक व्यक्ति श्रावण में अन्धा हो गया। उस समय पृथ्वी हरी-भरी थी। कालान्तर में जब हरितसस्य सूख गये, तब भी **पृथ्वी कैसी है**—पूछा जाने पर वह उसे हरित ही बताता था। मिथ्या ज्ञान से दिङ्मूढ़ों की भी यही स्थिति है। उसे पूछा जाए कि आत्मा कैसा है तो वह उसे शरीर-निरूपण द्वारा बताएगा। उपनिषदों में इसी बहिरात्मा का प्रतीकाख्यान विरोचन असुर के माध्यम से आया है। इन्द्र और विरोचन प्रजापति की सेवा में ज्ञानार्थ उपस्थित हुए। प्रजापति ने उपदेश किया कि जल में देखने पर तुम्हें आत्मा दिखाई देगा। दोनों लौट आये। मार्ग में इन्द्र ने अपना बिम्ब किसी जलाशय में देखा और यह तो नाशवान् है, विकारी है— कदाचित् आँख, नाक, कान से विहीन, विद्रूप हो सकता है अतः यह बिम्ब (यह देह) आत्मा नहीं हो सकता—यह सोचकर देवराज पुनः आत्मज्ञानार्थ प्रजापति के पास लौट गये; परन्तु विरोचन असुर ने जब जल में अपना प्रतिबिम्ब देखा तो **यह शरीर ही आत्मा है**—ऐसा प्रजापति ने कहा है, मान लिया। वह प्रसन्न भाव से अपने सजातीय असुरों में पहुँचा और शरीर ही आत्मा है, यह प्रजापति का उपदेश उन्हें बता दिया। इस प्रकार जिज्ञासावृत्ति के अभाव में असुरों ने शरीर को आत्मा मान लिया। वे आज भी मरणोपरान्त शरीर रक्षण करते हैं और जीवित अवस्था में **खाओ, पियो, मौज करो**— इन तीन भौतिक सूत्रों का अनुवर्तन करते हैं। उन भौतिकवादियों की आसुरी प्रकृति का प्रकोप युद्ध, हिंसा, वैर, कलह, उन्माद, विभीषिका इत्यादि लोकपीड़क विविध रूपों में रात्रिन्दिव व्यक्त हो रहा है, होता रहा है। तन्दुलमत्स्य उसी आसुरी प्रकृति का प्रतीक है। सम्पूर्ण संसार को निगलने का पापचिन्तन दारुण आसुरीभावों की देन है क्योंकि ऐसे लोग भूतवादी होने से भौतिकद्रव्यों पर स्वत्वकामना रखते हैं। इष्टोपदेश में इसी आशय को सुव्यक्त करते हुए कहा गया है कि यदि कर्म प्रबल हैं, तो वे अपने हित का (अधिकाधिक कर्मसंचय का) प्रयत्न करेंगे और यदि जीव बलवत्तर है, तो वह स्वहित की स्पृहा करेगा क्योंकि सभी अपने स्वार्थ का पोषण करते देखे जाते हैं—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर्म कर्महिताबन्धि जीवो जीवहितस्पृहः।
स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे स्वार्थं को वा न वांछति।। —(इष्टोपदेश, 21)

न देहात्मक दृष्टियों को यह जगत् ही एक मात्र रमणीय और विश्वास-स्थान प्रतीत होता है और इसी के लिए वे रात्रिन्दिव युद्ध और अधिकार की घोषणा करते हैं। **जगत्देहात्मदृष्टीनां विश्वासो रम्यमेव वा।** —स. शतक 49

आत्मभाव परम लाभ :— मृत्यु के तत्काल पश्चात् जहाँ शरीर विकृत, गलित, दुर्गन्धित होना आरम्भ कर देता है जिसे जल-प्रवाहित करने, काकादि के भक्षणार्थ अनावृत प्रदेश में छोड़ देने अथवा अग्निसमर्पित करने से अन्यत्र कोई उपाय नहीं है, उसे भी ये देहवादी अनन्त काल पर्यन्त सुरक्षित रखने के लिए यत्नशील देखे जाते हैं; मानो, इसी पृथ्वी पर उनका मरणोत्तर अस्तित्व बनाये रखना चाहते हों। यह अज्ञानोपासना है। भारतीय मनीषियों का चिन्तन इससे भिन्न ही नहीं, विशिष्ट भी है। वे देहत्याग से पूर्व ही यह भावना रखते हैं कि यह शरीर मिट्टी है, इसके द्वारा कृत-सुकृत ही प्रयोजनीय है, **अथ भस्मान्तं शरीरम्। कृतं स्मर**—जगद्व्यापार को वे इन्द्रजाल समझते हैं। आत्मलाभ को परम लाभ मानते हैं तथा अन्यत्र परिणति होने पर अनुताप का अनुभव करते हैं। उपनिषदों में वर्णित नचिकेता एक बालक है और आत्मज्ञान के लिए यम से जिज्ञासा करता है। यम द्वारा लौकिक प्रलोभन के वरदान लेने का आग्रह करने पर वह कहता है :—

मुझे वही चाहिए

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तके तत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते।।

—(कठोपनिषद् 26)

हे यमराज ! ये वैभव भोग अनित्य हैं। आज हैं, कल नहीं। ये सम्पूर्ण इन्द्रियों का तेजोहरण कर लेते हैं और मनुष्य को जीर्ण कर देते हैं। यह जीवन भी अल्प है, अतः सांसारिक प्रलोभन ये रथ-गज-वाजि और ये नृत्य-गीत आप अपने पास रखें। आगे नचिकेता ने कहा— **वरस्तु मे वरणीयः स एव** —मुझे तो वही (आत्मप्राप्ति विषयक) वरदान चाहिए। यह असाधारण कथा है। भारतीय बालक भी तत्त्व-जिज्ञासा रखता है; उसके लिए मृत्यु के द्वार पर निर्भय होकर चला जाता है और भौतिक प्रलोभन दिये जाने पर अनुतप्त होकर कहता है— इन भोगविभ्रमों को अपने पास रखो।

लहसुन का खेत, कपूर की बाड़

निशामयति निःशेषमिन्द्रजालोपमं जगत्।
स्पृहयत्यात्मलाभाय गत्वान्यत्रानुतप्यते।। —(इष्टोपदेशः 29)

परन्तु जिनके दुष्कर्मों का अन्त नहीं, उन्हें बारंबार यह संसार ही सार प्रतीत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होता है। वे आत्मा की उपेक्षा और शरीर-सुखों की अपेक्षा रखते हैं। मानो, अमूल्य मणि का विस्मरण कर काच पर रति करते हैं, लहसुन के खेत को कपूर की बाड़ (वृत्ति) लगाते हैं। बदरी फल के लिए आम्रवन का उच्छेद करते हैं।

अन्यथा दर्शन

तादात्म्यं तनुभिः सदानुभवनं पाकस्य दुष्कर्मणो,
व्यापारः समयं प्रति प्रकृतिभिर्गाढं स्वयं बन्धनम्।
निद्रा विश्रमणं मृतेः प्रतिभयं शश्वन्मृतिश्च ध्रुवं,
जन्मिन् ! जन्मनि ते तथापि रमसे तत्रैव चित्रं महत्।।

–(आत्मानुशासन 58)

आचार्य ने कितना साधु प्रबोध दिया! इन शरीरों के साथ किस अनन्यता से लोग संश्लिष्ट हो रहे हैं। यह शरीर बार-बार छोड़ रहा है और कर्मबद्ध जीव रो-रोकर उसके वियोग में आतुर हो रहा है, उसे पुनः-पुनः आमंत्रण दे रहा है। रोग, जरा और आयुःक्षय पीड़ित कर रहे हैं तथापि माधुर्यमिश्रित इन विष-गुटिकाओं का आस्वादन करने के लिए जीव लालायित हो रहा है। अहो ! इस मोह का, अज्ञान का अन्त नहीं। उन्हें आस्रवों का आना रुचिकर लगता है। कषायों की तीव्रता से प्रसन्नता होती है। संवर के पाठ और निर्जरा के अध्याय मिथ्या भासित होते हैं। आगमस्वाध्याय, देवदर्शन, साधुसंगति अप्रयोजनीय लगती हैं; क्योंकि सर्पदष्ट को निम्ब का कटुकत्व भी मधुर लगता है और पाण्डुरोगी को श्वेत पुष्प भी पीत प्रतीत होता है। जिन्हें सम्यक्दृष्टि नहीं है, वे वस्तु के स्वरूप का अन्यथा दर्शन करते हैं। वे परसमय को स्वसमय और स्वसमय को परसमय समझते हैं। स्वयं शीर्षासन किये हुए हैं और दूसरों को उल्टा टँका हुआ बताते हैं। **धिग् व्यापकं तमः।**

स्व-समय : आँख की आँख :— जीव का सार समय है और समय का सार स्वसमय। वाणी का उपयोग समय का व्याख्यान है, श्रोत्र की सफलता समय-विषयक श्रुति है, नेत्रों का दृष्टिमत्व समय का सम्यग्दर्शन है। वह प्राणों का प्राण है, हृदय का हृदय है, चक्षु का चक्षु है। नरकान्धकूप-पतन से निवारण करनेवाला है, स्वर्ग के लिए मणि-सोपान है और निर्वाण-वीथि का दीपक है। सामायिक उसी का ध्यान है, उसी की अन्तःस्थिति से, अनुचिन्तन और चर्वण से सामायिक सामायिक है। प्रमाद, मूर्च्छा, विभावपरिणति, कर्मस्नेह इत्यादि महारोगों की वजह महौषध है। अनादि कर्मों की महाश्रृंखला को तोड़ने में महागज, दिग्भ्रम से संसार-कान्तार में भटकनेवालों को रत्नदीप और मूर्च्छितों का संजीवन यह स्वसमय है। जो समय का चिन्तन करने के लिए सामायिक-मग्न रहता है तथा प्रतिक्षण सामायिक करते हुए समयनिष्ठ रहता है; वह स्वसमय को प्राप्त करता है। समय में स्थिति करना ही तो सामायिक है। यह स्वसमय विषापहार स्तोत्र है, कल्याण मन्दिर है, यही महावीराष्टक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है, स्वयम्भूस्तोत्र है। स्तुति स्तवनीय तथा स्तोता समय ही है। समय ही समय की सहायता से समय में स्थित हो रहा है। ऐसा यह समय स्वद्रव्य आत्मा ही है।

स्वात्म योग-मोक्ष :— वाद, शास्त्रार्थ, तर्क, युक्ति तथा स्थापनाक्षरों में समय नहीं है वह तो लब्धि-अक्षरों में है। जैसे नदी के उस पार पहुँचने के लिए नौका का आश्रय लिया जाता है, वहाँ पहुँचकर नौका को कोई नहीं पूछता, कोई उसे मस्तक पर उठाकर नहीं घूमता; वैसे शास्त्रों के स्थापनात्मक अक्षर हैं। इनमें भेदविज्ञान का परिज्ञान प्रयोजनीय है। वे अक्षर, अध्याय, श्लोक-संख्या लब्धिवेदी से नीचे ही रह जाते हैं। जैसे **दण्डी पुरुषः** में दण्ड पुरुष का स्वलक्षण नहीं है, वैसे समयसार के लिए ग्रन्थसमयसार स्वलक्षण नहीं है। उसका स्वलक्षण तो उपयोग है, चित् स्वभाव है। वहाँ अन्ययोग बन्धन है, स्वात्मयोग मोक्ष है—

चित्स्वभावभरभावितभावाभावभावपरमार्थतयैकम्।
बन्धपद्धतिमपास्य समस्तांश्चेतये समयसारमपारम्।। —(कलश, 92)

पर तो पर ही है :— यदि नरकादि बन्ध अभीप्सित है, तो बहिरात्मा रहो। यदि स्वर्ग-सुखों में रति है तो अन्तरात्मा बनो; किन्तु यदि अनन्त सुख की अभिलाषा है, तो परमात्मतत्त्व में लक्ष्य रखो। सम्पूर्ण प्राप्तव्यों का परम प्राप्य बोधिलाभ है, लब्धि-सुख है। पर तो पर ही है। उस परत्व की अनुभूति शत वर्ष पश्चात् तो सभी को प्रायः होती देखी जाती है, इससे पूर्व हो जाए तो उससे लाभ उठाया जा सकता है। यह मनुष्य-भव इस सिद्धि मे सहायक है। ध्यान, धारणा, समाधि द्वारा मानव ही उस स्वात्मपरिणाम को प्राप्त कर सकता है। यदि इस भव में भी स्खलित हो गये, चूक गये, तो फिर गये पतन के पारावार में जहाँ से ढूँढ़ निकालना अति दुष्कर है।

उसका जन्म व्यर्थ हुआ

परः परस्ततो दुःखमात्मैवात्मा ततः सुखम्।
अत एव महात्मानस्तन्निमित्तं कृतोद्यमाः।।
इतश्चिन्तामणिर्दिव्य इतः पिण्याकखण्डकम्।
ध्यानेन चेदुभौ लभ्ये क्वाद्रियन्तां विवेकिनः।।

—(इष्टोपदेशः 45, 20)

यदि काच और चिन्तामणि श्रम के पुरस्कार हैं तो कौन ऐसा विवेक-विधुर होगा जो श्रम भी करे और काच लेना चाहे। चिन्तामणि की तुलना में काच की गणना ही क्या? मनुष्य-भव प्राप्त कर यदि विषयादि काच-खण्डों को ही संग्रहीत करते रहे तथा आत्म-चिन्तामणि की प्राप्तिचिन्ता नहीं की, समय को नहीं पाया तो **निरर्थकं जन्म गतं नलिन्या यया न दृष्टं किल भानुबिम्बम्** उस कमलिनी का जन्म व्यर्थ ही गया जिसने कभी सूर्य को नहीं देखा। और सर्वज्ञ भगवान् के समय को जिसने नहीं सुना, उस मनुष्य का जन्म भी व्यर्थ गया।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होता है। वे आत्मा की उपेक्षा और शरीर-सुखों की अपेक्षा रखते हैं। मानो, अमूल्य मणि का विस्मरण कर काच पर रति करते हैं, लहसुन के खेत को कपूर की बाड़ (वृत्ति) लगाते हैं। बदरी फल के लिए आम्रवन का उच्छेद करते हैं।

अन्यथा दर्शन

तादात्म्यं तनुभिः सदानुभवनं पाकस्य दुष्कर्मणो,
व्यापारः समयं प्रति प्रकृतिभिर्गाढं स्वयं बन्धनम्।
निद्रा विश्रमणं मृतेः प्रतिभयं शश्वन्मृतिश्च ध्रुवं,
जन्मिन् ! जन्मनि ते तथापि रमसे तत्रैव चित्रं महत्।।

—(आत्मानुशासन 58)

आचार्य ने कितना साधु प्रबोध दिया! इन शरीरों के साथ किस अनन्यता से लोग संश्लिष्ट हो रहे हैं। यह शरीर बार-बार छोड़ रहा है और कर्मबद्ध जीव रो-रोकर उसके वियोग में आतुर हो रहा है, उसे पुनः-पुनः आमंत्रण दे रहा है। रोग, जरा और आयुःक्षय पीड़ित कर रहे हैं तथापि माधुर्यमिश्रित इन विष-गुटिकाओं का आस्वादन करने के लिए जीव लालायित हो रहा है। अहो ! इस मोह का, अज्ञान का अन्त नहीं। उन्हें आस्रवों का आना रुचिकर लगता है। कषायों की तीव्रता से प्रसन्नता होती है। संवर के पाठ और निर्जरा के अध्याय मिथ्या भासित होते हैं। आगमस्वाध्याय, देवदर्शन, साधुसंगति अप्रयोजनीय लगती हैं; क्योंकि सर्पदष्ट को निम्ब का कटुकत्त्व भी मधुर लगता है और पाण्डुरोगी को श्वेत पुष्प भी पीत प्रतीत होता है। जिन्हें सम्यक्दृष्टि नहीं है, वे वस्तु के स्वरूप का अन्यथा दर्शन करते हैं। वे परसमय को स्वसमय और स्वसमय को परसमय समझते हैं। स्वयं शीर्षासन किये हुए हैं और दूसरों को उल्टा टँका हुआ बताते हैं। **धिग् व्यापकं तमः।**

स्व-समय : आँख की आँख :— जीव का सार समय है और समय का सार स्वसमय। वाणी का उपयोग समय का व्याख्यान है, श्रोत्र की सफलता समय-विषयक श्रुति है, नेत्रों का दृष्टिमत्व समय का सम्यग्दर्शन है। वह प्राणों का प्राण है, हृदय का हृदय है, चक्षु का चक्षु है। नरकान्धकूप-पतन से निवारण करनेवाला है, स्वर्ग के लिए मणि-सोपान है और निर्वाण-वीथि का दीपक है। सामायिक उसी का ध्यान है, उसी की अन्तःस्थिति से, अनुचिन्तन और चर्वण से सामायिक सामायिक है। प्रमाद, मूर्च्छा, विभावपरिणति, कर्मस्नेह इत्यादि महारोगों की वजह महौषध है। अनादि कर्मों की महाशृंखला को तोड़ने में महागज, दिग्भ्रम से संसार-कान्तार में भटकनेवालों को रत्नदीप और मूर्च्छितों का संजीवन यह स्वसमय है। जो समय का चिन्तन करने के लिए सामायिक-मग्न रहता है तथा प्रतिक्षण सामायिक करते हुए समयनिष्ठ रहता है; वह स्वसमय को प्राप्त करता है। समय में स्थिति करना ही तो सामायिक है। यह स्वसमय विषापहार स्तोत्र है, कल्याण मन्दिर है, यही महावीराष्टक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है, स्वयम्भूस्तोत्र है। स्तुति स्तवनीय तथा स्तोता समय ही है। समय ही समय की सहायता से समय में स्थित हो रहा है। ऐसा यह समय स्वद्रव्य आत्मा ही है।

स्वात्म योग-मोक्ष :— वाद, शास्त्रार्थ, तर्क, युक्ति तथा स्थापनाक्षरों में समय नहीं है वह तो लब्धि-अक्षरों में है। जैसे नदी के उस पार पहुँचने के लिए नौका का आश्रय लिया जाता है, वहाँ पहुँचकर नौका को कोई नहीं पूछता, कोई उसे मस्तक पर उठाकर नहीं घूमता; वैसे शास्त्रों के स्थापनात्मक अक्षर हैं। इनमें भेदविज्ञान का परिज्ञान प्रयोजनीय है। वे अक्षर, अध्याय, श्लोक-संख्या लब्धिवेदी से नीचे ही रह जाते हैं। जैसे **दण्डी पुरुषः** में दण्ड पुरुष का स्वलक्षण नहीं है, वैसे समयसार के लिए ग्रन्थसमयसार स्वलक्षण नहीं है। उसका स्वलक्षण तो उपयोग है, चित् स्वभाव है। वहाँ अन्ययोग बन्धन है, स्वात्मयोग मोक्ष है—

चित्स्वभावभरभावितभावाभावभावपरमार्थतयैकम्।
बन्धपद्धतिमपास्य समस्तांश्चेतये समयसारमपारम्।। –(कलश, 92)

पर तो पर ही है :— यदि नरकादि बन्ध अभीप्सित है, तो बहिरात्मा रहो। यदि स्वर्ग-सुखों में रति है तो अन्तरात्मा बनो; किन्तु यदि अनन्त सुख की अभिलाषा है, तो परमात्मतत्त्व में लक्ष्य रखो। सम्पूर्ण प्राप्तव्यों का परम प्राप्य बोधिलाभ है, लब्धि-सुख है। पर तो पर ही है। उस परत्व की अनुभूति शत वर्ष पश्चात् तो सभी को प्रायः होती देखी जाती है, इससे पूर्व हो जाए तो उससे लाभ उठाया जा सकता है। यह मनुष्य-भव इस सिद्धि में सहायक है। ध्यान, धारणा, समाधि द्वारा मानव ही उस स्वात्मपरिणाम को प्राप्त कर सकता है। यदि इस भव में भी स्खलित हो गये, चूक गये, तो फिर गये पतन के पारावार में जहाँ से ढूँढ़ निकालना अति दुष्कर है।

उसका जन्म व्यर्थ हुआ

परः परस्ततो दुःखमात्मैवात्मा ततः सुखम्।
अत एव महात्मानस्तन्निमित्तं कृतोद्यमाः।।
इतश्चिन्तामणिर्दिव्य इतः पिण्याकखण्डकम्।
ध्यानेन चेदुभौ लभ्ये क्वाद्रियन्तां विवेकिनः।।

–(इष्टोपदेशः 45, 20)

यदि काच और चिन्तामणि श्रम के पुरस्कार हैं तो कौन ऐसा विवेक-विधुर होगा जो श्रम भी करे और काच लेना चाहे। चिन्तामणि की तुलना में काच की गणना ही क्या? मनुष्य-भव प्राप्त कर यदि विषयादि काच-खण्डों को ही संग्रहीत करते रहे तथा आत्म-चिन्तामणि की प्राप्तिचिन्ता नहीं की, समय को नहीं पाया तो **निरर्थकं जन्म गतं नलिन्या यया न दृष्टं किल भानुबिम्बम्** उस कमलिनी का जन्म व्यर्थ ही गया जिसने कभी सूर्य को नहीं देखा। और सर्वज्ञ भगवान् के समय को जिसने नहीं सुना, उस मनुष्य का जन्म भी व्यर्थ गया।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

राजमार्ग से चलो

मानुष्यं विफलं वदन्ति हृदयं नूनं वृथा श्रोत्रयो–
निर्माणं गुणदोषभेदकलनां तेषामसम्भाविनीम्।
दुर्वारं नरकान्धकूपपतनं मुक्तिं बुधा दुर्लभां,
सार्वज्ञः समयो दयारसमयो येषां न कर्णातिथिः।।

–(सूक्ति मुक्तावली 18)

अतः नय की लघु वीथियों से नहीं, शुद्ध निश्चय के राजमार्ग से चलो। नित्य शुद्ध क्षायिक दृष्टि रखो, अपने में ही तन्मय रहो। परमात्मा भी व्यवहारनय से सर्वज्ञ हैं, निश्चयनय से तो आत्मज्ञ ही हैं। उस आत्मज्ञान की प्राप्ति में जितनी दूरी है, उसे पुरुषार्थ द्वारा समाप्त करो। नयों की नदियों में तैर चुके, अब शुद्ध निश्चय के समुद्र में अवगाहन करो। निर्वाण पाना है तो स्वभाव में स्थित होकर अपने को जानो, अपने को देखो, अपने से प्रेम करो। केवली भगवान् ने वह मार्ग दिखाया है, मुनियों और ज्ञानियों ने उस पथ का अनुसरण किया है, गणधर देवों ने उसका आगमिक निरूपण किया है; उस पर चलो। बोधिलाभ के लिए देव, गुरु, शास्त्र के भक्त रहो, संसार-भोगों पर हेय दृष्टि धारण करो और रत्नत्रयसंयुक्त महाव्रती बनो। देखो, शिवसुख तुम्हारे समीप है, तुम्हारी अपनी आत्मा में उसकी विद्यमानता प्रतीत हो रही है—

परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी।
तम्हि ट्ठिदा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं।।–(समयसार, 151)
देव-गुरु-समय-भत्ता, संसार-सरीर-भोग-परिचत्ता।
रयणत्तय-संजुत्ता, ते मणुया सिव-सुहं पत्ता[7]।।–(रयणसार, 9)

महाकवि रत्नाकर ने पुद्गल और आत्मा के भिन्नत्व का प्रतिपादन करते हुए वर्णन किया है कि शब्दोच्चारण, जिह्वा-दन्त-ओष्ठ आदि उसके साधन, श्रोत्र तथा स्नेह-कोप और यह देह सभी पुद्गल हैं। दिगम्बर पुरुष इनसे भिन्न है।

परमात्मरूप की शरण

नुडिवुदु पुद्गल केळुवदु पुद्गल, कडेगे पुद्गल स्नेहकोपा।
जडदेहनुं कि नन्नेदेयोळिरय्या, बानोला चिदम्बरपुरुष।। –(रत्नाकर, 99)

हे सर्वज्ञ देव! शुद्धचिन्मय परमात्मन्! अनन्त सुख, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त वीर्य को प्राप्त करने का साधन आपने स्वानुभूति से स्वसमय को बताया है। हे वीतराग ! आपका निरूपित प्रज्ञापित सत्य त्रिकालाबाधित प्रमाण है। हे प्रभो ! गति के लिए मार्ग चाहिए, मार्ग को प्रशस्त करने के लिए नेता चाहिए और उसका मार्गदर्शन भ्रम-मुक्त होना चाहिए। कदाचित् मार्गदर्शक स्वयं ही पथ-भ्रान्त हो तो अनुगामियों को भी संकटों एवं बाधाओं का साम्मुख्य करना पड़ेगा, अतः जिस किसी को अग्रगामी नहीं माना जा सकता। आपके मार्ग पर मेरी सुश्रद्धा है;

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्योंकि आपको तीर्थंकर होने का लोभ नहीं, कहीं किसी से राग नहीं, द्वेष नहीं। आपके निर्मल आत्मस्वरूप को छत्र, चामर अष्टसिद्धि तथा नवनिधियों की अपेक्षा नहीं। यह यथाजात सुन्दर है, लब्धिरमणीय है। उसकी चारु आभा ने सूर्यादि के तेज को अधरित कर दिया। आपका मार्गदर्शन निश्चयेन निर्भ्रान्त है, शिवपुरप्रापक है।[8] आप ही आप्त हैं, सम्पूर्ण प्राप्यों को प्राप्त कर चुके हैं। अब कुछ भी पाना आपके लिए शेष नहीं। आप ही समय हैं, स्वसमय हैं, परमात्मा हैं। **अन्यो न मम शरणं, शरणं स एव परमात्मा** —इस भावना के साथ मैं अपने आत्मा के अनन्तशक्तिपुंजस्वरूप परमात्मरूप की शरण ग्रहण करता हूँ—

अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पै–
रयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्यमेकः।
स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रात्
न खलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति।। –(समयसार कलश, 244)
दिट्ठे तुमम्मि जिणवर ! समयामयसायरे गहीरंमि।
रायाइदोसकलुसे देवे को मण्णइ सयाणो।।

–(पद्मनन्दिपंचविंशतिका, 14)

मर्मच्छेदकारी दिव्यायुध :— रसाल फल को प्राप्त करने के लिए आम्रवन में जाना होगा, चम्पा की सुवास उसके पुष्प में है कण्टकों में नहीं, पाटल (गुलाब) के शूल स्पर्श करनेवालों को उलझा देते हैं परन्तु सुरभि नहीं दे पाते। मृगनाभि का सौरभ यदि घास में होता तो हरिण को अन्वेषण करने पर मिल जाता। स्वभाव में भ्रम के वशीभूत होकर अन्धवत् इतस्ततः पर्यटन करने से निर्भ्रान्त सत्य की अवाप्ति नहीं होती। सत्य तो सत्य में ही मिलेगा। तैल की प्राप्ति चाहनेवाला तुष नहीं कूटता; क्योंकि तुष और मुसल तैल-प्राप्ति में न निमित्त हैं, न उपादान। अतः समय की अपेक्षा रखनेवाले समय-भिन्न द्रव्यों में तत्पर नहीं होते। उनका प्रयत्न अनिष्ट-निवृत्ति और इष्ट-सम्प्राप्ति के लिए अहर्निश प्रक्रान्त रहता है। सम्यग् दर्शनज्ञानचारित्र रूप त्रिशूल ही वह दिव्यायुध है जो आत्मा का परमास्त्र है और परद्रव्यों का मर्मच्छेदकारी है। यह समाधि-मित्र है, इष्टयोजक है और अनिष्टवियोजक भी है। आचार्य समन्तभद्र जब **स्वदोषमूलं स्वसमाधितेजसा निनाय यो निर्दयभस्म-सात्क्रियाम्** कहते हुए आदिजिनेश्वर के निर्मल स्वरूप का व्याख्यान करते हैं, तब उनका आशय भगवान् के उसी आत्मस्थभाव से है, जिसमें कर्मकश्मल-दहन का सर्वातिशायी सामर्थ्य है और जिसको उद्देश्य कर **ध्यानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते**—कहा गया है। ये सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र आत्मा के त्रिभंग हैं, उसके उपयोग-विवर्त हैं। स्व-रूप इनका आराध्य एवं समीक्ष्य है। इस स्वरूपावस्थान नित्यता से विभाव रूपों में उपेक्षा एवं अनासक्ति आती है और अकिंचन परभाव

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्मा की इस स्वरूपस्थिति रूप उपेक्षा से ही म्लान, शीर्ण और मृत हो जाते हैं। आस्रवनिरोध का तथा कर्मनिर्जरा का यह अद्भुत प्रकार है कि जैसे-जैसे साधक स्वभाव को उज्जीवित करता है, उसके परभाव स्वयं समाप्त, मृत होते जाते हैं। यह बुद्धिमानों का मार्ग है जिसमें चलते हुए वे इष्ट-नष्ट संयोगवियोगता को एक क्रिया द्वारा निष्पन्न करते हुए शोभा पाते हैं। उनकी **एका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धा**—एक ही क्रिया दो प्रयोजनों की साधिका होती है। जैसे भुक्त अन्न क्षुधा-निवृत्ति करता है और तृप्तिकारक भी होता है, वैसे स्व-समय में स्थितिबन्ध परसमय निवर्तन में भी प्रभविष्णु होता है, इससे आस्रव स्वतः खण्डित हो जाते हैं।

सम्यग्दर्शनं णाणं चारित्तं शुद्धात्मनाम्।
स्वस्वरूपं च आराध्यं त्रिभंगीसमयखंडनम्।। —(त्रिभंगीसार, 248)

इसी निर्विकल्प आत्मोपयोग को साक्षात्समयसार निर्दिष्ट करते हुए समयसार में आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं— **सकलविकल्पातिक्रान्तः स्वयं निर्विकल्पैकविज्ञान-घनस्वभावो भूत्वा साक्षात्समयसारः सम्भवति।** —(142)

जीवन को कर्मबन्ध हुआ है अथवा नहीं हुआ है, यह कहना तो विकल्पगोष्ठी के भिन्न नयपक्ष का पक्ष है, वस्तुतः निश्चय में तो नयों का प्रवेश अविहित है। निम्न गाथा में इसी नयातिक्रान्त निश्चयरूढ़ साक्षात्समयसार का सारोपदेश है—

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एदं तु जाण णयपक्खं।
णयपक्खातिक्कंतो भण्णदि जो सो समयसारो।। —(समयसार 142)

कार्यकारण भाव सम्बन्ध

आत्मनः शुद्धभावेन गलत्येतत् पुराकृतम् —(जम्बूस्वामि चरित 13/127)

आत्मा के शुद्ध भाव से पूर्वकृत आस्रव गल जाते हैं— यह कहना वैसा ही है जैसा वसन्त-आगमन से वृक्षों पर नवीन पल्लव आविर्भूत हो जाते हैं। नवीन पत्र आने से पूर्व जीर्ण पत्र क्षय स्वयं हो जाते हैं। अपना उपयोग मोक्ष की ओर लगाओ, बन्ध विगलित होते जाएँगे। जब एक व्यक्ति पूर्व की ओर अभिमुख होकर यात्रा करता है तब उससे पश्चिम स्वतः दूर-दूरतर होता जाता है। उसे पूर्व की निकटता के लिए जो यत्न करना पड़ता है, वही उसे पश्चिम से अत्यन्त दूर ले जाता है। जब दधिमन्थन की एक रज्जु पीछे खिंचती है तब दूसरे हाथ की रज्जु स्वयं आगे हो जाती है। **कारणविगमतः कार्यनाशप्रसिद्धिः** कारण का नाश होने पर कार्यनाश अवश्य हो जाता है, यह प्रसिद्ध न्याय है। भावसंवर और भावनिर्जरा को समझाते हुए अध्यात्मकमल मार्तण्ड में बताया गया है कि 'भावास्रवनिरोध भावसंवर है तथा आत्मा और शरीर के भेदविज्ञान से सम्पद्यमान स्वोपलब्धि भाव निर्जरा है। संचित और आगामी बन्धकारणभूत कर्म का अभाव होने पर संसार का अभाव स्वतः हो जाएगा। यही कार्यकारण भाव सम्बन्ध न्याय है—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्यागो भावास्रवाणां जिनवरगदितः संवरो भावसंज्ञो,
भेदज्ञानाच्च स स्यात् स्वसमयवपुषस्तारतम्यः कथंचित्।
सा शुद्धात्मोपलब्धिः स्वसमयवपुषो निर्जरा भावसंज्ञा,
नाम्ना भेदोऽनयोः स्यात् करणविगमतः कार्यनाशप्रसिद्धेः।।

—(अध्यात्मकमलमार्तण्ड, 9)

येनांशेन कषायाणां निग्रहः स्यात् सुदृष्टिनाम्।
तेनांशेन प्रयुज्येत संवरो भावसंज्ञकः।।
आत्मनः शुद्धभावेन गलत्येतत् पुराकृतम्।
वेगाद् भुक्तरसं कर्म सा भवेद् भावनिर्जरा।।

—(जम्बूस्वामिचरित, 13/123,127)

विषयों की शिविका उठाये चलता है :— चतुष्पथ पर खड़ा राजपुरुष हाथ के संकेत से मार्ग बताता है तथा रोकता भी है। आगमशास्त्र हेय और उपादेय के दो हाथ उठाकर असन्-मार्ग से रोकते भी हैं तथा सन्मार्ग पर चलने की अनुमति भी देते हैं। उन्होंने परसमयों की रति का परिणाम और स्वसमय निष्ठा का उदर्क निःसंगभाव से सझाने का सहस्रमुखी सुयत्न किया है। चिक्कणता से मलिनता आती है और रूक्षता (साबुन आदि) से वह दूर हो जाती है, यह जानकर बुद्धिमान निःस्नेह होने का प्रयत्न करता है और रागाशयी स्वयं मालिन्य को आमंत्रित करता है। बालक अज्ञानवश मिट्टी खाता है और मन्दबुद्धि इन मिट्टी समान अशुभ आस्रवों में स्वादुता का अनुभव कर अतिकठिन बन्धनों को पुकार-पुकार कर अपना आरोहण देता है। विषयों की शिविका को कन्धे पर उठाये चलता है, राग की नगरी में फेरी लगाता है। वह बन्धहेतु है। मिथ्यात्व का संग्रह एक दिन उसे ले डूबता है, आस्रवों के योजनमुख नक्र उसे उदरस्थ कर लेते हैं। उस दिङ्मूढ़ को प्रति समय नये-नये कर्म अतिथि होते रहते हैं। वह बन्धन शृंखलाओं को अलंकार समझ धारण करता रहता है और अपनी इस दयनीय अवस्था को अभिमान के साथ वैभव कहकर व्यक्त करता है। विभावों को वैभव मानने वालों का व्यामोह क्या हास्यास्पद नहीं है? आत्मा को दीन बनाकर पुद्गल को पीन बनाने वाले त्यागवृत्ति के कोपीन को सदा हीन समझते आये हैं। पिंजरे का पक्षी उन्मुक्त गगन में संचार करनेवाले विहंगम की अनगारता पर उपहास के स्वर उठाता है। अपनी विपन्नता और अपने रोग को भोग कहता है—

मिथ्यात्वाद्यात्मभावाः प्रथम समय एवास्रवे हेतवः स्युः,
पश्चात्तत्कर्मबन्धं प्रतिसमसमये तौ भवेतां कथंचित्।
नव्यानां कर्मणामागमनमिति तदात्वे हि नाम्नास्रवः स्यात्,
आयत्यां स्यात् सबन्धःस्थितिमितिलयपर्यन्तमेषोऽनयोर्मित्।।

—(अध्यात्मकमलमार्तण्ड 4/4)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनादिकाल से आस्रवों के साथ घनिष्ठ मित्रभाव रहा है तुम्हारा। इनके छन्द आपात रमणीय हैं, ऊपरी दृष्टि से देखने वाले बहिरात्माओं को वे बहुत प्रिय लगते हैं; परन्तु बहिर्मनोरम होने मात्र से उसका अन्तःप्रच्छन्न विषय अमृतपरिणामी नहीं हो जाता। वैसे धतूरे का पुष्प भी तो सुन्दर पीत वर्ण होता है और अपने सुवर्ण के कारण कनक पुष्प कहा जाता है; परन्तु क्या रूप सादृश्य से उसमें गुणसाम्य भी संभव हुआ है? एतावता स्वच्छन्द रमणीय प्रतीति में एक अन्य हेतु भी है; वह यह कि जब कोई किसी के प्रथम सम्पर्क में आता है तब उसका कटुकत्व अथवा मधुरत्व जितना स्पष्ट प्रतीत होता है उतना वेलान्तर में नहीं होता। प्रथम बार प्रकाश से अन्धकाराच्छन्न प्रकोष्ठ में प्रवेश करने पर वह तिमिर अतिसान्द्र प्रतीत होता है, परन्तु कुछ क्षण के पश्चात् नेत्र उस अन्धकार में भी कुछ देख पाने में समर्थ हो उठते हैं। इस प्रकार प्रथम दृष्टि में जो अमित्रवत् था, वही तिमिर इतर क्षणों में मित्रवत् हो जाता है और उसमें प्रथम क्षण जैसी तीक्ष्ण विरोधानुभूति नहीं रह जाती। आस्रवों का मित्रत्व भी कुछ ऐसा ही है। अनादिकाल से मृग-सिंह के समान इनका सहचारित्व रहा है। जैसे मृग और सिंह का अन्योन्य सम्बन्ध भक्ष्य-भक्षक-भावपरक है तथापि दोनों एक ही वन-प्रदेश में निवास करते हैं और समय-कुसमय पाकर सिंह हरिण का आखेट करता रहता है, वैसे ही जीव और आस्रवों का सम्बन्ध है। आस्रवों के अनादि आक्रमणों ने जीवन को जर्जर कर दिया है। यह जीव जहाँ जाता है, आस्रव पक्व फल के समान उसमें लोभ उत्पन्न करने वहीं पहुँच जाते हैं। जैसे-जैसे यह जीव इन फलों का आस्वाद करता है उनके विषाक्त परिणाम का लक्ष्य बन जाता है। चिरकाल का सामीप्य अनुभव करते रहने से जीव इतना अधिक प्रमत्त अथवा असावधान हो उठा है कि वह आस्रवों के दुःख जनकत्व को लक्ष्य नहीं कर पाता। वह उन्हें सहज स्नेह से ग्रहण करता है और नाना व्याधियों का पात्र बन जाता है। यहाँ चुम्बक-लौह का दृष्टान्त उपयोगी रहेगा। चुम्बक लोहे को अपनी ओर खींचता है क्योंकि वह उसका सजातीय है; परन्तु आश्चर्य होता है कि पुद्गल जीव को अपनी ओर खींचते हैं, आश्चर्य इसलिए कि पुद्गल जीव के सजातीय नही हैं। इस दृष्टि-विमर्श से कहना होगा कि पुद्गल चुम्बक से अधिक संक्रमणशील है। एतावता जीव जब पुद्गल प्रदेशों में रतिभाव करता है तब मलिन परिणामों को ही प्राप्त करता है। यह उसका कुसंगति-समुत्पन्न दोष है। इस कुसंगति का सदोष प्रभाव कभी-कभी इतना बढ़ जाता है कि जीव अपनी भिन्नता को ही विस्मृत कर बैठता है, उसे अपना जातिस्मरण भी नहीं रह पाता। एक कथा है कि कोई सिंहशिशु मातृवियुक्त होकर किसी शृगाली के शावकों के साथ रहने लगा और उस शृगाली को ही जननी मानकर उसका स्तन्य पीने लगा। कालान्तर में एक समय जब वह अपने कल्पित बन्धुओं के साथ किसी जलाशय में पानी पी रहा था, उसने अपना प्रतिबिम्ब देखा और भिन्नता का स्वतः

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बोध प्राप्त किया कि मैं शृगाल नहीं हूँ, सिंह हूँ। यह भेद-प्रतीति होते ही उसने हुंकार किया। उस सिंह-गर्जना को सुनकर सम्पूर्ण वनप्रान्तर स्तब्ध हो गया। ऐसी ही कुछ, विजातीय में साजात्य-अनुभूति इस जीव को हो जाती है जब यह परभावों की अभेद्यस्निग्धता में अपना एकीभाव अनुभव करने लगता है। **अध्यात्मकमलमार्तण्ड** में इस अवस्था को मोहस्थिति कहा है। यह मोह संसार-वृक्ष को सिंचित करता है, उसे हरा रखता है, सूखने नहीं देता। तत्त्वज्ञान का विलोपक तथा सम्यग् दर्शनादि से च्युत करनेवाला है; किं बहुना, सम्पूर्ण अनर्थों का प्रसविता पिता है।

सम्यक्त्व-सूर्योदय

> **मोहः सन्तानवर्ती भववनजलदो द्रव्यकर्मौघहेतु–**
> **स्तत्त्वज्ञानघ्नमूर्तिर्वमनमिव खलु श्रद्दधानं न तत्त्वे।**
> **मोहक्षोभप्रयुक्ता दृगवमयुतात् सच्चरित्राच्च्युतिश्च,**
> **गच्छत्वध्यात्मकंजद्युमणिपरपरिख्यापनान्मेचितोऽस्तम्।।**

यह मोह मेचितभाव है, अन्धकार है। अध्यात्म सूर्योदय से इसका अस्तमन होता है। अन्धकार में भेद-प्रतीति का विलोप होना सहज है। किसी प्रकोष्ठ में अनेक वस्तुएँ रखी हैं, किन्तु अन्धकार में वे दृष्टिगोचर नहीं होतीं। इतना ही नहीं, वे भिन्न-भिन्न भी प्रतीत नहीं होतीं। प्रकाश में उन्हें पृथक्-पृथक् देखा जा सकता है। एतावता प्रकाश ही भेदज्ञान में सहायक है। सम्यक्त्व-सूर्योदय उसी प्रकाश का प्रदाता है। इस शुद्धचिन्मात्रमूर्ति आत्मा की परम विशुद्धि इस मेचित से पृथक् होने में है। यह पार्थक्य शाब्दिक नहीं, तात्त्विक होना चाहिए। शाब्दिक स्थितिपर्यन्त तो यह शुकपाठ है। जैसे कोई अमृतघट का मुख खोले विना **अहो ! यह अमृत है**—कहता रहे, उसका स्वाद-ग्रहण न करे, वैसे गाथाओं को कण्ठस्थ कर अपने को चिन्मात्र कहनेवाला अथवा सरागपरिणति का त्याग किये बिना **अहं ब्रह्मास्मि** का तारस्वर में चीत्कार करनेवाला अनुभवरहित परम्परापाठी मात्र है। मन में भुक्ति और वाणी पर मुक्ति कहने से वक्ता परवंचन तो करता ही है, स्ववंचनकारी भी होता है; क्योंकि मुक्ति शब्दगम्य नहीं है। मोदक का माधुर्य जिह्वा-प्रतीति का विषय है, दृष्टि-प्रत्यय का आलम्बन नहीं। जिस परसमरसीभाव का स्वानुभव आचार्यों ने निरूपित किया है, वह शब्दों का क्रीड़ा-कुतूहल नहीं, स्वात्मप्रत्यय का प्रत्यक्ष बोध है। वह आत्मप्रदेश-स्थित अशेष कर्मपर्याय श्लेषविरहावस्था है, यथायोग्य विमल गुणों के आविर्भाव की वेला है और अमृततुल्यतृप्तिप्रद परम-समरसता की उपलब्धि है। अध्यात्मकमलमार्तण्ड में लिखा है—

> **मोक्षः स्वात्मप्रदेशस्थितविविधविधेः कर्मपर्यायहानि-**
> **र्मूलात्तत्कालचित्ताद् विमलतरगुणोद्भूतिरस्या यथावत्।**
> **स्याच्छुद्धात्मोपलब्धेः परमसमरसीभावपीयूषतृप्तिः**
> **शुक्लध्यानादिभावापरकरणतनोः संवरान्निर्जरायाः।।**

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित संवर-निर्जरात्मक, उत्तम-क्षमादि दशलक्षणात्मक, परसमयनिषेधक, स्वसमयस्थितिस्थापक, द्वादशानुप्रेक्षाभावित, दिव्यध्वनिपरमावतार, स्याद्वादनयचक्र-चारुचमत्कृत होते हुए भी निश्चयनिष्ठ यह मोक्षधर्म ही आत्मा का स्वसमय है।

निष्कर्ष :– आत्मा ही निश्चय नय से समय-पद वाच्य है। जीवादि पदार्थों को अविपरीत यथास्थित रूप आत्मा ही जनता है। जब यह आत्मा विभाव-परिग्रहों का त्याग कर स्वभाव-रत्न-सम्पदा से विभूषित होता है, तब इसका उपयोग स्वसमयात्मक होता है तथा जब यह लौकिकता की ओर परिणतवृत्ति होता है, तब परसमयपर्यायी होता है—

जीवो चरित्तदंसणणाणठिदो तं हि ससमयं जाणे।
पोंग्गलकम्मपदेसट्ठिदं च तं जाण परसमयं।। –(समयसार, 2)

यह जीव जब सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित होता है, वही इसका स्वसमय है तथा यही जब पुद्गल पर्यायों में आसक्तिमान तथा कर्मबन्धन में अपने आपको निमग्न करे तब परसमय हो जाता है।

स्व-समय तथा पर-समय की यह विभाव-स्वभाव द्विधा विभक्त परिणति अनादिकाल से चली आ रही है। जीवों के **संसारिणो मुक्ताश्च** कहकर जो दो भेद किये गये हैं, वे इसी स्व-पर-समय के अवच्छेदक धर्म हैं। मुक्त जीव भी प्रथमावस्था में बन्धयुक्त अथवा संसारी होते हैं अन्यथा उन्हें मुक्त नहीं कहा जा सकता। जो पक्षी पंजर-बद्ध है वह पंजर से निकलने पर निर्बन्ध अथवा मुक्त कहा जाता है। पिंजरे में न आये हुए पक्षी को, जो स्वतः मुक्त है, कोई मुक्त नहीं कहता। अस्तु—

बाह्यान्तः परिवृत्तिमात्रविलसत् स्वच्छन्ददृक्संविदः,
श्रामण्यं सकलं विगाह्य सहजावस्थां विपश्यंति ये।
पूर्वावाप्तमपूर्वतां सपदि ते साक्षान्नयन्तः समं,
मूलान्येव लुनन्ति कर्मकुशलाः कर्मद्रुमस्य क्रमात्।।

–(शक्तिमणितकोष (लघुतत्त्वस्फोट), श्री अमृतचन्द्राचार्य)

—जो जीव बाह्य और अन्तरंग चारित्र मात्र से विलास को प्राप्त और स्वच्छन्द (निर्द्वन्द्व) सम्यग्दर्शन और संवेदन अवस्था को देखते हैं, वे जीव शीघ्र ही पूर्व में अप्राप्त अवस्था को साक्षात्कार करते हुए, क्रमशः कर्मरूपी वृक्ष की जड़ को काट देते हैं, वे ही कर्मकुशल हैं। (शेष जीव तो कर्मकुशल नहीं हैं)।

सन्दर्भ

1 देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः। मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातरस्त्वमसि नो महान्।।
—आप्तमीमांसा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

2 यो विश्वं वेदवेद्यं जननजलनिधेर्भंगिनः पारदृश्वा,
पौर्वापर्याविरुद्धं वचनमनुपमं निष्कलंकं यदीयम्।
तं वन्दे साधुवन्द्यं सकलगुणनिधिं ध्वस्तदोषद्विषंतं,
बुद्धं वा वर्द्धमानं शतदलनिलयं केशवं वा शिवं वा।।

3 जनेभ्यो वाक्ततःस्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमाः।
भवन्ति तस्मात् संसर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत्।। —(समाधितन्त्र, 72)

4 णाणम्हि दंसणम्हि य चरणम्हि य तीसु समयसारेसु।
सक्कोदि जो ठवेदुं गणमप्पाणं गणधणी सो।। —(भगवती आराधना 91)
—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप समयसार-आत्मा है। आचार्य वही है जो समयसारभूत-आत्मा में {संघ को} स्थापित कर सके।

5 स्वयं वस्तुस्वरूपमेव ज्ञातव्यं परम्प्रति विवादो न कर्तव्यः। कस्मात्। विवादे रागद्वेषोत्पत्तिर्भवति ततश्च शुद्धात्मभावना नश्यति। —(जयसेन-तात्पर्यवृत्तिः प्रवचनसार, 278)

6 विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन,
स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम्।
हृदयसरसि पुंसां पुद्गलादिभिन्नधाम्नो,
ननु किमनुपलब्धिर्भाति न द्वैतमेव।। —(समयसार कलश, 34)

7 समयं यदि जानीते श्रेयोज्ञाता ध्रुवं भवति। —(रत्नकरण्ड श्रावकाचार 5/27) यदि समयं आगमं जानीते आगमज्ञो यदि भवति तदा ध्रुवं निश्चयेन श्रेयोज्ञाता उत्कृष्टज्ञाता स भवति। —यदि आगम में विज्ञता प्राप्त करता है तो वह विज्ञ निश्चयेन श्रेय का ज्ञाता होता है।

8 हे प्रभो! जिनेन्द्रदेव! वह रागादिदोष मुक्त सकल और निकल परमात्मा जिन, अर्हन् और सिद्ध आप ही हैं। आप ही गम्भीर-अगाध समयामृत-सागर हैं। रागरहित प्ररूपणा करने से आप ही सत्यमार्गोपदेष्टा हैं। कौन ऐसा सज्ञान होगा जो यह जानकर भी रागपरामृष्ट इतर देवों की मान्यता मानेगा। ❖❖

न खलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति

अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पै—
रयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्यमेकः।
स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रा—
न्न खलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति।। 244।।

बहुत कथन से और बहुत विकल्पों से बस होओ, बस होओ; यहाँ मात्र इतना ही कहना है कि इस एकमात्र परमार्थ का निरन्तर अनुभव करो, क्योंकि निजरस के प्रसार से पूर्ण जो ज्ञान के स्फुरायमान होने रूप **समयसार** है, उस से उच्च वास्तव में दूसरा कुछ भी नहीं है, **समयसार** के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी सारभूत नहीं है। —आचार्य अमृतचन्द्र, आत्मख्याति टीका ●●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपादान और निमित्त

✍ डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

जगत का प्रत्येक पदार्थ परिणमनशील है। पदार्थों के इस परिणमन को पर्याय या कार्य कहते हैं। इस परिणमन को ही कर्म, अवस्था, हालत, दशा, परिणाम, परिणति आदि नामों से भी अभिहित किया जाता है। कार्य कारणपूर्वक ही होता है और कार्य की उत्पादक सामग्री को ही कारण कहा जाता है। यह कार्य की उत्पादक सामग्री उपादान और निमित्तों के रूप में होती है। यही कारण है कि जिनागम में उपादान और निमित्तों की चर्चा कारणों के रूप में हुई है और इसलिए कारण भी दो प्रकार के माने गये हैं— 1. उपादानकारण और 2. निमित्तकारण। जो स्वयं कार्यरूप में परिणमित हो, उसे उपादानकारण कहते हैं और जो स्वयं तो कार्यरूप परिणमित न हो, परन्तु कार्य की उत्पत्ति में अनुकूल होने का आरोप जिस पर आ सके, उसे निमित्तकारण कहते हैं। जैसे— घटरूप कार्य का मिट्टी उपादानकारण है और चक्र, दण्ड एवं कुम्हार आदि निमित्तकारण हैं।

उपादान दो प्रकार का होता है— 1. त्रिकाली उपादान, 2. क्षणिक उपादान।

निमित्त भी दो प्रकार के होते हैं— 1. उदासीन, 2. प्रेरक अथवा अंतरंग, बहिरंग।

जो द्रव्य या गुण स्वयं कार्यरूप परिणमित हो, उस द्रव्य या गुण को उस कार्य का त्रिकाली उपादानकारण कहते हैं।

क्षणिक उपादानकारण भी दो प्रकार का होता है—

(क) द्रव्य और गुणों में जो पर्यायों का प्रवाहक्रम अनादि-अनन्त चला करता है, उस प्रवाहक्रम में अनन्तरपूर्वक्षणवर्तीपर्याय क्षणिक उपादानकारण है और अनन्तरउत्तरक्षण-वर्तीपर्याय कार्य है। इसे इसप्रकार भी कहा जाता है कि अनन्तरपूर्वक्षणवर्तीपर्याय से युक्त द्रव्य कारण है और अनन्तरउत्तरक्षणवर्तीपर्याय से युक्त द्रव्य कार्य है।

उक्त संदर्भ में कार्तिकेयानुप्रेक्षा का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है—

पुव्वपरिणामजुत्तं कारणभावेण वट्टदे दव्वं।
उत्तरपरिणामजुदं तं चिय कज्जं हवे णियमा।।230।।

अनन्तरपूर्वपरिणाम से युक्त द्रव्य कारणरूप से परिणमित होता है और अनन्तर-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तरपरिणाम से युक्त वही द्रव्य नियम से कार्य होता है।

(ख) उस समय की पर्याय की उसी समय होने रूप योग्यता क्षणिक उपादानकारण है और वह पर्याय कार्य है।

इसप्रकार उपादानकारण तीन प्रकार का हो गया, जो इसप्रकार है—

1. त्रिकाली उपादानकारण। 2. अनन्तरपूर्वक्षणवर्तीपर्याय के व्ययरूप क्षणिक उपादानकारण। 3. तत्समय की योग्यतारूप क्षणिक उपादानकारण।

क्षणिक उपादान के नाम लम्बे होने के कारण उन्हें निम्नांकित नामों से भी अभिहित किया जाता रहा है— (क) अनन्तरपूर्वक्षणवर्तीपर्याय (ख) तत्समय की योग्यता।

क्षणिक उपादान को समर्थ उपादानकारण भी कहते हैं, क्योंकि त्रिकाली उपादानकारण तो सदा विद्यमान रहता है; यदि उसे ही पूर्ण समर्थ कारण मान लिया जाय तो विवक्षित कार्य की सदा उत्पत्ति होते रहने का प्रसंग आयेगा। अनन्तर-पूर्वक्षणवर्तीपर्याय का व्यय एवं उस समय उस पर्याय के उत्पन्न होने की योग्यता ही समर्थ उपादानकारण है; जिनके बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती और जिनके होने पर नियम से कार्य की उत्पत्ति होती है।

शक्ति दो प्रकार की होती है— द्रव्यशक्ति और पर्यायशक्ति। इन दोनों शक्तियों का नाम ही उपादान है। पर्यायशक्ति से युक्त द्रव्यशक्ति ही कार्यकारी होती है। द्रव्यशक्ति नित्य होती है और पर्यायशक्ति अनित्य। नित्यशक्ति के आधार पर कार्य की उत्पत्ति मानने पर कार्य के नित्यत्व का प्रसंग आता है; अतः पर्यायशक्ति को ही कार्य का नियामक स्वीकार किया गया है।

द्रव्यशक्ति यह बताती है कि यह कार्य इस द्रव्य में ही होगा, अन्य द्रव्य में नहीं और पर्यायशक्ति यह बताती है कि विवक्षित कार्य विवक्षित समय में ही होगा। अतः न तो द्रव्यशक्ति महत्त्वहीन है और न पर्यायशक्ति ही; दोनों का ही महत्त्व है, पर काल की नियामक पर्यायशक्ति ही है। काल का दूसरा नाम भी पर्याय ही है। यह पर्यायशक्ति अनन्तरपूर्वक्षणवर्तीपर्याय के व्ययरूप एवं तत्समय की योग्यतारूप होती है। अतः इन दोनों की ही क्षणिक उपादान संज्ञा है। इसीलिए क्षणिक उपादान को कार्य का नियामक कहा गया है। यदि त्रिकाली उपादान को भी शामिल करके बात कहें तो इसप्रकार कहा जायेगा कि पर्यायशक्ति युक्त द्रव्यशक्ति कार्यकारी है, पर इसमें भी नियामक कारण के रूप में तो पर्यायशक्तिरूप क्षणिक उपादान ही रहा। यदि निमित्त को भी इसमें शामिल करके बात करती है तो इसप्रकार कहा जा सकता है कि सहकारी कारणसापेक्ष विशिष्टपर्यायशक्ति से युक्त द्रव्यशक्ति ही कार्यकारी है।

प्रत्येक कार्य (पर्याय) का त्रिकाली उपादान इस बात का नियामक है कि यह कार्य (पर्याय) अमुक द्रव्य या उसके अमुक गुण में ही होगा; अन्य द्रव्य में नहीं और उसी द्रव्य के अन्य गुण में भी नहीं। सम्यग्दर्शनरूप कार्य आत्मद्रव्य और उसके श्रद्धा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुण में ही सम्पन्न होगा, पुद्गलादि द्रव्यों या आत्मा के ज्ञानादि गुणों में नहीं।

तत्समय की योग्यतारूप क्षणिक उपादान काल का नियामक है। जिस द्रव्य या गुण में जिस समय कार्यरूप परिणमित होने की पर्यायगत योग्यता होती है; वह द्रव्य या वह गुण उसीसमय, उसी कार्यरूप परिणमित होता है। चूँकि कार्य का दूसरा नाम पर्याय अर्थात् काल भी है, यही कारण है कि काल के नियामक तत्समय की योग्यतारूप क्षणिक उपादान को कार्य का नियामक भी कहा जाता है। इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि स्वभाव का नियामक त्रिकाली उपादान, विधि (पुरुषार्थ-प्रक्रिया) का नियामक अनन्तरपूर्वक्षणवर्तीपर्याय से युक्त द्रव्यरूप क्षणिक उपादान और काल का या कार्य का नियामक तत्समय की योग्यतारूप क्षणिक उपादान रहा।

उक्त कथन से यह बात एकदम स्पष्ट हो जाती है कि कार्य के प्रति साधकतम तो तत्समय की योग्यतारूप क्षणिक उपादान कारण ही है।

प्रेरक व उदासीन निमित्तों में मूलभूत अन्तर इसप्रकार है—

इच्छाशक्ति से रहित एवं निष्क्रिय द्रव्य उदासीन निमित्त होते हैं और इच्छावान एवं क्रियावान द्रव्य प्रेरक निमित्त कहे जाते हैं। धर्मद्रव्य स्वयं चलते हुए जीव और पुद्गलों की गति में निमित्त होता है एवं अधर्मद्रव्य गमनपूर्वक ठहरते हुए जीव और पुद्गलों की स्थिति में निमित्त होता है। आकाशद्रव्य सभी द्रव्यों के अवगाहन में निमित्त है और कालद्रव्य सभी द्रव्यों के परिणमन में निमित्त होता है। धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल —ये चारों द्रव्य इच्छाशक्ति से रहित हैं और निष्क्रिय भी हैं; अतः ये उदासीन निमित्त कहे जाते हैं। छात्रों को पढ़ानेवाले अध्यापक इच्छावान होने से प्रेरक निमित्त कहे जाते हैं और ध्वजा के फड़कने में हवा सक्रिय होने से प्रेरक निमित्त कही जाती है। यद्यपि धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य इच्छाशक्ति से रहित और निष्क्रिय होने से उदासीन निमित्त कहे जाते हैं तथा जीवद्रव्य इच्छावान और क्रियावान होने से एवं पुद्गल क्रियावान होने से प्रेरक निमित्त कहे जाते हैं; तथापि कार्योत्पत्ति में सभी निमित्त धर्मास्तिकाय के समान उदासीन ही हैं।

उक्त सन्दर्भ में **इष्टोपदेश** का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है—

नाज्ञो विज्ञत्वमायाति, विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति।
निमित्तमात्रमन्यस्तु, गतेर्धर्मास्तिकायवत्।।

अज्ञ को उपदेशादि निमित्तों द्वारा विज्ञ नहीं किया जा सकता और न विज्ञ को अज्ञ ही कर सकते हैं; क्योंकि परपदार्थ तो उसीप्रकार निमित्तमात्र हैं; जिसप्रकार स्वयं चलते हुए जीव और पुद्गलों को धर्मास्तिकाय होता है।

प्रश्न — छात्रों के अध्ययन में अध्यापक की उपयोगिता से इनकार करना ठीक नहीं है। अरे भाई, देशनालब्धि के बिना तो किसी को सम्यक्त्व की प्राप्ति भी सम्भव नहीं है। चारणऋद्धिधारी मुनिराजों का उपदेश पाकर तो भगवान महावीर के जीव

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ने शेर की पर्याय में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति की थी। उसका ही परिणाम है कि वह जीव आगे जाकर भगवान महावीर बना। आप उपदेशरूप निमित्त का निषेध क्यों करते हैं?

उत्तर — उपदेशरूप निमित्त का निषेध कौन करता है? निमित्त के कर्तृत्व का निषेध अवश्य किया जाता है। जिसप्रकार अध्यापक के बिना छात्रों का अध्ययन सम्भव नहीं है; उसप्रकार तो दीपक और पुस्तक के बिना भी अध्ययन संभव नहीं है। छात्रों के अध्ययन में अध्यापक, दीपक और पुस्तक सभी की उपयोगिता है। यदि ऐसा न होता तो दीपक क्यों जलाये जाते, पुस्तकें क्यों लिखी जातीं और विश्वविद्यालयों की स्थापना भी क्यों होती, साधुओं में भी उपाध्याय का पद क्यों होता?

यदि निमित्तों का निषेध किया जाता तो अवश्य ही उक्त प्रश्न खड़ा होता। अरे भाई, पर निमित्तों की सत्ता से इनकार कौन करता है? पर यह भी तो विचारणीय है कि अकेले उपदेश से ही आत्महित संभव होता तो उपदेश तो बहुत जीव सुनते हैं, सभी का हित क्यों नहीं हो जाता? एक कक्षा में अनेक छात्र पढ़ते हैं, उन्हें पढ़ानेवाला अध्यापक एक, पुस्तकें भी वही, दीपक भी वही; फिर भी सभी विद्वान तो नहीं बन जाते। सब अपनी-अपनी योग्यतानुसार ही विद्वान बनते हैं। इसीप्रकार एक ही समवशरण में एक साथ अनेक जीव धर्मोपदेश सुनते हैं; परन्तु सभी सम्यग्दृष्टि, व्रती या साधु तो नहीं हो जाते; सब अपनी-अपनी पर्यायगत योग्यतानुसार ही परिणमते हैं। अतः यह सुनिश्चित ही है कि कार्य के प्रति नियामक कारण तो अपनी-अपनी पर्यायगत योग्यता ही है। जरा विचार तो कीजिए कि भगवान महावीर के जीव का हित मारीचि के भव में ही क्यों नहीं हो गया? क्या वहाँ सद्‌निमित्तों की कमी थी? पिता चक्रवर्ती भरत, धर्मचक्र के प्रवर्तक भगवान ऋषभदेव बाबा। भगवान ऋषभदेव के समवशरण में उनका उपदेश सुनकर तो उसने विरोधभाव उत्पन्न किया था। क्या उनके उपदेश में कोई कमी थी? क्या चारणऋद्धिधारी मुनियों का उपदेश उनसे भी अच्छा था?

इसी से सिद्ध होता है कि जब पर्यायगत उपादान की तैयारी हो, तब कार्य होता है और उस समय योग्य निमित्त भी होता ही है, उसे खोजने नहीं जाना पड़ता है।

क्रूर शेर की पर्याय में घोर वन में उपदेश का कहाँ अवसर था? पर उसका उपादान जगा तो निमित्त आकाश से उतरकर आये। इसीलिए तो कहा जाता है कि आत्मार्थी को निमित्तों की खोज में व्यग्र नहीं होना चाहिए। निमित्त नहीं होता — यह कौन कहता है? पर निमित्तों को खोजना तो नहीं पड़ता है। जब उपादान में कार्य होता है तो तदनुकूल निमित्त होता ही है। निमित्तों के अनुसार कार्य नहीं होता है, कार्य के अनुसार निमित्त कहा जाता है। वेश्या के मृत शरीर को देखकर रागी को राग और वैरागी को वैराग्य उत्पन्न होता है और वह वेश्या रागी के राग और वैरागी के वैराग्य का निमित्त कही जाती है। यदि निमित्त के अनुसार कार्य होता हो तो उसे देखकर प्रत्येक को या तो राग ही उत्पन्न होना चाहिए या फिर वैराग्य ही। न तो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निमित्त उपादान में बलात् कुछ करता है और न ही उपादान किन्हीं निमित्तों को बलात् लाता या मिलाता है। दोनों का सहज संबंध होता है।

प्रत्येक द्रव्य स्वभाव से ही परिणमनशील है। जब नित्य रहकर भी निरन्तर परिणमित होना प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव है तो फिर उसे अपने परिणमन में परद्रव्य की अपेक्षा ही क्यों हो? क्योंकि स्वभाव तो निरपेक्ष ही होता है। जो पर की अपेक्षा रखता हो, उसे स्वभाव और कैसे माना जा सकता है? निमित्तों को अंतरंग निमित्त और बहिरंग निमित्त के रूप में भी वर्गीकृत किया जाता है। मुख्य निमित्तों को अंतरंग निमित्त और गौण निमित्तों को बहिरंग निमित्त कहा जाता है। कर्मबन्धन में आत्मा के रागादिभावों को अंतरंग निमित्त और मन-वचन-काय के व्यापार को बहिरंग निमित्त कहा जाता है। इसीप्रकार पदार्थों के ज्ञान में ज्ञानावरणी कर्म के क्षयोपशम को अन्तरंग निमित्त एवं इन्द्रियाँ, प्रकाश आदि को बहिरंग निमित्त कहा जाता है। सम्यग्दर्शन प्राप्ति में दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय, क्षयोपशम, उपशम को अंतरंग निमित्त एवं गुरूपदेश को बहिरंग निमित्त कहा जाता है। निमित्त चाहे अंतरंग हो या बहिरंग, पर हैं तो वे निमित्त ही, कार्य की उत्पत्ति में सभी निमित्तों की स्थिति लगभग एक समान ही है, धर्मास्तिकायवत् ही है; अतः कोई भी निमित्त कर्ता या साधकतम कारण नहीं हो सकता है।

जब भगवान महावीर का जीव सोलहवें स्वर्ग से चलकर तीर्थंकर रूप में मनुष्यभव धारण कर रहा था तो माँ के रूप में त्रिशला और पिता के रूप में सिद्धार्थ सहजभाव से ही उपस्थित थे। क्या महावीर के जीव ने उनकी खोज की थी? कोई भी व्यक्ति जब मनुष्यभव धारण करता है तो बिना माँ-बाप के तो धारण करता नहीं; पर क्या उसे माँ-बाप की खोज करनी पड़ती है? क्या किसी ने भी आजतक ऐसा किया है या सबकुछ सहजभाव से ही चलता रहता है? जिसप्रकार माँ-बाप की खोज के बिना ही प्रत्येक मानव को जन्म के काल में अपनी योग्यतानुसार माँ-बाप उपलब्ध रहते ही हैं; उसीप्रकार प्रत्येक आत्मार्थी को आत्मानुभूति के काल में या उसके पूर्व में सुयोग्य निमित्त सहजभाव से उपलब्ध रहते ही हैं, उन्हें खोजने कहीं जाना नहीं पड़ता।

महावीर के जीव की शेर की पर्याय में जब पात्रता पकी तो निमित्तरूप में युगल मुनिराज सहजभाव से उपस्थित ही थे। उनका संयोग मिलाने के लिए शेर ने क्या प्रयत्न किया था? ज्ञानियों के सम्पर्क में जीवनभर निरन्तर रहनेवाले लोग क्या सभी सम्यग्दर्शन प्राप्त कर ही लेते हैं? हमने और आपने ऐसे अनेक लोगों को देखा है जो जीवनभर ज्ञानियों के सम्पर्क में रहे, उनकी सेवा करते रहे, पर कुछ भी हाथ नहीं लगा।

निमित्त उपादान का स्वरूप समझने से यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रत्येक पदार्थ स्वयं के परिणमन का ही कर्ता है, अन्य पदार्थों के परिणमन में तो वह मात्र निमित्त ही होता है, करता-धरता कुछ भी नहीं है। इसप्रकार उसके माथे से पर के कर्तृत्व का बड़ा भारी बोझा सहज ही उतर जाता है और वह अपने-आप में बहुत हल्कापन अनुभव करता है। इसीप्रकार जब वह यह जान लेता है कि मेरे भले-बुरे का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व मेरा ही है; मेरे परिणमन में परपदार्थ तो निमित्तमात्र हैं; उनका कोई भी हस्तक्षेप मेरे में नहीं होता तो इस आत्मा का अनन्त भय तो समाप्त हो ही जाता है; दूसरों के प्रति होनेवाला द्वेषभाव भी कम हो जाता है, समाप्त-सा ही हो जाता है; क्योंकि दूसरे पदार्थों से द्वेष तो इसकारण ही होता था कि यह समझता था कि इसने मेरा बुरा किया है। जब इसने जान लिया कि मेरे बुरे होने में इसका रंचमात्र भी योगदान नहीं है तो सहजभाव से ही उसके प्रति द्वेष समाप्त हो जाता है।

इसीप्रकार जब यह जान लिया जाता है कि कोई परपदार्थ मेरा भला भी नहीं करता है, न ही कर सकता है तो फिर परपदार्थों के साथ रागभाव भी नहीं होता। परपदार्थों से राग-द्वेष होने के पीछे मूल कारण तो यह मूढभाव-मिथ्यात्व होता है कि मैं पर का भला-बुरा कर सकता हूँ, करता हूँ या परपदार्थ मेरा भला-बुरा कर सकते हैं, करते हैं। यह मूढभाव ही अनन्त आकुलता का कारण है।

निमित्त-उपादान के सच्चे स्वरूप में आ जाने से यह मूढभाव समाप्त हो जाता है और फिर उस मूढभाव से होनेवाली आकुलता भी नहीं होती। इसप्रकार आध्यात्मिक सुख-शान्ति का मूल उपाय निमित्त-उपादान संबंधी सच्ची समझ ही है। अतः इनका स्वरूप समझने में आलस नहीं करना चाहिए, कठिन कहकर उपेक्षा भी नहीं करनी चाहिए; अपितु पूरी शक्ति लगातर इन्हें समझने का प्रयास करना चाहिए।

अनुकूल संयोग ही लौकिक लाभ है — इस दृष्टि से विचार करें तो भी एक बात अत्यन्त स्पष्ट है कि प्रत्येक प्राणी को अनुकूल संयोग स्वयं की उपादानगत योग्यता एवं शुभकर्मों के उदय के निमित्त से प्राप्त होते हैं। यदि इस बात को भी अच्छी तरह समझ लें तो फिर हम अनुकूल संयोगों के लिए, लौकिक सुखों के लिए भी किसी दूसरे व्यक्ति के सामने हाथ नहीं पसारेंगे, दीन-हीन होकर किसी की गुलामी स्वीकार नहीं करेंगे; सद्भाव एवं सत्कर्म करने के लिए ही प्रेरित होंगे।

निमित्त और उपादान का सही स्वरूप समझने में लौकिक और पारलौकिक लाभ ही लाभ है; अतः उनके स्वरूप को समझने में उपयोग को लगाओ, तुम्हें निश्चित ही लौकिक और पारलौकिक सुख-शान्ति की प्राप्ति होगी। अधिक संकल्प-विकल्पों में उलझने से कोई लाभ नहीं है।

इस पावन भावना से विराम लेता हूँ कि सभी आत्मार्थीजन निमित्त-उपादान का सही स्वरूप समझकर लौकिक और पारलौकिक सुख-शान्ति प्राप्त करें। ❖❖

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य-विद्यानन्द-प्रवचनांश

—संकलन : डॉ. सत्यप्रकाश जैन

समयसारभूतोऽयम्

बद्धो वा मुक्तो वा चिद्रूपो नयविचारविधिरेषः।
सर्वनयपक्षरहितो भवति हि साक्षात् समयसारः।।

चैतन्य आत्मा कर्मनिबद्ध है तथा मुक्त भी है, यह नय-विचार की विधि है, विचारातीत अवस्था में आत्मा सर्वनयपक्षातीत है अर्थात् विचार और शब्द की परिधि और पकड़ से परे है। यही निर्मल आत्मा समयसार है। समयसार मोक्षस्वरूप है, यह स्वपरिणति है अतः इसका मनन-चिन्तन अथवा वाणी से प्रकाशन संभव नहीं है। जब तक पर-परिणति है, विकल्प हैं, तब तक समयसार की उपलब्धि के प्रयत्न होते हैं। पर-परिणति बन्धन है, स्व-परिणति मोक्ष है, यही सारभूत है। व्यवहार नय के जितने भी पक्ष हैं, वे बन्ध के कारण हैं, साधक अवस्था के अंग हैं। साधक की अवस्था में देवपूजा, गुरूपास्ति, शास्त्र-स्वाध्याय इत्यादि साधनों का आश्रय ग्रहण किया जाता है। ये अवलम्बन मोक्षोपलब्धि के कारण होते हुए भी साधनावस्था में बन्धक हैं। यद्यपि **समयसार** की गाथाएँ संसार-बन्ध का निवर्तन करानेवाली हैं, तथापि जब तक शब्दरूप वाक्यवृत्ति का अभ्यास-अनुशीलन मन पर छाया हुआ है तब तक परिणाम में मोक्षतत्त्व का उपस्थापन करनेवाली गाथाएँ भी बन्धन से व्यावर्तित नहीं करतीं। उनकी वाचना जब निर्ग्रन्थ-स्थिति (अंतरंग-बहिरंग दोनों) में सुस्थित होकर उन गाथाओं के सार को आत्मसात् कर लेती है, पचाकर स्वरूप-संवित्ति का अंग बना लेती है, तभी उनका बन्ध-पराङ्मुख अर्थ आत्मकल्याणकारी हो पाता है, अतः मोक्ष-बन्ध के लिए भी साधनावस्था में देवगुरुशास्त्रादि का कथंचित् बन्ध अपेक्षित है; यथा—

मृत्पिण्डदण्डचक्रादि घटो जन्मन्यपेक्षते।
उदकाहरणे तस्य तदपेक्षा न विद्यते।।

घड़े की रचना के समय मिट्टी, दण्ड, चक्र, कुम्हार इत्यादि की अपेक्षा होती है; किन्तु उसमें जल लाया जाता है, तब ये सभी अनावश्यक हो जाते हैं, इनकी कोई अपेक्षा नहीं रहती। ग्रन्थ और ग्रन्थ की प्रतिपत्ति में भी यही दृष्टान्त समझना चाहिए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शब्दों के अर्थ जब आत्मा में गहरे पैठ जाते हैं, तब ग्रन्थों की अपेक्षा नहीं रह जाती।

इन सारे प्रसंगों का सार केवल इतना ही है कि दोनों नय परस्पर सापेक्ष हैं। मोक्षमार्ग में दोनों का अवलम्बन है। पदार्थ अथवा आत्मबोध में दोनों ही यथारीति ग्राह्य हैं। केवल निश्चय अथवा केवल व्यवहार का दुराग्रह कोरा मिथ्यात्व है; जब स्वात्मोपलब्धि हो जाती है, तब दोनों स्वतः छूट जाते हैं—वहाँ पूर्ण ज्ञानज्योति ही अपने विशाल वैभव में दमकती है। आत्मोपलब्धि से पूर्व की प्रयत्नावस्था में आचार्यों ने व्यवहार को निश्चय में सहायक बतलाया है और तदनन्तर निश्चय रूप विकल्प को भी हेय बतलाकर शुद्ध स्वरूपाचरण को ही प्रमुखता दी है, अर्थात्—

मुख्योपचारविवृतिव्यवहारोपायतो यतः संतः।
ज्ञात्वा श्रयन्ति शुद्धं तत्त्वमिति व्यवहृतिः पूज्या।।

—(पद्मनन्दि पंचविंशतिका 11/11)

मुख्य शुद्धनय में उपचार कथन करनेवाला व्यवहारनय है, सज्जन पुरुष व्यवहार की सहायता से शुद्ध का अवलम्बन करते हैं, इस दृष्टि से व्यवहार भी ग्राह्य है, अधिक उपकारक और पूज्य है। अणुव्रत-महाव्रत के विवेचन में जैसे अणुव्रत को महाव्रत में सहायक माना है अथवा एक-देश और सर्वदेश का भेद किया है; वैसे ही इन नयों में भी अपेक्षा और परस्पर सहकार दृष्टि है। साधक-अवस्था में दोनों ही कार्यकारी हैं।

निरतः कात्स्र्न्यनिवृत्तो भवति यतिः समसारभूतोऽयम्।
या त्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति।।

—(पुरुषार्थसिद्ध्युपाय 41)

साक्षात् समयसार की उपलब्धि में अमृतचन्द्राचार्य प्रभृति मान्य आचार्यों ने दर्शन-ज्ञान-चारित्र की त्रयी को प्रधानता दी है और ज्ञानचारित्र द्वारा उसे प्राप्त करने पर पूरा-पूरा बल दिया है। ज्ञान और चारित्र प्रयत्नसाध्य हैं; किन्तु दर्शन के संबंध में स्थिति भिन्न है। यही कारण है कि श्रावक की प्राथमिक अवस्था को अणुव्रतों में और अणुव्रतों को महाव्रतों में हेतु माना गया है तथा ज्ञान और चारित्र को प्रयत्नाधीन कहा गया है। यद्यपि ज्ञान-चारित्र भी क्षयोपशमादि पर ही अवलम्बित हैं तथापि प्रमाद और अकर्मण्यता के उत्तरोत्तर परिहरण की दृष्टि से इनमें प्रवृत्त होना उचित है। सम्यग्दर्शन के प्रसंग में यह अवश्य कहा जा सकता है कि उसकी उपलब्धि में प्रयत्न का सीधा हाथ नहीं है, वह कालादिलब्धियों पर आश्रित है। दूसरी ओर चारित्र में यत्नवान होने पर परिणामों में निर्मलता आयेगी, अनुज्ज्वलता से अभिरक्षा होगी, फलतः परिणाम-निर्मलता में कारणभूत ज्ञान-चारित्र का तिरस्कार कर, उसकी अवहेलना करते हुए केवल सम्यग्दर्शन का दुराग्रह करना या उसकी रट लगाये रहना कार्यकारी नहीं है। तर्कसंगत और समीचीन तो यह है कि जैसे-जैसे चारित्र आगे बढ़ेगा, वैसे-वैसे परिणामों में सरलता आयेगी और आत्मानुभूति अर्थात् तत्त्वश्रद्धान का सुयोग स्वयमेव

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपस्थित होगा। यह स्वाभाविक और तर्कसम्मत प्रक्रिया है। आचार्य सम्यग्दर्शन की उपलब्धि के प्रसंग में लिखते हैं—

दैवात् कालादिसंलब्धौ प्रत्यासन्ने भवार्णवे।
भव्यभावविपाकाद्वा जीवः सम्यक्त्वमश्नुते।। —(पंचाध्यायी, 2/378)

योग्यतावश कालादिलब्धियों के प्राप्त होने पर जब संसार-समुद्र निकट रह जाता है और भव्य भाव का परिपाक होता है तब यह जीव सम्यक्त्व को प्राप्त होता है। यहाँ **प्रत्यासन्ने भवार्णवे** संसार समुद्र के निकट रहने का अर्थ, अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल की शेषता और योग्यता वश का भाव चारित्राधारित परिणाम-निर्मलता; द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का सुयोग आदि समझना चाहिए। इस तरह यह स्पष्ट निष्कर्ष है कि सम्यग्दर्शन प्रयत्नसाध्य नहीं है।

उक्त प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि हुंडावसर्पिणीरूप पंचम काल में तो सम्यग्दर्शन की, सम्यग्दृष्टियों की उपलब्धि और भी कष्टसाध्य, दुर्लभ है इसीलिए जीव अधिकांशतः मिथ्यात्वगृहीत देखे जाते हैं। उक्त समीक्षण का फलितार्थ यों लेना चाहिए कि कषायों को मन्द करने में कारणभूत ज्ञान-चारित्र की शरण ग्रहण करनी चाहिए और उन्हीं की अनवरत उपासना करनी चाहिए। इसका स्वाभाविक फल यह होगा कि कषायादि मन्द होने और मिथ्यात्व के उपशमादि के कारण सम्यग्दर्शन स्वयमेव प्रकट होने लगेगा, हो जाएगा। वस्तुतः सम्यग्दर्शन की निष्पन्नता के लिए प्रयत्न नहीं किया जाता, वह तो ज्ञान-चारित्र की उपासना का अनन्त और अपरिहार्य फल है। यदि कालादिलब्धि है तो उसकी उत्पत्ति अवश्यम्भावी है, उसे कौन टाल सकता है— अवसर्पिणी कालदोष के प्रसंग में आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—

उवसम्मइ सम्मत्तं, मिच्छत्तबलेणं पेंल्लदे तस्स।
परिवट्टंति कसाया, अवसप्पिणि-कालदोसेण।। —(रयणसार, 148)

अर्थ :– (इस) अवसर्पिणी काल-दोष से, मिथ्यात्व के प्रबल उदय से जीवों का उपशम सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है; (और फिर) कषायें उत्पन्न हो जाती हैं।

शुद्धात्मा ही समयसार

लोक में समयसार एक ग्रंथ के रूप में प्रसिद्ध है, और लोग इसी रूप में उसे जानते-पहचानते हैं। किन्तु बहुत कम लोग ऐसा जानते हैं कि **समयसार** का एक अर्थ **शुद्धात्मा** भी है।

रयणत्तयमेव गणं, गच्छं गमणस्स मोंक्ख-मग्गस्स।
संघो गुणसंघादो, समओ खलु णिम्मलो अप्पा।। —(रयणसार, 158)

अर्थ :— मोक्षमार्ग में गमन करनेवाले साधु का रत्नत्रय ही गण और गच्छ है; गुणों के संघ (समूह) से संघ है और निश्चय से निर्मल आत्मा ही **समय** है।

इसमें मोक्षमार्गी साधु को कितना निस्पृह एवं आत्मकेन्द्रित होना चाहिए—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसका भलीभाँति स्पष्टीकरण किया गया है। इसीलिए आचार्यदेव ने यहाँ पर इस बात की प्रमुखता नहीं दी कि कोई साधु कहे कि— मैं फलां गच्छ का हूँ, मेरा यह गण है, और मैं इस संघ में निवास करता हूँ। क्योंकि ऐसे चिंतन से भी उसका गण-गच्छ और संघादि के प्रति मोह बढ़ता है। और ऐसे राग-भाव की वृद्धि से वह वीतराग के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता। तथा गण-गच्छ और संघादि मोक्ष के साधन भी नहीं हैं। जबकि शुद्धात्मा के आश्रय से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है, इसलिए उस शुद्धात्मा के अनुभवरूप रत्नत्रय को ही गण-गच्छ और संघ कहा है तथा उसी निर्मल आत्मा को साक्षात् **समय** कहा है।

जैसे संसारी जीव सारी दुनिया में भ्रमण करता है और फिर लौटकर अपने घर आ जाता है, इसीप्रकार आचार्य कुन्दकुन्द ने भी **व्यवहारनय** के विषयभूत देवदर्शन-पूजा-व्रत-उपवास-तीर्थयात्रा-दान-धर्म आदि की चर्चा करने के बाद अंत में यह प्रेरणा दी है कि वास्तव में मोक्ष की प्राप्ति आत्मस्वरूप की अनुभूति से ही होगी। इसीलिए जितनी भी संगतियाँ खोजना है, उन सबको अपने शुद्धात्म स्वरूप में ही देखना चाहिए, भौतिक संयोगों में नहीं। पर्वतों में, शास्त्रों में और काय-क्लेशादि में सुख की प्राप्ति होने वाली नहीं है, क्योंकि इनमें सुख है ही नहीं। सुख तो आत्मा के अंदर विद्यमान है, इसीलिए उसी के अनुभव की प्रेरणा निष्कर्ष रूप में आचार्यदेव ने यहाँ दी है। सबसे पहले उन्होंने रत्नत्रय को ही अपना संगी-साथी बताते हुए वहीं तक सीमित रहने को कहा है। इस रत्नत्रय में सबसे पहला रत्न **सम्यग्दर्शन** है। जैसे सूर्य उदय होते ही अंधकार मिट जाता है, वैसे ही **सम्यग्दर्शन** के प्राप्त होते ही अज्ञान और मोह का अंधकार मिट जाता है। जैसे आकाश में घनघोर बादल छाये हुए हों, तथा सूर्य की एक किरण भी नज़र नहीं आती हो; तब भी हवा का मात्र एक झोंका उन बादलों को उड़ाकर ले जाता है, और सूर्य का प्रकाश सारे भूमण्डल पर छा जाता है। इसीप्रकार अज्ञान और मोह के कारण जब आत्मस्वरूप प्रतिभासित नहीं होता, तब सम्यग्दर्शनरूपी हवा का झोंका अज्ञान और मोह के बादलों को दूर करके निर्मल आत्मस्वरूप को प्रकाशित कर देता है।

मिहिरो महंधयारं, मरुदो मेहं महावणं दाहो।
बज्जो गिरिं जहा विणसिज्जदि सम्मं तहा कम्मं।। –(रयणसार, 159)

अर्थ :— जैसे सूर्य गहन अन्धकार को, वायु मेघ को, अग्नि विशाल वन को और वज्र पर्वत को नष्ट कर देता है; उसीप्रकार सम्यक्त्व कर्मों को नष्ट कर देता है।

सम्यग्दर्शन आत्मस्वरूप के बारे में निर्मल श्रद्धान का दूसरा नाम है। अपने बारे में सच्ची श्रद्धा से कभी भी विचलित नहीं होना चाहिए, ऐसा हमेशा श्रद्धान रखना चाहिए कि मैं शुद्ध, निरंजन, शाश्वत अविनाशी तत्त्व हूँ। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि मेरे स्वरूप हैं, यद्यपि संसारावस्था में मल-मूत्र के पिण्ड इस शरीर में आत्मा रह रहा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है; फिर भी वह अपने निर्मल स्वरूप के कारण सदा शुद्ध ही है। जैसे कीचड़ में पड़ा हुआ सोना कभी भी जंग आदि के द्वारा विकृत नहीं होता है, उसीप्रकार संसारावस्था में शरीर में रहते हुए भी आत्मा कभी भी शरीर के विकारों से विकृत नहीं होता है। ऐसा सम्यग्दर्शन का प्रभाव है कि सम्यग्दृष्टि जीव आत्मस्वरूप के बारे में कभी भी अपनी श्रद्धा को विचलित नहीं करता है।

मिच्छंधयार-रहिदं, हिय-मज्झं सम्म-रयण-दीव-कलावं।
जो पज्ज़लदि स दीसदि, सम्मं लोयत्तयं जिणुद्दिट्ठं।। –(रयणसार, 160)

अर्थ :— जो अपने हृदय में मिथ्यात्व-रूपी अन्धकार से रहित सम्यक्त्वरूपी रत्नदीप-समूह को प्रज्वलित करता है, वह तीनों लोकों को सम्यक् प्रकार देखता है —ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

जैसे दूधों में गायों का दूध, वृक्षों में चन्दन का वृक्ष, और रत्नों में हीरा सर्वश्रेष्ठ है, उसीप्रकार धर्मों में सम्यग्दर्शन को सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। इसी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए व्यक्ति को परपदार्थों से विमुख होकर आत्मकेन्द्रित होने का अभ्यास करना पड़ता है। और इस अभ्यास के लिए जिनेन्द्र भगवान् का मन्दिर एक सबसे बड़ी प्रयोगशाला है, क्योंकि अनेक प्रकार के व्यक्तियों और पदार्थों के उपस्थित होते हुए भी वे उनसे विचलित हुए बिना अपने आत्मस्वरूप के ध्यान में मग्न रहकर जीव को यह अनुपम आदर्श उपस्थित करते हैं कि परपदार्थों से प्रभावित हुए बिना आत्मध्यान कैसे किया जाता है। इसीलिए गृहस्थों को नित्यप्रति देवदर्शन का नियम उनके अष्ट मूलगुणों में शामिल है।

आत्मस्वरूप के अनुभव के लिए पहले जो व्यवहार दृष्टि से कथन किये हैं, उनमें हेय-ज्ञेय-उपादेय का निर्णय भी करना होगा। जैसे किसी को आम खाते देखते हैं, तो वह उसमें से रस ही चूसता है, छिलका और गुठली नहीं खाता है। यद्यपि छिलका और गुठली भी उसी आम के अंग हैं, फिर भी उसमें से वह उपादेय-पदार्थ रस को ही ग्रहण करता है तथा अनुपयोगी गुठली और छिलके को छोड़ देता है। ऐसे ही ज्ञानी जीव शरीर और परपदार्थों का आकर्षण छोड़कर मात्र शुद्धात्मस्वरूप को ही ग्रहण करते हैं। इसी शुद्धात्मस्वरूप का वर्णन करने के लिए आचार्य कुन्दकुन्द ने **समयपाहुड** नाम का एक अनुपम ग्रंथ लिखा है। इसमें **समय** शब्द का अर्थ तो निर्मल आत्मा ही है, तथा **पाहुड** शब्द का अर्थ **भेंट** या **उपहार** है। जैसे हम किसी के जन्मदिन या शादी आदि के मौके पर उसे अनेक प्रकार के उपहार देते हैं तो आचार्य कुन्दकुन्द ने हमें शुद्धात्मारूपी उपहार इस **समयसार** ग्रंथ के माध्यम से दिया है।

पवयणसारब्भासं, परमप्पज्झाण-कारणं जाण।
कम्मक्खवण-णिमित्तं, कम्मक्खवणे हि मोंक्खसुहं।। –(रयणसार, 161)

अर्थ :— आत्मा के शुद्ध स्वरूप का अभ्यास परमात्मा के ध्यान का कारण है,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऐसा जानो; (परमात्मा का ध्यान) कर्म-क्षय का कारण है और कर्म-क्षय होने पर निश्चय ही मोक्ष-सुख मिलता है।

जैसे संसार में अनेक तरह के विशेषज्ञ डॉक्टर होते हैं, कोई आंख का डॉक्टर है, तो कोई नाक-कान-गले का डॉक्टर है, तो कोई हड्डी का डॉक्टर है। इसीप्रकार शास्त्रों में भी विविध-विषयों का विशेषज्ञता के साथ वर्णन है, जैसे **गोम्मटसार** आदि ग्रन्थों में कर्म और कर्मफलादि का विस्तार से वर्णन है। **तिलोयपण्णत्ति** में तीन लोकों का वर्णन है। **पंचास्तिकायसंग्रह** में छह द्रव्यों और पाँच अस्तिकायों का वर्णन है। **महापुराण** में महापुरुषों का जीवन-चरित्र वर्णित है, उसीप्रकार **समयसार** में शुद्धात्मा का कथन किया गया है। शुद्धात्मा के वर्णन के बारे में **समयसार** सबसे बड़ा स्पेशलिस्ट है।

पूजा करते समय भी शुद्धात्मा की भावना का कितना सुन्दर वर्णन एक जगह प्राप्त होता है। यहाँ कवि कहता है कि— हे भगवन्! यह मेरा शरीर ही मंदिर है, मेरा मन ही इसमें सिंहासन है; और उस पर विराजमान शुद्धात्मा ही मेरे लिए परमात्मा है। तथा सम्यग्ज्ञानरूपी पवित्र गंगाजल से मैं इसका अभिषेक कर रहा हूँ। ऐसे धर्मध्यान के अभ्यास से परमात्मा का ध्यान करता हुआ जीव समस्त कर्मों को नष्ट कर सकता है।

धम्मज्झाणब्भासं, करेदि तिविहेण भावसुद्धेण।
परमप्पझाण-चेट्ठो तेणेव खवेदि कम्माणि।। —(रयणसार, 162)

अर्थ :— (जो) मन, वचन, काय से भाव की विशुद्धिपूर्वक धर्मध्यान का अभ्यास करता है, वह परमात्मा के ध्यान में स्थित हो जाता है। उसी से (परमात्म-ध्यान की अवस्थिति से) वह कर्मों को नष्ट करता है।

जो धर्मध्यान का अभ्यास है, वह मन-वचन-काया तीनों की एकाग्रता से होता है। मन में यदि कोई छल हो, वचन की निरर्थक प्रवृत्ति हो अथवा काया की चंचलता हो तो धर्मध्यान नहीं हो सकता। यदि हम इसतरह थोड़ी देर के लिए भी एकाग्र होने की चेष्टा करते हैं, तो हमारे जीवन में मोक्षमार्ग की शुरूआत हो सकती है। जैसे कोयले की खान में रहते हुए भी जब तक सोने को उसमें से निकालकर, तपाकर शुद्ध नहीं करते हैं, तब तक वह सोना नहीं कहलाता है। इसी प्रकार अनादिकाल से कर्ममल से मलिन आत्मा जब तक ध्यानरूपी अग्नि में तपकर शुद्ध नहीं होता है, तब तक उसे मोक्षमार्गी नहीं कह सकते हैं।

अदिसोहण-जोगेणं, सुद्धं हेमं हवेदि जह तह य।
कालादी-लद्धीए, अप्पा परमप्पओ हवदि।। —(रयणसार, 163)

अर्थ :— जिसप्रकार अतिशोधन-क्रिया से स्वर्ण शुद्ध हो जाता है, उसीप्रकार काललब्धि आदि के द्वारा आत्मा परमात्मा हो जाता है।

इसप्रकार यह स्पष्ट है कि निर्मल आत्मा के अनुभव से ही जीव मोक्षमार्ग में अग्रसर हो सकता है। अतः मैं आप सभी से कहना चाहता हूँ कि सांसारिक प्रपंचों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को छोड़कर शुद्धात्मा के अभ्यास का प्रयत्न आप मन लगाकर प्रतिदिन अवश्य करें।

धर्मः शुद्धोपयोगः स्यात्

जैन आगमग्रंथों में जीव के उपयोग का अनेक दृष्टियों से वर्णन किया गया है। कहीं ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग जैसे दार्शनिक वर्गीकरण हैं, तो कहीं आत्महित की दृष्टि से उपयोग के तीन प्रकार बताये गये हैं— शुभोपयोग, अशुभोपयोग एवं शुद्धोपयोग। इनमें शुभोपयोग को **प्रशस्त** और अशुभोपयोग को **अप्रशस्त** कहा गया है। शुद्धोपयोग साक्षात् मोक्ष का कारण होने से इसे सर्वोत्कृष्ट माना गया है। इसीलिए जैनाचार्यों ने स्पष्ट घोषणा की है कि **धर्मः शुद्धोपयोगः स्यात्**। शुद्धोपयोग को छोड़कर जितने भी अच्छे या बुरे उपयोग हैं, वे सभी आकांक्षा के परिणामों से युक्त होने के कारण साक्षात् मोक्षमार्ग नहीं हैं। इसीलिए आचार्यों ने उपयोग के इन तीन वर्गीकरणों को दो वर्गों में रखा है— शुद्ध और अशुद्ध। शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के उपयोगों को साक्षात् मोक्षमार्ग की दृष्टि से अशुद्ध ही माना है। आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं कि— शुभोपयोग रूप पुण्य-परिणाम सोने की बेड़ी के समान है, तथा अशुभोपयोग रूप पाप-परिणाम लोहे की बेड़ी के समान हैं। उनमें कीमत का भेद भले ही हो किन्तु दोनों ही बंधन के कारण हैं, मोक्ष के कारण नहीं हैं। लोग कहते हैं कि दुनिया की सबसे बढ़िया जेल लंदन में है, उसमें हर बंदी के लिए अलग कमरा, बेंच, टेलीफोन, टी.वी. आदि संसाधन भी उपलब्ध रहते हैं। खाने-पीने की भी ठीक व्यवस्था होती है, एक तरह से देखें तो जरूरत के सारे संसाधन वहाँ हैं। फिर भी एक बार जब पत्रकारों का एक दल वहाँ कैदियों से मिलने गया, और उनसे पूछा— दुनिया की सबसे बढ़िया जेल में आपको कैसा लग रहा है? तो वे कैदी बोले कि हम सभी दुःखी हैं। तब पत्रकारों ने पूछा— इतने साधन होते हुए भी आप लोग दुःखी क्यों हैं? तब वे कैदी बोले— यहाँ पर साधन तो सभी हैं; किन्तु हमें आजादी नहीं है, हम अपनी मर्ज़ी से कहीं आ-जा नहीं सकते, न ही किसी से मिल सकते हैं। इसी पराधीनता के बंधन के कारण हम सभी इन साधनों के होने पर भी दुःखी हैं।

इसीप्रकार जैसे सोने के पिंजरे में किसी तोते को रखा जाये, और सोने के ही बर्तनों में उसे बढ़िया मेवा-मिष्टान्न आदि खाने को दिया जाये, तो भी वह तोता उस बंधन के कारण दुःखी रहता है; सोने के पिंजरे में रहने के कारण अपने को सुखी नही मानता। देखिए, कितनी विडम्बना है कि जब खुले आकाश में उनमुक्त भाव से घूमता था, तब रूखे-सूखे जंगली फल खाकर और जोहड़-झरने का पानी पीकर भी वह अपने आपको सुखी मानता था। और अब शाही भोजन और केवड़े का जल पीकर भी अपने को दुःखी अनुभव करता है। इसीलिए ज्ञानियों ने कहा है कि बंधन ही सबसे बड़ा दुःख है, और मुक्ति ही सबसे बड़ा सुख। शुभोपयोग और अशुभोपयोग बंधन के कारण हैं, जबकि शुद्धोपयोग मोक्ष का कारण है; इसीलिए जैनाचार्यों ने मात्र शुद्धोपयोग की ही महिमा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गायी है, और उसे ही प्राप्त करने की प्रेरणा बारंबार दी है। हमारे जैसे परिणाम होंगे, हमारा जीवन भी उन्हीं के अनुरूप सुखी या दु:खी होगा।

बहिरब्भंतर-गंथ-विमुक्को सुद्धोपजोय-संजुत्तो।
मूलुत्तर-गुणपुण्णो, सिवगदि-पहणायगो होदि।। —(रयणसार, 145)

अर्थ :— बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह से रहित, शुद्धोपयोग से संयुक्त और मूल एवं उत्तरगुणों से युक्त (योगी) मोक्षमार्ग का नेता होता है।

परिग्रह के मूल दो भेद हैं— आभ्यन्तर-परिग्रह और बाह्य-परिग्रह। इनमें आभ्यन्तर परिग्रह के मिथ्यात्व, कषाय आदि चौदह प्रकार हैं, तथा बाह्य-परिग्रह के धन-धान्य आदि दस भेद हैं। इनमें चौबीसों प्रकार के परिग्रहों से जो अपने उपयोग को बचाकर मूलगुण और उत्तरगुणों के प्रति सावधान रहता हुआ आत्मनिष्ठ होता है, वही जीव शुद्धोपयोगी है और वही सच्चा मोक्षमार्गी है। इसीलिए ज्ञानियों ने परिणामों की विशुद्धि के लिए परिग्रह एवं मोह-ममता बढ़ानेवाली चर्चा का भी निषेध किया है। ऐसी चर्चा को आचार्यों ने **विकथा** कहा है, और इसके स्त्रीकथा, राज्यकथा, अवनिपालकथा आदि चार भेद कहे हैं। यह कथायें राग को बढ़ाती हैं, तथा शुद्धोपयोग से जीव को दूर रखती हैं; इसीलिए इन्हें **विकथा** कहा गया है। इनमें रुचि लेने वाले जीव चार गति चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करते हैं, तथा मिथ्यात्व को बढ़ाते हुए अनंत दु:ख भोगते हैं। अनेक लोग सोचते हैं कि बहुत पैसा और परिग्रह हो जाये, तो हम सुखी हो सकते हैं; किन्तु वे यह नहीं जानते कि सम्पत्ति की प्राप्ति पुण्य से होती है, तथा पुण्यवान् जीव भी आवश्यकता से अधिक संचय नहीं करते; इसीलिए गृहस्थों के लिए परिग्रह-परिमाणव्रत तथा मुनियों के लिए **अपरिग्रह-महाव्रत** का विधान जैन परंपरा में किया गया है। जब भी अत्यधिक वैभव होता है, तो वह उसीप्रकार अशुद्ध प्रक्रिया से प्राप्त होता है; जैसेकि बारिश के दिनों में बाढ़ के द्वारा आनेवाला पानी परिमाण में तो बहुत होता है, किन्तु वह मलिन ही होता है; निर्मल नहीं होता। संसारी जीवों के संसर्ग से सज्जनों का चित्त भी वैसे ही कलुषित हो जाता है, जैसेकि भैंसों के घुस जाने से तालाब का साफ पानी भी कीचड़ से मटमैला हो जाता है। इसीकारण आचार्य कुन्दकुन्द को **नियमसार** ग्रन्थ में कहना पड़ा— रागी जीवों से तो वचन-व्यवहार भी नहीं करना चाहिए।

इसीलिए ज्ञानी जीव अपने परिणामों को सँभालते हुए वैराग्य और संयमभाव का सहारा लेकर मोक्षमार्ग में अग्रसर होते हैं, तथा शुद्धोपयोग के लिए प्रयत्न करते हैं। जैसे सुनार सोने को शुद्ध करने के लिए पहले उसे आग में तपाता है, अनेकप्रकार के छैनी-हथौड़ी आदि औज़ारों से पीटता-काटता है; ठंडे पानी में डुबोता है, इसप्रकार अनेक कष्टदायी प्रक्रिया से गुजरने के बाद वह सोना कुंदन के रूप में परिशुद्ध बन पाता है। इसीप्रकार ज्ञानी जीव अनादिकाल के कर्मबंधनों के कारण अशुद्धरूप हो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रही अपनी परिणति को शुद्ध करने के लिए संयम और तप की आग में अपने को तपाते हैं, परीषहजय के कष्टों को सहते हैं; और फिर शुद्धोपयोग के शीतल जल में डुबकी लगाकर अपने को निर्मल चरित्र-संपन्न बनाते हैं, इसी को आचार्यों ने क्षायिकभाव कहा है। यह भाव स्फटिक के समान अत्यंत निर्मल होता है, जबकि हमारे परिणाम श्मशान-वैराग्य की भाँति क्षण भर को ऊपरी विरक्ति दिखाते हैं, और फिर सांसारिक मोह-माया में डूब जाते हैं।

क्योंकि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बिना शुद्धोपयोग की यह साधना संभव नहीं हो पाती है, इसीलिए साधुजन सम्यक्त्व की साधना करते हैं।

जं जादि-जरा-मरणं, दुह-दुट्ठ-विसाहि-विसविणासयरं।
सिवसुहलाहं सम्मं, संभावदि सुणदि साहदे साहू।। —(रयणसार, 146)

अर्थ :— जो सम्यक्त्व जन्म-जरा-मृत्यु और दुःखरूपी दुष्ट विषधर सर्प के विष का नाश करनेवाला है और मोक्ष-सुख का लाभ करानेवाला है, साधु उसी की भावना करता है, उसी के बारे में सुनता है और उसी की साधना करता है।

जैसे विषधर साँप आदि के काटने से व्यक्ति पीड़ित होता है, बिच्छू के काटने से भी कष्ट होता है; उसीप्रकार यह संसार भी जन्म-जरा और मृत्यु जैसे अपार दुःखों से भरा हुआ है। ऐसे दुःख में संसार में सुख की प्राप्ति का कारण यदि कोई है तो वह एकमात्र सम्यग्दर्शन है। इसीलिए सज्जन लोग उसी की प्राप्ति का उपाय निरन्तर करते रहते हैं। पाँचों इन्द्रियों और मन के माध्यम से उपयोग को बहिर्मुख न करके अन्तर्मुख करते हैं, और शुद्धोपयोग की साधना में मग्न रहते हैं। इसी के कारण उनके पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा और नये बँधने वाले कर्मों का संवर होता है।

सम्यक्त्व के कारण ही जैनदर्शन में परमात्मा को भी पूज्य कहा गया है। आराध्य, आराधक, आराधना और आराधना का फल— इन चार का मोक्षमार्गी भलीभाँति निर्णय करता है। उसके लिए आराध्य सम्यग्दर्शन है, आराधक वह स्वयं है, आराधना शुद्धोपयोग की विधि और देव-शास्त्र-गुरु आदि हैं, तथा उसका फल अतीन्द्रिय सुख एवं मोक्षमार्ग की प्राप्ति है।

किं बहुणा हो ! देविंदाहिंद-णरिंद-गणहरिंदेहिं।
पुज्जा परमप्पा जे, तं जाण पहाण-सम्मगुणं।। —(रयणसार, 147)

अर्थ :— अहो (भव्य) ! बहुत कहने से क्या लाभ है? जो परमात्मा देवेन्द्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र और गणधरेन्द्रों से पूजित हैं; उनमें सम्यक्त्व गुण की प्रधानता जानो।

मनुष्यलोक में जो त्रेषठशलाकामहापुरुष तथा स्वर्ग में सौधर्मेन्द्रादि उच्चपद हैं, उन सबकी प्राप्ति में सम्यग्दर्शन का भी विशेष योगदान माना गया है। जैसे हम कीमती जेवरात लेकर भीड़ में यदि जाते हैं, तो यह निरन्तर सावधानी रखते हैं कि कोई जेबकतरा हमारी जेब न काट ले; इसीप्रकार सम्यग्दर्शन की रक्षा के लिए हमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निरन्तर सावधान रहना चाहिए, और राग-द्वेषरूपी कैंची से सम्यक्त्व की हानि नहीं हो; इसका ध्यान रखना चाहिए। सम्यग्दृष्टि जीव परमअहिंसक भी होता है, गृहस्थ अवस्था में रहकर भी वह इन्द्रिय-संयम और प्राणी-संयम का यथायोग्य पालन करता है।

एक आर्यसमाजी ने मध्यप्रदेश में एक लेख लिखा— जैन लोग बड़े कट्टर अहिंसक होते हैं, तो किसी ने पूछा कि यह बात आप कैसे कह सकते हैं, तो उन्होंने बताया कि— अनाज मे लगे कीड़ों को दूर करने के लिए जैन उन्हें तेज धूप में नहीं बल्कि छाया में फैलाते हैं, ताकि वह कीड़े निकलकर अलग चले जायें। ऐसी ही सावधानी रात्रि में झाडू लगाने, अनछना पानी प्रयोग करने, गर्म पानी में ठंडा पानी मिलाने आदि कार्यो से बचकर जैन महिलायें निरंतर रखती हैं। इन सब सावधानियों को सम्यग्दर्शन का पोषक माना गया है, तथा इनका पालन न करने से सम्यक्त्व मलिन होता है। वैसे ही तो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति अत्यंत दुर्लभ है, और उसे इसतरह असावधानी से खोने की चेष्टा आत्मघाती ही है।

उवसम्मइ सम्मत्तं, मिच्छत्तबलेणं पेंल्लदे तस्स।
परिवट्टंति कसाया, अवसप्पिणी-कालदोसेण।। —(रयणसार, 148)

अर्थ :— (इस) अवसर्पिणी काल-दोष से, मिथ्यात्व के प्रबल उदय से जीवों का उपशम सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है; (और फिर) कषायें उत्पन्न हो जाती हैं।

जैन-परम्परा में अवसर्पिणी एवं उत्सर्पिणी कालखण्डों के छह-छह भेद माने गये हैं। वर्तमान काल में अवसर्पिणीकाल चल रहा है, और इसके दोष के कारण जीवों को उपशम-सम्यक्त्व की प्राप्ति भी अत्यंत कठिन है; और यदि हमने कषायों को नहीं घटाया तो शुद्धोपयोग नहीं रह सकेगा, और हम पुनः मिथ्यादृष्टि हो जायेंगे। इसलिए हमें सम्यक्त्व की रक्षा के लिए अपने परिणामों की निरन्तर सँभाल रखनी होगी, बिना शुद्धोपयोग के सच्चा सम्यग्दर्शन भी नहीं हो सकता। व्रत-उपवास, पूजा-पाठ, स्वाध्याय आदि व्यवहार सम्यक्त्व के हेतु तो हैं, किन्तु निश्चय सम्यग्दर्शन शुद्धोपयोग रूप ही होता है; और इसे प्राथमिक रूप में गृहस्थ अवस्था में भी प्राप्त किया जा सकता है। चक्रवर्ती भरत, पाँचों पाण्डव आदि अनेक महापुरुषों का जीवन इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि गृहस्थ अवस्था में रहकर भी इन्होंने सम्यक्त्व को कैसे निर्मल बनाये रखा था। सम्यग्दृष्टि जीव अपने सम्यक्त्व को निर्मल बनाये रखने के लिए कषायों को घटाने वाले अनेक कार्यों को बुद्धिपूर्वक करता है।

गुण-वय-तव-सम-पडिमा-दाणं-जलगालणं-अणत्थमिदं।
दंसण-णाण-चरित्तं, किरिया तेवण्ण सावया भणिदा।। —(रयणसार, 149)

अर्थ :— 8 मूलगुण, 12 अणुव्रत, 12 तप, समता, 11 प्रतिमा, 4 प्रकार के दान, जलगालन, सूर्यास्त के पश्चात् भोजन न करना, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र —ये श्रावक की 53 क्रियायें कही गई हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रही अपनी परिणति को शुद्ध करने के लिए संयम और तप की आग में अपने को तपाते हैं, परीषहजय के कष्टों को सहते हैं; और फिर शुद्धोपयोग के शीतल जल में डुबकी लगाकर अपने को निर्मल चरित्र-संपन्न बनाते हैं, इसी को आचार्यों ने क्षायिकभाव कहा है। यह भाव स्फटिक के समान अत्यंत निर्मल होता है, जबकि हमारे परिणाम श्मशान-वैराग्य की भाँति क्षण भर को ऊपरी विरक्ति दिखाते हैं, और फिर सांसारिक मोह-माया में डूब जाते हैं।

क्योंकि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बिना शुद्धोपयोग की यह साधना संभव नहीं हो पाती है, इसीलिए साधुजन सम्यक्त्व की साधना करते हैं।

जं जादि-जरा-मरणं, दुह-दुट्ठ-विसाहि-विसविणासयरं।
सिवसुहलाहं सम्मं, संभावदि सुणदि साहदे साहू।। –(रयणसार, 146)

अर्थ :— जो सम्यक्त्व जन्म-जरा-मृत्यु और दुःखरूपी दुष्ट विषधर सर्प के विष का नाश करनेवाला है और मोक्ष-सुख का लाभ करानेवाला है, साधु उसी की भावना करता है, उसी के बारे में सुनता है और उसी की साधना करता है।

जैसे विषधर साँप आदि के काटने से व्यक्ति पीड़ित होता है, बिच्छू के काटने से भी कष्ट होता है; उसीप्रकार यह संसार भी जन्म-जरा और मृत्यु जैसे अपार दुःखों से भरा हुआ है। ऐसे दुःख में संसार में सुख की प्राप्ति का कारण यदि कोई है तो वह एकमात्र सम्यग्दर्शन है। इसीलिए सज्जन लोग उसी की प्राप्ति का उपाय निरन्तर करते रहते हैं। पाँचों इन्द्रियों और मन के माध्यम से उपयोग को बहिर्मुख न करके अन्तर्मुख करते हैं, और शुद्धोपयोग की साधना में मग्न रहते हैं। इसी के कारण उनके पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा और नये बँधने वाले कर्मों का संवर होता है।

सम्यक्त्व के कारण ही जैनदर्शन में परमात्मा को भी पूज्य कहा गया है। आराध्य, आराधक, आराधना और आराधना का फल— इन चार का मोक्षमार्गी भलीभाँति निर्णय करता है। उसके लिए आराध्य सम्यग्दर्शन है; आराधक वह स्वयं है, आराधना शुद्धोपयोग की विधि और देव-शास्त्र-गुरु आदि हैं, तथा उसका फल अतीन्द्रिय सुख एवं मोक्षमार्ग की प्राप्ति है।

किं बहुणा हो ! देविंदाहिंद-णरिंद-गणहरिंदेहिं।
पुज्जा परमप्पा जे, तं जाण पहाण-सम्मगुणं।। –(रयणसार, 147)

अर्थ :— अहो (भव्य) ! बहुत कहने से क्या लाभ है? जो परमात्मा देवेन्द्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र और गणधरेन्द्रों से पूजित हैं; उनमें सम्यक्त्व गुण की प्रधानता जानो।

मनुष्यलोक में जो त्रेषठशलाकामहापुरुष तथा स्वर्ग में सौधर्मेन्द्रादि उच्चपद हैं, उन सबकी प्राप्ति में सम्यग्दर्शन का भी विशेष योगदान माना गया है। जैसे हम कीमती जेवरात लेकर भीड़ में यदि जाते हैं, तो यह निरन्तर सावधानी रखते हैं कि कोई जेबकतरा हमारी जेब न काट ले; इसीप्रकार सम्यग्दर्शन की रक्षा के लिए हमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निरन्तर सावधान रहना चाहिए, और राग-द्वेषरूपी कैंची से सम्यक्त्व की हानि नहीं हो; इसका ध्यान रखना चाहिए। सम्यग्दृष्टि जीव परमअहिंसक भी होता है, गृहस्थ अवस्था में रहकर भी वह इन्द्रिय-संयम और प्राणी-संयम का यथायोग्य पालन करता है।

एक आर्यसमाजी ने मध्यप्रदेश में एक लेख लिखा— जैन लोग बड़े कट्टर अहिंसक होते हैं, तो किसी ने पूछा कि यह बात आप कैसे कह सकते हैं, तो उन्होंने बताया कि— अनाज में लगे कीड़ों को दूर करने के लिए जैन उन्हें तेज धूप में नहीं बल्कि छाया में फैलाते हैं, ताकि वह कीड़े निकलकर अलग चले जायें। ऐसी ही सावधानी रात्रि में झाड़ू लगाने, अनछना पानी प्रयोग करने, गर्म पानी में ठंडा पानी मिलाने आदि कार्यों से बचकर जैन महिलायें निरंतर रखती हैं। इन सब सावधानियों को सम्यग्दर्शन का पोषक माना गया है, तथा इनका पालन न करने से सम्यक्त्व मलिन होता है। वैसे ही तो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति अत्यंत दुर्लभ है, और उसे इसतरह असावधानी से खोने की चेष्टा आत्मघाती ही है।

उवसम्मइ सम्मत्तं, मिच्छत्तबलेणं पेँल्लदे तस्स।
परिवट्टंति कसाया, अवसप्पिणी-कालदोसेण।। —(रयणसार, 148)

अर्थ :— (इस) अवसर्पिणी काल-दोष से, मिथ्यात्व के प्रबल उदय से जीवों का उपशम सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है; (और फिर) कषायें उत्पन्न हो जाती हैं।

जैन-परम्परा में अवसर्पिणी एवं उत्सर्पिणी कालखण्डों के छह-छह भेद माने गये हैं। वर्तमान काल में अवसर्पिणीकाल चल रहा है, और इसके दोष के कारण जीवों को उपशम-सम्यक्त्व की प्राप्ति भी अत्यंत कठिन है; और यदि हमने कषायों को नहीं घटाया तो शुद्धोपयोग नहीं रह सकेगा, और हम पुनः मिथ्यादृष्टि हो जायेंगे। इसलिए हमें सम्यक्त्व की रक्षा के लिए अपने परिणामों की निरन्तर सँभाल रखनी होगी, बिना शुद्धोपयोग के सच्चा सम्यग्दर्शन भी नहीं हो सकता। व्रत-उपवास, पूजा-पाठ, स्वाध्याय आदि व्यवहार सम्यक्त्व के हेतु तो हैं, किन्तु निश्चय सम्यग्दर्शन शुद्धोपयोग रूप ही होता है; और इसे प्राथमिक रूप में गृहस्थ अवस्था में भी प्राप्त किया जा सकता है। चक्रवर्ती भरत, पाँचों पाण्डव आदि अनेक महापुरुषों का जीवन इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि गृहस्थ अवस्था में रहकर भी इन्होंने सम्यक्त्व को कैसे निर्मल बनाये रखा था। सम्यग्दृष्टि जीव अपने सम्यक्त्व को निर्मल बनाये रखने के लिए कषायों को घटाने वाले अनेक कार्यों को बुद्धिपूर्वक करता है।

गुण-वय-तव-सम-पडिमा-दाणं-जलगालणं-अणत्थमिदं।
दंसण-णाण-चरित्तं, किरिया तेवण्ण सावया भणिदा।। —(रयणसार, 149)

अर्थ :— 8 मूलगुण, 12 अणुव्रत, 12 तप, समता, 11 प्रतिमा, 4 प्रकार के दान, जलगालन, सूर्यास्त के पश्चात् भोजन न करना, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र —ये श्रावक की 53 क्रियायें कही गई हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

केवल पानी छानना ही नहीं बल्कि पानी छानकर उसकी जलगालन-विधि पूरी करने पर ही आप सच्चे जैन कहे जा सकते हैं। और सम्यग्दृष्टि जीव इसकी सावधानी अवश्य रखता है, क्योंकि यह उसकी जीवदया का परिचायक है। इससे आहारशुद्धि और परिणामशुद्धि दोनों ही पलती हैं। जो नामधारी जैन हैं, उन्हें भी कम से कम जैन संस्कारों का परिचय तो होना ही चाहिए, भले ही वह उन्हें पूरी तरह पालन नहीं कर सकें। बेलगाँव के पास ऐसा ही एक नामधारी व्यक्ति था, वह किसी धार्मिक कार्य में कोई भाग नहीं लेता था; मात्र तलवार बाँधकर घोड़े पर इधर से उधर घूमता रहता था। एक बार कुछ मुसलमानों ने जैनों की पालकी पर आक्रमण कर दिया, यह जानते ही उसका जैनत्व जागृत हो गया और वह अपनी तलवार लेकर वीतराग भगवान् की प्रतिमा की रक्षा के लिए अपने प्राणों की बाजी लगाकर वहाँ पहुँच गया, तथा रोज पूजा-पाठ करनेवाले जैन जिस परिस्थिति में घबराकर भाग गये, उस स्थिति में उसने जैन-परम्परा के गौरव की रक्षा की। इसीलिए आचार्यों ने यह कहा कि आप शुद्धोपयोगरूप निश्चय धर्म की जितनी चाहें प्रशंसा करें, किन्तु कभी भी किसी का तिरस्कार न करें; क्योंकि नामधारी जैन भी जब इतना भला कर सकता है तो जो शुद्धोपयोग रूप भाव से जैन होगा, वह जैनत्व की प्रभावना के लिए और स्व-पर कल्याण के लिए क्या नहीं कर सकता? आप सभी व्यवहार धर्म के मार्ग को अपनाते हुए शुद्धोपयोगरूपी सच्चे धर्म को प्राप्त करने की चेष्टा करें, यही आचार्य कुन्दकुन्द की भावना है।

भूतार्थ का औचित्य

सूक्ष्मो भगवद्धर्मः। —(पुरुषार्थसिद्धि, 79)

अर्थ :— भगवद्धर्म अत्यन्त सूक्ष्म है।

हेयोपादेय-विज्ञानं न चेत् व्यर्थः श्रमः श्रुतौ। —(क्षत्रचूडामणि, 2.44)

अर्थ :— यदि हेय और उपादेय विज्ञान न हो तो श्रुति के लिए किया गया परिश्रम व्यर्थ चला जाता है।

सम्मत्तादो णाणं णाणादो सव्वभाव-उवलद्धी।
उवलद्ध-पदत्थो पुण, हेयाहेयं वियाणादि।। —(मूलाचार, 903)

अर्थ :— सम्यक्त्व से ज्ञान-सम्यग्ज्ञान होता है, सम्यग्ज्ञान से सब पदार्थों के स्वरूप की पहचान होती है और जो पदार्थों के स्वरूप को अच्छी तरह जान लेता है, वही हेय और उपादेय को जानता है।

भूतार्थकथन

श्लाघ्यः स एव गुणवान् रागद्वेषबहिष्कृता।
भूतार्थकथने यस्य स्थिरा स्यात् सरस्वती।। —(राजतरंगिणी, 2/7)

अर्थ :— वही मनुष्य गुणवान् श्लाघनीय है जिसकी वाणी राग-द्वेषों का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बहिष्कार कर एक न्यायमूर्ति के समान भूतार्थ (सत्यार्थ) घटनावलियों को यथार्थ (याथातथ्य) रूप से प्रस्तुत करती है।

बारहवें दृष्टिवादांग के अंतर्गत निरूपित चौदह प्रकारों में दूसरा आग्रायणीपूर्व है— **अग्गायणीय पुव्वं।** —(आचार्य कुन्दकुन्द, सुदभत्ति 5)

आग्रायणीयमीडे। —(आचार्य पूज्यपाद, श्रुतभक्ति-क्रियाकलाप, श्लोक 10)

संस्कृत भाष्य— **षण्णवति-लक्ष-पदमंगानामग्रभूतार्थस्य प्रधानभूतार्थस्य प्रतिपादकं आग्रायणीयम् 96,00,000 ईडे स्तौमि।**

छियानवें लाख पदों वाले, अंगों में अग्रभूत-प्रधान ऐसे भूतार्थ के प्रतिपादक आग्रायणी पूर्व की मैं पूजा एवं स्तुति करता हूँ।

बीजपदं सूचयति

सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया। —(बृहद्द्रव्यसंग्रह, 13)

एकबीजाक्षरात् शेषशास्त्र-ज्ञानं बीजबुद्धिः। —(बृहद्द्रव्यसंग्रह)

थोवम्हि सिक्खदे जिणदि। —(मूलाचार, 10/6)

अल्प-शिक्षा से भी रागादि अंतरंग शत्रुओं को जीत सकता है।

जीवमजीवं दव्वं। —(बृहद्द्रव्यसंग्रह, गाथा 1)

टीका— **निर्दोष-परमात्मादि-नवपदार्थानां च स्वरूपमुपदिष्टम्।** —(बृहद्द्रव्यसंग्रह)

अर्थ :— निर्दोष परमात्मादि नवपदार्थों के स्वरूप का उपदेश किया है।

समस्त विश्व इन्हीं नौ पदार्थों में समाविष्ट है—

जीवाजीव-पुण्ण-पाप-आसव-संवर-णिज्जर-बंध-मोक्खेहि णवहि पयत्थेहि विदिरित्तमण्णं ण किं पि अत्थि, अणुवलंभादो। —(छक्खण्डागम)

अर्थ :— जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष—इन नौ पदार्थों के सिवा अन्य कुछ भी नहीं है; क्योंकि इनके सिवा अन्य कोई पदार्थ उपलब्ध नहीं होता।

सम्माइट्ठी — ण च णवपयत्थ-विसय-रुइ-पच्चय-सद्धाहि विणा ज्झाणं संभवदि, तप्पवुत्तिकारणं संवेग-णिव्वेयाणं अण्णत्थ-असंभवादो। —(छक्खण्डागम)

अर्थ :— वह (ध्याता) सम्यग्दृष्टि होता है। कारण कि नौ पदार्थ-विषयक रुचि, प्रतीत और श्रद्धा के बिना ध्यान की प्राप्ति सम्भव नहीं है; क्योंकि उसकी प्रवृत्ति के कारण संवेग और निर्वेद अन्यत्र नहीं हो सकते।

एक ही जीवात्मा उपादान कार्य और कारण है—

उप्पज्जंति कज्जं कारणमप्पा णियं वि जणयंतो।
तम्हा इह ण विरुद्धं एकस्स वि कारणं कज्जं।। —(नयचक्र, 366)

अर्थ :— कार्य को उत्पन्न करने से जीवात्मा कारण है और स्वयं ही उत्पन्न होने से कार्य है। इसलिए एक ही जीवात्मा का कारण और कार्य होना विरुद्ध नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भूतार्थपथप्रस्थितबुद्धेरात्मैव तत्त्रितयम्। —(पद्मनन्दि पंचविंशति, 11.609)

अर्थ :— जिन भव्य आत्माओं की बुद्धि भूतार्थ मार्ग में स्थित है।

शुद्धनय से जीव तथा अजीव का भेद जानना सम्यक्त्व है—

भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोंक्खो य सम्मत्तं।। —(समयसार, 13)

अर्थ :– शुद्ध निश्चयनय से जाने हुए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये नवतत्त्व सम्यक्त्व हैं। (अभेदोपचार से सम्यक्त्व का विषय और कारण होने से सम्यक्त्व हैं अथवा शुद्धनय से नवतत्त्वों को जानने से आत्मा की अनुभूति होती, अतः सम्यक्त्व हैं)।

अर्थात् भूतार्थ से जाने हुए जीव और अजीव, पुण्य और पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष सम्यक्त्व हैं।

ततोऽमीषु नवतत्त्वेषु-भूतार्थनयेनैको जीव एव प्रद्योतते।

अर्थ :— इसलिए इन नव-तत्त्वों में भूतार्थनय से देखा जाय, तब जीव ही एकरूप प्रकाशमान है।

भूदत्थेणाभिगदा। —(मूलाचार, 203)

टीका— **यद्यप्ययं भूतशब्दः पिशाच-जीव-सत्य-पृथिव्याद्यनेकार्थे वर्तते तथाप्यत्र सत्यवाची परिगृह्यते।**

अर्थ :— भूतार्थ उसमें से यद्यपि भूत शब्द पिशाच, जीव, सत्य, पृथ्वी आदि अनेकार्थ में विद्यमान है, फिर भी यहाँ पर सत्य-अर्थ में लेना चाहिए।

भूतार्थप्रकाशकम्। —(धवला 1)

अर्थ :— सत्यार्थ के प्रकाशक, अवबोधन करनेवाली शक्ति-विशेष को ज्ञान कहते हैं। अर्थात् **भूतार्थशूरो।** —(पं. आशाधरसूरि, जिनसहस्रनाम, 10-132)

स्वोपज्ञ टीका— भूतार्थेन परमार्थेन सत्यार्थेन शूरो भूतार्थशूरः अथवा भूतः प्राप्तः अर्थः **आत्म-पदार्थो** येन स भूतार्थः युक्तार्थस्तत्र शूरः।

निश्चयनय भूतार्थ और व्यवहारनय अभूतार्थ है—

ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूदत्थमस्सिदो खलु, सम्मादिट्ठी हवदि जीवो।। —(समयसार, 11)

अर्थ :— व्यवहारनय अभूतार्थ है और शुद्धनय भूतार्थ है। जो जीव भूतार्थ के आश्रित है– भूतार्थ का आश्रय लेता है, निश्चय ही वह सम्यग्दृष्टि है।

ववहारस्स दरीसणमुवदेसो वण्णिदो जिणवरेहिं।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा।। —(समयसार, 46)

अर्थ :– ये समस्त अध्यवसानादिक भाव जीव हैं ऐसा जिनेन्द्रदेव ने जो उपदेश दिया है, वह व्यवहार नय का कथन है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सर्वे एवैतेऽध्यवसानादयो भावाः जीव इति यद्भवद्भिः सकलज्ञैः प्रज्ञप्तं तदभूतार्थस्यापि व्यवहारस्यापि दर्शनम्। —(आत्मख्याति)

ये सब अध्यवसानादिक भाव जीव हैं— ऐसा जो भगवान् सर्वज्ञदेव ने कहा है, वह अभूतार्थ असत्यार्थ रूप जो व्यवहारनय, उसका मत है।

श्रुतभवनदीपक नयचक्र के अनुसार निश्चय से भूतार्थ का प्रकाश चमक रहा है—

जिनपतिमतमह्यां रत्नशैलादपापाद्, इह हि समयसाराद् बुद्धबुद्ध्या गृहीत्वा।
प्रहतघनविमोहं सुप्रमाणादिरत्नं, श्रुतभुवनसुदीपं विद्धि तद्व्यापनीयम्।। 2।।

अर्थात् तीर्थंकर जिनपति का धर्म एक पृथ्वी है। उसमें समयसार नामक प्रमाण नयरूपी रत्नों का पहाड़ है। इस श्रुतभवनदीपक नयचक्र की रचना उसी से की गयी है। यह श्रुतभवन दीपक घने मोहान्धकार को समाप्त करनेवाला है, इसमें सम्यक् भूतार्थ नयादि रत्न भरे हैं।

प्रायः भूतार्थबोधविमुखः—

निश्चयमिह भूतार्थं, व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम्।
भूतार्थबोधविमुखः, प्रायः सर्वोऽपि संसारः।। —(पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 5)

अर्थ :— इस आगम में निश्चयनय को भूतार्थ और व्यवहारनय को अभूतार्थ वर्णन करते हैं। बहुत करके भूतार्थ अर्थात् निश्चयनय के ज्ञान से विरुद्ध जो अभिप्राय हैं, वे समस्त ही संसार स्वरूप हैं।

व्यवहारनय अभूतार्थ और निश्चयनय भूतार्थ है—

व्यवहारोऽभूतार्थो भूतार्थो देशितस्तु शुद्धनयः।
शुद्धनयमाश्रिता ये प्राप्नुवन्ति यतयः पदं परमम्।।—(पञ्चविंशतिः, 606)

अर्थ :— व्यवहारनय अभूतार्थ असत्य पदार्थ को विषय करनेवाला तथा निश्चयनय भूतार्थ (यथार्थ) वस्तु को विषय करनेवाला कहा गया है। जो मुनिराज शुद्ध निश्चयनय का आश्रय लेते हैं वे उत्कृष्ट पद को प्राप्त करते हैं।

यद्यपि मोक्षकार्ये भूतार्थेन परिच्छिन्नं आत्माद्युपादानकारणं भवति। —(नयचक्र, 3)

अर्थ :— यद्यपि मोक्षरूपी कार्य की सिद्धि में भूतार्थ से जाने गये आत्मा आदि ही उपादान कारण हैं।

एकार-ओकारयोः स्वरे परे संधिर्न भवति। एदेतोः स्वरे।। 1-7।।
—(हेम. प्राकृत व्याकरण)

प्राकृत भाषा व्याकरण में ए अथवा ओ के पश्चात् कोई स्वर आ जाए, तो परस्पर में इस ए अथवा ओ के साथ आगे आए स्वर की सन्धि नहीं होती है।

एत्थ अकारो किण्ण सुणिज्जदे? संधि-णिद्देसादो। —(महाबंध, प्रस्तावना)

सूत्र में अकार क्यों नहीं सुना जाता? संधियुक्त-निर्देश होने से उक्त अकार का यहाँ श्रवण नहीं होता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुख दुःख की पहिचान : तत्त्वज्ञान से

हम दुःखी क्यों हैं और सुखी क्यों हैं? जो मथुरा का शिलालेख है— कंकाली टीला उसमें ब्राह्मीलिपि में एक वाक्य है कि यह मन्दिर बनाया, मानस्तम्भ बनाए, किसलिए? **सर्वसत्त्व सुखाय।** सारे प्राणी-जगत् के सुख के लिए। सत्त्व शब्द का अर्थ है— 84 लाख योनियों में चारों गतियों के जीव। उन जीवों के हित के लिए मैंने यह मन्दिर बनवाया। अकलंकदेव ने सत्त्व शब्द का अर्थ चारों गतियों में दुखी जीवों से किया है। जब हम प्रतिक्रमण पढ़ते हैं— पाणभूतजीव-सत्ताणं इत्यादि। भगवान् ऋषभदेव ने इस पृथ्वी मण्डल के जीवों के सुख के लिए उपाय बताए थे। क्योंकि कल्पवृक्षों के विलुप्त होने से जनता आकुलित होगी, यह उन्हें पता था। आकुलता भी दुःख का कारण है। इसीलिए दौलतराम जी ने **आकुलता बिन कहिए** शब्द का प्रयोग किया है। निराकुलता की बात कही है। यथा—

सुप्रभातं तवैकस्य वृषभस्य महात्मनः।
येन प्रवर्तितं तीर्थं भव्य-सत्त्व-सुखावहम्।।

हम जो सामायिक पाठ पढ़ते हैं उसमें भी हम बोलते हैं— सत्त्वेषु मैत्री, अर्थात् 84 लाख चारों गतियों में रहने वाले समस्त प्राणियों से हमारी मित्रता। मित्रता करना दुनिया के अन्दर। मेरा इष्ट है इसलिए मित्र है, ये दुष्ट है इसलिए मेरा मित्र नहीं है, यह भेदभाव मिटाकर उन्होंने कहा— सत्त्वेषु मैत्री, समस्त प्राणी जगत् से मित्रता। तो धर्म इतना व्यापक है और हम दुखी क्यों हैं? दुःख आते नहीं है, दुःख को हम बुला लेते हैं। क्यों आएँ बेचारे वे दुःख? कहते हैं— किसने हमको दुःख दे दिया। कोई किसी को दुःख नहीं दे सकता। दुःख हम बुलाते हैं, तब आते हैं और दुःख एक काल्पनिक चीज है। ये सब इन्द्रियजन्य हैं, इसलिए कृत्रिम हैं। इन्द्रियजन्य दुःख भी जब कृत्रिम हैं तो सुख भी कृत्रिम हैं। हम दुःख को कैसे बुलाते हैं, क्यों बुलाते हैं, यह हमें समझना है। यह जो दुख है बहुत विचित्र लीला है इसकी। और सुख-दुःख के लिए दौलतराम जी ने कहा है— **पुण्य-पाप फलमांहि, हरख बिलखो मत भाई।** पाप बढ़ गया तो दुखी हो गये, पुण्य बढ़ गया तो सुखी हो गये। तो बैंक बैलेंस बराबर है। एक बैटरी चार्ज करने जैसा है, चार्ज कर लिया तो रोशनी, उसका उपयोग किया तो वह डिस्चार्ज हो गई। फिर अँधेरा, फिर चार्ज करो। इस प्रकार यह दुःख-सुख अशाश्वत है, अस्थाई है। पाप-पुण्य क्या चीज है? मैं कुछ काल्पनिक बात नहीं बता रहा हूँ। किसी आदमी ने कहा है— एक पुण्य से पाप अच्छा है। बोले, वो कैसे? एक सुपुत्र से कुपुत्र अच्छा है। बोले, वो कैसे? इसे ध्यान से समझो। सुपुत्र तो मोह में फँसा देगा, माता-पिता सबको और कुपुत्र होगा तो वह वैराग्य उत्पन्न होगा, कि आप जंगल में जाइये, आपने मेरा सर्वनाश कर दिया। तो आपको वैराग्य उत्पन्न होगा, तो वैराग्य उत्पन्न करने वाला कुपुत्र अच्छा है, कि संसार में फँसाने वाला सुपुत्र

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अच्छा है? इसलिए पाप-पुण्य यह दोनों सम्यक्‌दर्शन के बिना निरर्थक हैं। इनकी कोई कीमत नहीं है। पुण्य-पाप का जो खेल है, इसको समझना बहुत जरूरी है। जो अशाश्वत पाप-पुण्य है उसके पीछे हम लगे हुए हैं। शाश्वत जो तत्त्व हैं, आत्म तत्त्व, सर्वज्ञ-तत्त्व उसको हमने धक्का दे दिया और अशाश्वत ने हमें धक्का दे दिया। हम न इधर के रहे ना उधर के। न घर के रहे, न घाट के। यह अनादिकाल से होता आ रहा है। हमें तत्त्वों को समझना बहुत जरूरी है। हम तत्त्वों को नहीं समझते हैं जो मूल तत्त्व हैं। अनादिकाल से पाप-पुण्यों को जो बटोरते आ रहे हैं और पाप-पुण्य के जो खेल हम दुनिया में देखते हैं, अशाश्वत नहीं हैं। यह बात भी सत्य है कि हमें अपने इस सारे संसार के सुख-दुःख से, इन्द्रियजन्य, कृत्रिम सुख-दुःख से मुक्त होने के लिए प्रयास करने चाहिए। सुख-दुःख की पहिचान तत्त्वज्ञान से ही हो सकती है। यही सही ज्ञान हमें कृत्रिम सुख-दुख से मुक्त कर सकता है। भगवान महावीर जैसे महापुरुषों के उपदेशों का यही सार है।

व्यवहार और निश्चयनय

ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं।
ण वि णाणं ण चरित्तं, ण दंसणं जाणगो सुद्धो।। –(समयसार, 7)

अर्थ :– ज्ञान के चारित्र, दर्शन, ज्ञान ये तीन भाव व्यवहार नय से कहे गये हैं। निश्चय नय से न ही ज्ञान है, न चारित्र है, न दर्शन है। वह तो शुद्ध ज्ञायक भाव है।

जैनशास्त्रों में किसी भी कथन का ठीक-ठीक अर्थ समझने के लिए नयों की बहुत सुन्दर व्यवस्था की गई है, जैसेकि लोक में सप्तपदी होती है, उसी प्रकार नय भी सात होते हैं। तत्त्वार्थसूत्र में इनके नाम इसप्रकार गिनाये हैं– 1. नैगमनय, 2. संग्रहनय, 3. व्यवहारनय, 4. ऋजुसूत्रनय, 5. शब्दनय, 6. समभिरूढ़नय, 7. एवंभूतनय।

नय का लक्षण जैनाचार्यों ने लिखा है– **ज्ञातुरभिप्रायो नयः** अर्थात् ज्ञाता के हृदय का जो अभिप्राय होता है, उसे नय कहते हैं। ज्ञाता के हृदय का यह अभिप्राय जब वचनों के माध्यम से व्यक्त होता है, तो उसे 'वक्ता का अभिप्राय नय है' इसप्रकार ही कहा जाता है। नय शब्द का अर्थ है दृष्टि-विशेष अर्थात् जिस दृष्टि से वक्ता बोल रहा है, वही नय है। नय सुननेवाले के हृदय को वक्ता के अभिप्राय की ओर ले जाता है, अतः श्रोता के भी अभिप्राय को नय कहते हैं।

अध्यात्म-ग्रंथों में दो मूलनय माने गये हैं— 1. निश्चयनय और 2. व्यवहारनय। जैसे दो आँखें हैं, तो एक आँख से वस्तु का पूर्णरूप नहीं दिखता। दो पैर हैं, तो अकेले एक पैर से चलते नहीं बनता। रेल की दो पटरियाँ हैं, अकेली एक पटरी पर रेल नहीं चल सकती। क्योंकि ये सभी चीजें एक-दूसरे की मददगार हैं। इसीप्रकार जैन-ग्रन्थों के रहस्य को समझना है, आचार्यों के कथन को भलीभाँति जानना है, तो निश्चय और व्यवहार दोनों नयों को अच्छी तरह समझना पड़ेगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एगेण विणा छिज्जदि तित्थं अण्णेण पुण तच्चं।

अर्थात् यदि व्यवहारनय का लोप करेंगे, तो तीर्थ का लोप हो जायेगा तथा निश्चय का लोप करेंगे, तो तत्त्व कभी भी समझ में नहीं आ सकेगा। कहने का अभिप्राय यह है कि व्यवहारनय के बिना उपदेश देना संभव नहीं है तथा निश्चयनय के बिना तत्त्वज्ञान के अभाव में आत्महित नहीं हो सकता। इसप्रकार दोनों का अपना-अपना महत्त्व है।

नयों के तीन भेद भी आचार्यों ने किये हैं– (1) शब्दनय, (2) अर्थनय एवं (3) ज्ञाननय। जैसेकि आपने किसी चीज का नाम लिया; उदाहरण के लिए कागज पर घड़ा लिख दिया और उसे रटकर याद कर लिया, इससे घड़ा शब्द तो याद हो गया; किन्तु घड़ा किसे कहते हैं? वह किस काम आता है? —इत्यादि का ज्ञान नहीं हो पाया। अतः यह मात्र **शब्दनय** हुआ। फिर जब हम कुम्हार के घर जाकर घड़ा देखते हैं, तो पता चलता है कि यह मिट्टी का बनता है, लाल रंग का होता है और पानी भरने के काम आता है। चूँकि अब उस व्यक्ति ने घड़े को जान लिया है, अतः यह अर्थनय हुआ। फिर हो सकता है कि वह व्यक्ति कुम्हार के घर से चला आये, फिर भी उसके ज्ञान में घड़ा शब्द एवं घड़ेरूप पदार्थ के बिना भी जो घड़े के आकार-प्रकार तथा उपयोगिता की जानकारी रहती है, वह मात्र ज्ञान से निर्मित है; अतः उसे ज्ञाननय कहा गया है। इनका बड़ा महत्त्व है। दृष्टांत के अनुसार इसे **शब्द घड़ा, अर्थ घड़ा, ज्ञान घड़ा** भी कह सकते हैं। यदि कोई घड़े का नाम भूल भी जाये तथा मिट्टी का घड़ा फूट भी जाये, तो शब्द घड़ा एवं अर्थ घड़ा के अभाव में घड़े का ज्ञान बचे रहने से आप उसका आकार-प्रकार एवं उपयोगिता आदि सभी बातें बता सकते हैं। इससे स्पष्ट है कि ज्ञाननय की बहुत बड़ी महिमा है; क्योंकि यह कभी भी नष्ट नहीं होता।

जो लिखने के अक्षर होते हैं वो **द्रव्याक्षर** और **भावाक्षर** दो प्रकार के होते हैं। **द्रव्याक्षर** उसको कहते हैं, जो स्याही से, पेंसिल से कागज़ पर लिखते हैं। द्रव्य बोले तो वस्तु से लिख दिया। **भावाक्षर** क्या चीज है? जब स्कूल में बच्चा जाता है। उसमें बार-बार उल्टा-सीधा लिखता है। अध्यापक बार-बार सुधरवाता रहता है। तो जब आपका भावाक्षर '।' अथवा **अ** या A, B, C, D जो ज्ञान में अंकित हो जाते हैं, वो कभी नष्ट नहीं होते हैं। रात में कभी जगा दिया और अँधेरे में कह दिया A लिखो। तो आप अँधेरे में **A** लिख सकते हैं। कैसे लिख सकते हैं अँधेरे में? **अ** लिखो बोला, तो **अ** भी लिख सकते हैं घनघोर अँधेरे में। आँख मींचकर भी लिख सकते हैं। क्यों? वो ज्ञानाक्षर नष्ट नहीं होता है। आपके ज्ञान में जो उसका आकार बना है– अ, आ, इ, ई अथवा A, B, C, D वह कभी नष्ट नहीं होता है।

अब शब्द-समयसार, अर्थ-समयसार और ज्ञान-समयसार की ओर चलते हैं। —ये तीन समयसार हैं, शब्द-समयसार — जो शब्दों के द्वारा रचना हुई। अर्थ—समयसार — जो उसमें कथन कर दिया, विषय को लेकर जीव, पुद्गल, कर्म वगैरह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और ज्ञान-समयसार — जो आपके आत्मा के अंदर ये दोनों जो कर्म और शरीर हैं, और ये सब अलग हैं —ऐसा जो पक्का ज्ञान होता है, वो ज्ञान-समयसार है, फिर वो कभी भूलता नहीं। शरीर अलग है, आत्मा अलग है, शरीर तो जड़ है, पुद्गल है, आत्मा अमूर्तिक है, ज्ञानमय है, निराकार, निरंजन है, न तलवार से आत्मा कटता है। शरीर कट सकता है, किन्तु आत्मा नहीं। जैसे आकाश में तलवार चलाओ, आकाश नहीं कटता। आकाश में अग्नि जलती है, आकाश नहीं जलता, आकाश में पानी बरसता है, पर आकाश गीला नहीं होता। आकाश में हवा चलती है, तो वो सूखता नहीं। ऐसे ही आपका आत्मा जो है, वो अमूर्तिक है। न तलवार से कट सकता है, न आग से जल सकता है, न पानी से गीला हो सकता है, न हवा से सूखता है; वो अमूर्तिक, ज्ञानात्मक है। तो आपको शब्द-समयसार, अर्थ—समयसार, ज्ञान-समयसार बताते हैं। शब्दात्मा, अर्थात्मा, ज्ञानात्मा तीन आत्मा को समझता है। **आत्मा** बोले तो **शब्दात्मा** हो गया। अर्थ बोले तो जीव भी एक द्रव्य है। षट्द्रव्यों में अग्रस्थान किसका है? जीव का है। पंचास्तिकाय में अग्रस्थान किसका है? नवपदार्थ में अग्रस्थान किसका है? और भाव में सप्ततत्त्व में अग्ररथान किसका है? देखो, सबके प्रथम जीव को ही रखा उन्होंने। हमें उसकी प्राप्ति करनी है। अजीव की नहीं, वो तो साथ संयोगमात्र है।

नय तो हृदय के अभिप्राय को कहते हैं, बताया था मैंने। जो हमारे मुँह से, हृदय से अभिप्राय निकल गया उसको नय कहते हैं। **ज्ञातुरभिप्रायो नयः।** राजवार्तिक, तिलोयपण्णत्ति सभी ग्रंथों में लिखा है। ज्ञाता के, जानकार के, विद्वान् के हृदय से कोई बात निकलती है, तो एक प्वाइंट बनता है, एक नय बनता है।

व्यवहारनय और निश्चयनय कहे गये हैं, इनमें जो पर्यायार्थिकनय का कथन किया जाता है, वह व्यवहारनय है, और जो द्रव्यार्थिकनय का कथन किया जाता है, वह निश्चयनय है। भेद करके जो कथन किया जाता है, वो व्यवहारनय है। जैसे अग्नि जल रही है, तो उसमें भेद कर दिया। एक दाहकत्त्व गुण, जलते रहने का एक गुण। एक रोशनी फैलाने का गुण और एक गर्मी फैलाने का गुण। तीन गुण हैं, इसको **आत्मभूत लक्षण** कहते हैं। तो कथन करनेवालों ने कहा—देखो, इसमें दाहकत्त्व गुण है। प्रकाश-गुण और प्रताप-गुण है। गर्मी फैलाने का, रोशनी फैलाने का और दाहकत्त्व। ऐसे हमारे आत्मा में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र —ये तीन अलग नहीं हैं। परन्तु कथन के समय श्रद्धागुण, ज्ञानगुण और चारित्रगुण —ये तीन भिन्न समझाने के लिए उन्होंने तीन बातें उसमें से बतायी हैं, वे अभेद हैं। पर अभेद में भेद बुद्धि करके व्यवहारनय से समझाया जा सकता है, निश्चयनय से नहीं। निश्चयनय में तो अखण्ड की बात करते हैं। इसमें अमृतचंद्र ने इसके लिए बहुत सुंदर शब्द लिखे टीका में कि बहुत मन लगाकर याद करना चाहिए कि नय क्यों पढ़ें? प्रमाणवाक्य जो होता है, उसको समझाने के लिए नयवाक्य चलते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धर्म और **धर्मी** दो शब्द हैं। धर्म तो छोटा टुकड़ा होता है और धर्मी जो होता है, वो अखण्ड होता है। जैसे आपने दूध कह दिया, ये प्रमाणवाक्य है, ये धर्मी है और धर्म क्या है? ये सफेद है —यह एक धर्म हो गया। पतला है —यह दूसरा धर्म हो गया। चिकना है —यह तीसरा धर्म हो गया। मीठा है —यह चौथा धर्म हो गया। तो उस दूध के अन्दर कितने गुण हैं, उन सबको अलग-अलग करते जाओ। ये धर्म अर्थात् व्यवहारनय से करते हैं, ये समझने के लिए, समझाने के लिए ये केवल व्यवहारनय है कि— भइया ! इसमें इतने गुण हैं। आप इस दूध के और भी गुण बता सकते हैं। तो आत्मा में अनंत गुण हैं। पर शब्दों की पकड़ के बाहर हैं। कुछ एक सीमा, मर्यादा है। वहाँ तक तो वो व्यवहारनय बता सकता है। और जब व्यवहारनय घुटने टेक देता है, तब वहाँ से निश्चयनय शुरू होता है और निश्चयनय भी जब घुटने टेक देता है, तब आत्मानुभूति होती है। दोनों को बाहर खड़े करने पड़ेंगे। आत्मानुभूति के समय दोनों 'नय' नहीं है। उसमें अमृतचंद्र आचार्य ने आगे कहा है कि—जहाँ दोनों नहीं, वहाँ पर कुछ विकल्पजाल नहीं। नय तो समझने व समझाने के लिए हैं।

हमारा जो आत्मा है, वो धर्मी है, अखण्ड है। इसको प्रमाणवाक्य कहते हैं न्यायशास्त्र में। वो उस आत्मतत्त्व को हम एक-एक बातों से जानते जायें, तो आनंद आता है। ये न्यायशास्त्र, तर्कशास्त्र जो है, बड़ा विचित्र है।

नय के द्वारा इसको एक-एक, अलग-अलग करके बताते हैं। पर उन्हें वस्तु से अलग नहीं कर सकते हैं। कोई कहे— चीनी का मीठापन दुकान में रखो और चीनी दे दो। ऐसा कोई कर सकता है क्या? देख लो, विचार करो। अरे, वो चीनी और मीठापन अलग नहीं हैं, तो ऐसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य ये तीनों अलग नहीं हैं। ये अभेद हैं, ये अलग नहीं किये जा सकते। पर समझाने के लिए, ये दानेदार है, मीठा है, सफेद है। तीन गुण हैं, भाई सफेदपना वहाँ रखो, मीठापना बीच में रखो और दानेदान उधर रखो। ऐसे कैसे होगा? वो तीनों अखण्ड हैं। एक दाना भी अगर है। एक ही दाना चीनी का मिठास, सफेद और दानेदारपना है। इसी तरह से आत्मद्रव्य जो है श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र —ये तीनों अभेद हैं। इनको टुकड़े नहीं कर सकते। इसीलिए यहाँ पर कहा है ववहारेणुवदिस्सदि अर्थात् व्यवहारनय से उपदेश दे रहे हैं। आपके आत्मा में श्रद्धागुण है, ज्ञानगुण है, चारित्रगुण है। ये समझाने के लिए अलग-अलग करके कहा। **णवि णाणं ण चरित्तं दंसणं जाणगो सुद्धो**। दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों आ गये। **जाणगो** अर्थात् ज्ञायकभाव। आप अखण्ड हैं, अभेद हैं। आपके कोई टुकड़े नहीं कर सकता। महानुभावो! आत्मा ज्ञायकभाव वाला होता है।

ये व्यवहानरय, निश्चयनय के बाद हम दुनिया के अंदर समता को प्राप्त कर सकते हैं और समता ही सामायिक है, जितने मुक्ति को प्राप्त किये, वो समताभाव से ही किये। इन समताभाव की प्राप्ति के लिए, मोक्षमार्ग की प्राप्ति के लिए इस

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समयसार को थोड़े-थोड़े शक्ति के अनुसार जरूर पढ़िये। आपके परिणामों की निर्मलता, जैसे शुरू में कही थी, वो कंधे से उतार दिया, पर वो मन में लेकर घूमता रहा। तो मन में लेकर आप नहीं घूमोगे और उस राग-द्वेष को आप कंधे से उतार दोगे, तो फिर आपको याद करने की जरूरत नहीं है। ऐसी स्थिति समयसार के ज्ञायकभाव को समझने के बाद, पढ़ने के बाद आयेगी।

जो हि सुदेणहिगच्छदि अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं।
तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पदीवयरा।। –(समयसार, 9)
जो सुदणाणं सव्वं जाणदि सुदकेवलिं तमाहु जिणा।
सुदणाणमाद सव्वं जम्हा सुदकेवली तम्हा।। –(समयसार, 10)

अर्थ :– जो जीव वास्तव में भावश्रुत से अनुभवगोचर केवल एक शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है, उसको लोक प्रकाशक ऋषि (निश्चय) श्रुतकेवली कहते हैं।

जो जीव समस्त श्रुतज्ञान को (द्वादशांग द्रव्यश्रुत को) जानता है, उसे जिनदेव (व्यवहार) श्रुतकेवली कहते हैं। क्योंकि सम्पूर्ण श्रुतज्ञान (द्रव्य श्रुतज्ञान के आधार से उत्पन्न भावश्रुत) आत्मा है। इस कारण उसे श्रुतकेवली कहते हैं।

पहली गाथा में यह कहते हैं कि केवल शास्त्र पढ़ने से कुछ पल्ले पड़ने वाला नहीं है, क्योंकि ये तो अक्षर हैं, शब्द हैं। सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार में कहा— **सद्दो णाणं ण हवदि** अर्थात् शब्द ज्ञान नहीं है। शास्त्र हमें नहीं जानते, हम शास्त्र को जानते हैं; ये हमें नहीं जानते, हम इन्हें जानते हैं। शब्द स्वयं ज्ञानरूप नहीं, वो शब्द हमें नहीं जानते, पर शब्दों को हम जानते हैं, ये खास याद रखना। शब्द को पढ़ना, उसको लिखना, उसको जानना —ये आत्मा कर सकता है, शास्त्र नहीं। आचार्य ये कहते हैं— भाई! आपने पढ़ लिया, स्वाध्याय कर लिया, तो वाचन कोई महत्त्वपूर्ण नहीं है। पचा कितना पाये? यहाँ पर श्रुतकेवली उसको कहा, जो आत्मा का अनुभव करता है।

चेलोपसृष्टमुनिरिव गृही तदा याति यतिभावम्। कोई घर में रह रहा है, संसार भी कर रहा है। सभी कर रहे हैं, उसने यदि कपड़े भी पहन रखे हैं तथा वह आत्मा का अनुभव करता है, तो कपड़े से ढँका होते हुए भी वह मुनि है। देखिये— चरणानुयोग के ग्रन्थ रत्नकरण्ड श्रावकाचार में आचार्यदेव कहते हैं— व्रत करो, उपवास करो, पूजा करो, पाठ करो, तीर्थयात्रा सब, स्वाध्याय सब। वो तो बाह्य व्यावहारिक चारित्र का समर्थन करते हैं। नाव चलाने के लिए, पहले तो नाव बनाने के लकड़ी चाहिए फिर उसको दिशा दिखाने के लिए चप्पू चाहिए और उसके बाद एक अक्लमंद आदमी चाहिए जो नाव को चला सके। तो ऐसे ही व्यवहारनय सहायक है, बिना चारित्र के आत्मानुभूति नहीं हो सकती और सब लोग चाहते हैं कि हमें सुलभ से सुलभ मार्ग दिखाओ, बिल्कुल कुछ भी तकलीफ न हो। तो खुश करने के लिए किसी को कोई कुछ कह दे, उनके अनुकूल बता दे। हम शास्त्र को हमारे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुकूल बना नहीं सकते, शास्त्र के अनुकूल हम चल सकते हैं, शास्त्र के अनुकूल हम हमारी बुद्धि ले जा सकते हैं; हमारी बुद्धि के अनुसार शास्त्र नहीं ले जा सकते।

अनुभव ही श्रेष्ठ है, अनुभव के बिना चारित्र हो नहीं सकता। हमारे 24 तीर्थंकर थे। उन्होंने बहुत तप किया। आदिनाथ भगवान् जब तपश्चर्या में बैठ गये और जब आँख खोलकर देखे, तो जो नदी वहाँ बह रही थी, वह सिकुड़ गई थी और इसीप्रकार पार्श्वनाथ भगवान 4 महीने तपश्चर्या करते रहे, बाहुबली भगवान् तपश्चर्या करते रहे। हमारा धर्म तप से आधारित है। तप साधन है, साध्य नहीं ये बताता हूँ। बिना साधन के साध्य की ओर नहीं जा सकते। शास्त्र साधन है, बिना साधन के तो आपको ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए पहली गाथा में कहा आत्मानुभव करनेवाला ही श्रुतकेवली कहलायेगा और केवल शास्त्र पढ़नेवाला द्रव्यश्रुतकेवली कहलायेगा। तो दो गाथाओं में कहा कि आपने अपने जीवन में उतारा, वो आपका है।

रत्नकरण्डश्रावकाचार में **समयं जानन्तीति समयज्ञाः** शास्त्र को जाना, उसको **समयसारी** नहीं कहा। **शास्त्रज्ञ** कहा नहीं, धर्मज्ञ भी नहीं कहा।

अज्ञानान्मोहतो बंधो, नाज्ञानाद् वीतमोहतः।
ज्ञानस्तोकाच्च मोक्षः स्यात् अमोहान्मोहितोऽन्यथा।।

आपने मोह को कितना कमजोर बना दिया। मोह को कितना निस्तेज कर दिया। मोह कितना कम हुआ? आचार्य समंतभद्र ने कहा— अज्ञानात् मोहिनो बंधो, जो हमारे लिए बंध का कारण है, वह मोहकर्म है। मोहनीयकर्म बंध का कारण है; इसलिए मोह का कितना आपने बंध किया? —इसका नित्य आपको विचार करना होगा। यदि मोह कमजोर नहीं पड़ा, तो शास्त्र को पढ़ने से लाभ क्या है? अल्पज्ञानी थोड़ा-सा ज्ञानवाला निर्मोही मोक्षमार्ग पर है। बहुत शास्त्रज्ञानी मोही व्यक्ति संसार में डूब जायेगा। हमारे ज्ञान की कोई कौड़ी कीमत नहीं, मोह कितना कम किया? निस्तेज कर दिया, उसको जर्जर कर दिया, उसको हटा दिया, इसका महत्त्व है। अल्पज्ञानी निर्मोही मोक्षमार्ग पर है, बहुत बड़ा ज्ञानी मोही संसार डुबो लेगा, उसकी कोई एक कौड़ी भी कीमत नहीं। पहला गुण आप आँख मींचकर देखिए कि— मेरा मोह कितना कम हो गया। दर्शनमोह, चारित्रमोह यदि कम नहीं हुआ, तो जहाँ थे वहीं हैं। मोहनीय कर्म का बुखार, चारित्र मोहनीय का, दर्शन मोहनीय कर्म का यदि बुखार उतर रहा है; तो आपका ये शास्त्र पढ़ना, स्वाध्याय करना, अभिषेक करना, तीर्थयात्रा, व्रत-उपवास —ये सभी कार्यकारी हैं। ये तो कोई छेद हो घड़े में और उसे पानी भरकर छोड़ दिया तो ऊपर आने तक सब पानी निकल जायेगा। पहिले उस छेद को बंद करना पड़ेगा, तभी पानी ऊपर आयेगा। जल का आधार क्या है? घट है और शास्त्र एवं धर्म का आधार चारित्र है। चारित्र यानी प्रैक्टिकल। इसीलिए यहाँ कहा है— **जो हि सुदेणहिगच्छदि अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं।** अर्थात् जो शुद्धात्मा का अनुभव कर रहा है, उसको ऋषि कहते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं। ऋषि शब्द का अर्थ है— **ऋषति ज्ञानेन संसारपारं** जो ज्ञान से संसार पार हो गया, उसे यहाँ पर ऋषि कहा गया है। कहते हैं न मुनि, ऋषि, यति, ज्ञानी। कुंदकुंद आचार्य ने इन चारों का अपने ग्रंथों में वर्णन किया। **ज्ञानी सामान्यसाधवः** अर्थात् सामान्य साधुजनों को 'ज्ञानी' कहते हैं तथा केवलज्ञानी को **मुनि** कहते हैं और ऋषि उनको कहा जो ज्ञान के साथ-साथ संसार से पार होते हैं। ऋषि शब्द का अर्थ है, जिन्होंने धर्म के स्वरूप को स्वयं साक्षात्कार कर लिया, अनुभव कर लिया तथा अन्य ज्ञानरहित व्यक्तियों का अर्थ स्पष्ट किया, वो ऋषि कहलाता है। इसप्रकार ऋषि शब्द का अर्थ है– ज्ञान से प्रकट होना। वह भी किस ज्ञान से? अनुभवजन्यज्ञान से। फिर धनंजय कवि ने नाममाला में लिखा है कि– **ऋषति कालत्रयं जानातीति ऋषिः** त्रिकाल को प्रत्यक्ष अनुभव कर रहा है। द्रव्य-गुण-पर्यायसहित तीनों काल में आत्मा का, परमात्मा का और सारे द्रव्य-गुण-पर्याय का प्रत्यक्ष अनुभव कर रहा है; वह ऋषि है।

संसार में आत्मानुभूति होने के बाद फिर संसार की कोई चाह नहीं रहती है, दुनिया में जितना अनुभव कर लिया, वो सब आपका है। अनुभव नहीं किया, तो सब शास्त्र का। सोचिए कि मोह कितना कम कर दिया? यदि मोह नहीं कम किया तो, मोह बढ़ता जाएगा। आसक्ति नहीं छूटी परिग्रह के प्रति, तो आत्मा की तरफ कैसे झुकोगे? तो **मूर्च्छा परिग्रहः** परिग्रह के अंदर आसक्ति जो है, वो भी मोहनीय कर्म का मूल कारण है, चारित्र मोहनीय कर्म का। तीर्थ हृदय है, तो आत्मा की तरफ झुक नहीं सकता। स्वरूपाचरण की प्राप्ति नहीं हो सकती। वह शुद्धोपयोग की तरफ़ झुक नहीं सकता।

अंतरंग और बहिरंग

समयसार की यह गाथा जीवन के साथ बड़ा गहरा संबंध रखती है। इसमें बहिरंग एवं अंतरंग के बारे में अत्यंत सरल दृष्टान्त के द्वारा समझाया गया है। इसमें निश्चय के कथन की उपादेयता एवं व्यवहार के कथन की हेयता की बात संतुलनपूर्वक बताई गई है। जैसे माँ का दूध बच्चे के लिए सुपाच्य होता है, उसीप्रकार यह गाथा मंदबुद्धि वाले लोगों को भी आसानी से समझ में आ सकती है।

णयरम्मि वण्णिदे जह ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि।
देहगुणे थुव्वंते ण केवलिगुणा थुदा होंति।। –(समयसार, 30)

अर्थ :— जैसे नगर का वर्णन किये जाने पर राजा का वर्णन किया हुआ नहीं होता, इसीप्रकार देह के गुणों की स्तुति करने पर केवली भगवान् के गुणों की स्तुति नहीं होती। इसमें नगर के वर्णन को शरीर के गुणों की जगह तथा राजा के वर्णन को केवली के गुणों के वर्णन की तरह उपमा अलंकार के द्वारा समझाया गया है। इनके द्वारा हेय और उपादेय का निर्णय भली-भाँति कराया गया है। साथ ही जिसकी जैसी दृष्टि है, उसका मूल्यांकन भी समझाया गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक बार श्री कृष्ण जी से मिलने कौरव और पाण्डव गये, तो श्री कृष्ण जी ने सहज ही कौरवों से पूछा— सामने बैठे लोग आपको कैसे दिख रहे हैं; तो दुर्योधन ने कहा— ये सभी मुझे दुष्ट और राक्षसों की तरह दिखाई दे रहे हैं। इसके बाद उन्होंने युधिष्ठिर से पूछा— आपके सामने बैठे लोगों के बारे में आपकी क्या राय है? तो वे बोले— मुझे ये सभी लोग सज्जन और भगवान् के रूप में दिखाई दे रहे हैं। वास्तव में धर्मात्मा को सारी दुनिया धर्मात्मा दिखाई देती है तथा मिथ्यादृष्टि को सारी दुनिया मिथ्यादृष्टि नज़र आती है।

यदि किसी देश में बहुत सारा धन हो, बड़े-बड़े अस्त्र-शस्त्र हों, ऊँची-ऊँची सुन्दर अट्टालिकाएँ हों, तथा सोने-चाँदी हीरे-जवाहरातों से तिजोरियाँ भरी हुई हों; तब भी उस देश का तब तक कोई महत्त्व नहीं है, जब तक कि उस देश के नागरिक सुशिक्षित एवं सदाचारी नहीं हैं। जैसेकि जयपुर को आप सब **गुलाबी नगर** कहकर इसकी महिमा करते हैं, तो यदि इसके नागरिक सुशिक्षित एवं सदाचारी हैं, तब तो इसका नाम सार्थक है। अन्यथा **काँटों के नगर** के समान इसकी कोई कीमत नहीं है। इसीप्रकार **पार्लियामेंट भवन** में भवन कितना सुन्दर और विशाल है, इसमें बैठने की कुर्सियाँ कितनी कीमती हैं, —इन सबसे पार्लियामेंट का महत्त्व नहीं आँका जाता; अपितु उसमें बैठने वाले संसद-सदस्य कितने गुणी और चरित्रवान् हैं —इसी बात से मूल्यांकन किया जा सकता है। हम नगर में चौड़ी सड़कें और विशाल भवन तो बना लेते हैं, किन्तु उसमें रहने वालों की दृष्टि वैसी उदार और विशाल नहीं हो, तो बाहरी संपूर्ण वैभव महत्त्वहीन है। वास्तव में उसमें रहने वाले आदर्श नागरिक ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। यहाँ महावीर जी में भी यदि ऊँचे-ऊँचे शिखरों का मंदिर रहे, सोने-चाँदी के छत्र रहें और भी संपूर्ण वैभव रहे; किन्तु यदि भगवान् की मूर्ति न हो, तो कोई भी यहाँ दर्शन करने नहीं आयेगा। इसप्रकार बहिरंग वैभव की अपेक्षा अंतरंग वैभव ही वास्तव में कीमती एवं महत्त्वपूर्ण है; —यही बात जैनधर्म के सार रूप में इस गाथा में बताई गई है। इसमें गागर में सागर नहीं, अपितु सरसों के दाने को छेदकर उसमें सागर भरने जैसा अद्भुत कार्य किया गया है। इसीलिए एक यूरोपियन विद्वान् ने जैनधर्म के बारे में लिखा है— "Jainism is the guide of highest mordent life is the only means of the elysium of soul".

यदि कोई व्यक्ति-बहुत सुंदर है तथा वह बेशकीमती कपड़े एवं रत्नाभूषण भी पहने हुए है, तब भी इन बातों के आधार पर ज्ञानी उसे किंचित् भी महत्त्व नहीं देते हैं। जबकि उसने जो दान, सेवा, परोपकार, धर्म-ध्यान एवं आत्मा परमात्मा का चिंतन किया, उसी के आधार पर ज्ञानियों की दृष्टि में वह महत्त्वपूर्ण होता है। इन सबके बिना ज्ञानीजन उस व्यक्ति को तुच्छ मानते हैं।

एक बार राजा जनक की सभा में जब बड़े-बड़े विद्वान् बैठे हुए थे, तभी अष्टावक्र

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऋषि वहाँ पधारे। उनका शरीर आठ जगह से टेढ़ा-मेढ़ा तथा अत्यंत कुरूप था। उन्हें देखकर वे सभी पंडित हँस पड़े तो अष्टावक्र ऋषि बोले—महाराज जनक ! मैंने तो सुना था कि आपकी सभा में बड़े-बड़े विद्वान् रहते हैं, किन्तु यहाँ तो सारे के सारे चर्मकार बैठे हुए हैं। यह सुनते ही सारे पंडित बिगड़ गये और चिल्लाने लगे– इन्होंने हमें चर्मकार कहकर हमारा घोर अपमान किया है। तब ऋषि अष्टावक्र बोले—

चंदन पड़ा चमार घर, नित-प्रति कूटे चाम।
चंदन बिचारा क्या करे, पड़ा नीच से काम।।

एक चंदन की लकड़ी थी, जिससे चमार जूते बनाने के लिए जूते को कूटता था। इसमें बहुत सुंदर चमड़े के जूते बनते थे। एक बार वह चंदन की लकड़ी बहुत टेढ़ी-मेढ़ी हो गयी, तो बढ़ई को दे दी। बढ़ई ने उसे चारों तरफ से तरासकर सीधा करके दिया, तो उसमें खुशबू निकल आयी; क्योंकि लकड़ी चंदन की थी, जिसमें पहले चमड़े की संगति से बदबू आ रही थी। जो चौबीस घंटे चमड़े के अंदर डूबे हों, खुद चर्मकार हों और दूसरे को चर्मकार कहते हों, कि— ये चमार हैं —ऐसी गाली देते हों, खुद चर्मकार के घर में रह रहे हों, इसी चमड़े के घर की ही चौबीसों घंटे देखभाल कर रहे हों और खुद उपहास करते हों कि— ये ऐसा है। मेरे आत्मा को तुम लोगों ने नहीं देखा, मेरे चमड़े, हड्डी और इस टेढ़े-मेढ़े ढाँचे के शरीर को देखा, इससे सिद्ध होता है कि तुम बहिरात्मा दृष्टि हो, मिथ्यादृष्टि हो। यह सुनकर वे सभी पंडितजन सब नीचे गर्दन करके बैठ गये। जैसे तरासने के बाद उस लकड़ी में खुशबू निकली, वैसे ही अध्यात्मवाद जो है, वो आत्मा की बात करता है, इन भौतिक जड़ पदार्थों की बात नहीं करता, सुहाता नहीं उसको। वो विषय ही अलग है। चैतन्य-चमत्कार ज्ञान में आत्मा है। तो यहाँ पर आचार्य कहते हैं कि इन बहिरंगों के वर्णन से कुछ नहीं है। इसका नाम कितना सुन्दर है। श्मशानभूमि में सब समान हैं। राजा हो, रंक हो, साधु हो सबके शरीरों को अग्नि भस्म करती है। अतः गुणों की बात करो, **गुणाः पूजास्थानं**......ये भारतीय सूत्र हैं। इसकी कितनी उम्र है, ये स्त्री है, ये सेठ है, ये साहूकार है —इनमें कोई भेद नहीं है।

खाली देह का वर्णन करते हो? इतना सुंदर शरीर हड्डी ढाँचे का, सुंदर बाल, क्या बात कही? इसे ही नगर का वर्णन कहते हैं। इसीप्रकार जितना राज्य का वर्णन, देह का वर्णन है; तो इन वर्णनों का कोई लाभ नहीं। सच्चा वर्णन वही है, जिसमें **केवलि गुणा थुदा होंति**। इस सारे नगर का, राज्य का, वैभव का, शरीर का सुन्दर वर्णन जो है, यह केवली भगवान् के केवलज्ञान का वर्णन नहीं है। ये छिलके का वर्णन है।

इसीलिए स्वानुभूति को आचार्य ने महत्त्व दिया। परानुभूति को महत्त्व नहीं दिया। शब्दशास्त्र-अर्थशास्त्र, शब्दसमयसार-अर्थसमयसार इसका कोई मूल्य नहीं; ज्ञानसमयसार महत्त्वपूर्ण है। आपने ज्ञानमय आत्मा को समयसार बनाना है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समयसारस्वरूपोऽहम्। क्या आप समयसार-स्वरूप होंगे? अनुभूति कर ली है? कब की? कितने की? इन्होंने कहा कि हम तो उस मूल वस्तुस्वभाव जो आत्मा है, परमात्मा है, केवली भगवान् है, जिनके अनन्त ज्ञानादि गुण हैं; यदि उसको पहचाना नहीं, उसका वर्णन नहीं किया, तो जो रोज पूजा करते हैं, उसमें भगवान् के गुणों का थोड़ा-सा तो वर्णन करो। जब तक भगवान् के गुणों को नहीं जान सके हैं, तो आपके अन्दर आत्मा में ये सारे गुण हैं, ये कैसे जानोगे? ये सब साधन हैं, मन्दिर, शिखर, सब जितने भी हैं, सब साधन हैं; उन साधनों को लेकर पूजा करने बैठ गये। कितनी सुन्दर चौकी है ! ये बर्तन मेरे सोने के हैं, चाँदी के हैं, स्टेनलेस स्टील के हैं। दुनिया भर के बहिरंग पदार्थों का सब वर्णन किया। इसीप्रकार पूजा की पुस्तक का वर्णन करें कि कितनी अच्छी है! बाइंडिंग कितनी बढ़िया है, कागज कितना अच्छा है, उसमें अक्षर कितने अच्छे सोने-जैसे हैं। पर होता क्या है? ज्ञानी तो वही है, जिसने आत्मा और केवली भगवान् को समझकर केवली भगवान् के सदृश मेरा आत्मा द्रव्यदृष्टि से शक्तिशाली है, ये जिस दिन पहचाना और अनुभव कर लिया तो क्या बात है। वो आपकी अनुभूति है।

देहगुणे थुव्वंते और देह का भी वर्णन कर लिया कि भगवान् का शरीर इतना ऊँचा था। समचतुरस्रसंस्थान का था, फूल जैसा था; नाना तरह के वर्णन हैं। आचार्य समंतभद्र जी ने उसके लिए पूरा ग्रन्थ लिखा— भगवान् की परीक्षा (आप्तमीमांसा) नाम से 105 श्लोक उसमें है। आचार्य समंतभद्र जी बड़े परीक्षक मनीषी थे, किसी परीक्षा के बिना उसको स्वीकार नहीं करते थे। सब जो-जो अपने को भगवान् कहते हैं, वे सब लाइन से खड़े हो जाओ। मैं परीक्षा करूँगा, तभी समझूँगा कि कौन भगवान् है। तो सब लाइन से खड़े हो गये, एक बोले— मैं भगवान् हूँ। बोले, आपकी विशेषता बताओ, आप भगवान् कह रहे हो अपने आप को, तो वह बोले— मैं अधर चलता हूँ आकाश में। सुनकर हँस पड़े, आचार्य समंतभद्र, उन्होंने पूछा— क्यों हँसे? तो उत्तर दिया— कौवे भी अधर चलते हैं आकाश में। कौवे को नमस्कार नहीं होता, आकाश में गमन करने की इस विद्या की कोई कौड़ी कीमत नहीं।

रामकृष्ण परमहंस के पास हिमालय से एक साधु 12 साल तपश्चर्या करने के बाद आए, बड़े ऊँचे पर्वत पर रहता थे, वे बोले— मैं अपना चमत्कार दिखाने के लिए आया हूँ। तो उन्होंने कहा— महाराज, आप मुझे जानते हैं? ये जो नदी दिखाई दे रही है, उसके ऊपर से मैं पैदल चलकर उस पार जा सकता हूँ। पानी के ऊपर से जा सकता हूँ, बारह साल की तपश्चर्या के बाद ये मैंने सिद्धि प्राप्त की है, आप क्या समझते हैं मुझे। तो रामकृष्ण परमहंस हँस पड़े, पूछा— क्यों हँस रहे हो? तो उन्होंने उत्तर दिया— ये जो 12 साल तप करके पानी के ऊपर से जाने की विद्या आपने हासिल करने की बात कही, ये दो कौड़ी की विद्या है। उन्होंने पूछा— कैसे? तब वे बोले— दो पैसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नाववाले को दो, तो वो आपको उस पार छोड़ देगा। तो जैनधर्म खास तौर से स्पष्ट करता है कि बहिरंग चमत्कार से उलझना ये मूर्खता है। जैनधर्म में बहिरंग चमत्कार की कोई कौड़ी कीमत नहीं। आपने अपने आत्मा के परिणामों की निर्मलता कितनी की? वीतराग भगवान् को पहचाना नहीं। वीतराग भगवान् को अपने हृदय में स्थापित नहीं किया, तो यहाँ चौकी पर स्थापित करने से क्या होता हैं? इसको **तव चरणे मम हृदये**। ज्ञानोपयोग, दर्शनोपयोगरूपी भगवान् के चरण जो हैं वो दो (पैर) चरण हैं। वो यहाँ कैसे स्थापना करते हैं?

बाहरी चमत्कार दो कौड़ी की विद्या है, बाहरी चमत्कार को जैनधर्म ने कोई भी कीमत नहीं दी। एक व्यक्ति ने कहा— हमारे यहाँ इतने बड़े चँवर डोलते हैं। दूसरे ने कहा— हमारे यहाँ 64 चमर डोलते हैं। तो आचार्य समंतभद्र जी बोले— चँवर तो राजा के यहाँ भी डोलते हैं। तो चमर डोलने से हम आपको थोड़े ही भगवान मान लेंगे। उन्होंने कहा— किसी बहिरंग के आधार पर किसी को परिग्रह से भगवान् नहीं मानता। जहाँ संपूर्ण ज्ञान है, वीतराग है, केवलज्ञान है, उसको हम भगवान मानते हैं। जो-जो चमत्कार तांत्रिक लोग दिखा रहे हैं, वो सब जेल में जा रहे हैं; क्योंकि वो बहिरंग है। मायाचार से वो अपने आपको सोने के सिंहासन पर बैठा रखा है। और बड़े-बड़े छत्र, चामर। देखो साहब ये मेरा सोने का सिंहासन और ये छत्र, ये चामर। स्वयं आप आकर्षित होते जाओगे। हमने कभी ऐसा सिंहासन, छत्र, चामर नहीं देखा। हमारे भगवान् न छत्र से बड़े हैं, न सिंहासन से बड़े हैं; वे तो अपने वीतराग मुद्रा से बड़े हैं। वीतरागता और सर्वज्ञता के कारण हम भगवान् को पूजते हैं। हम वीतराग के उपासक हैं, हम केवलज्ञान के उपासक हैं। **वंदे तद्गुणलब्धये**। हे भगवान् ! आपके गुणों की प्राप्ति के लिए मैं अपना सिर झुका रहा हूँ। जैनधर्म बहुत ही परीक्षा-प्रधानी है। इसीलिए परीक्षा-प्रधानी होना भी बहुत जरूरी है। क्योंकि कोई भी सफेद द्रव को दूध है, कहकर दे देवे, तो कैसे मान लोगे? कहीं ये चूना तो नहीं, अथवा ये आकड़े का दूध तो नहीं? —ऐसी आशंका करते हैं। क्योंकि यदि वह चूना है और सफेद दूध है समझकर पी लेवे, तो अँतड़ियाँ फट जायेंगी। सफेद होने से काम नहीं चलता। मकान को सुंदर चारों तरफ से सफेद रंग लगाया। अंदर रोशनी नहीं आ सकती। अंदर भी आपको चूना और सफेदी लगानी पड़ेगी। तो आपने अंदर से अपने आपको क्या झाँका? क्या देखा? क्या मनन किया? क्या वीतराग के दर्शन किये? वीतराग की अनुभूति की? एकाग्र हो गये? समताभावी हो गये? शुद्धोपयोग को थोड़ी देर के लिए अपने आप में बैठा लिया?

ये सारे जितने भी पूजापाठ, क्रियाकांड हैं, ये सब वीतराग को पहचानने के लिए हैं और अपने आत्मा को उस भगवान् के साथ जोड़ने के लिए करते हैं। तो इसलिए यहाँ कहा— **केवलीगुणा थुदा होदि**। इन बहिरंग पदार्थों से केवली भगवान् की स्तुति नहीं होगी। जो अंतरंग में है ज्ञानादि गुण भगवान् के, अनंत गुण उसकी स्तुति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करो। भक्तामर स्तोत्र में आप रोज पढ़ते हैं— **सोहं तथापि तव भक्तिवशान्मुनीश!**

एक हिरणी थी, उसके बछड़े को शेरनी ने पकड़ लिया। वो कूद पड़ी बछड़े को छुड़ाने के लिए। उसके पास उतनी शक्ति नहीं है कि शेरनी से अपने बच्चे को छुड़ा ले, मगर अपने बछड़े के प्यार से और मोह के वशीभूत होकर अपने बछड़े को छुड़ाने के लिए शेर पर प्रहार करती है। इसीप्रकार कवि कहते हैं— हे भगवान् ! अथाह गुण के समुद्र आप हैं, मैं आपके समस्त गुणों का गिनती नहीं कर सकता हूँ, पर जो टूटे-फूटे शब्दों में, दो शब्दों में आपके गुणों का वर्णन मैं कर रहा हूँ, केवलज्ञान, केवलीदर्शन के, वो मैं सिर्फ भक्ति के वशीभूत होकर कर रहा हूँ। आपके अनंत गुणों का वर्णन करने में मैं असमर्थ हूँ क्योंकि मैं छद्मस्थ हूँ।

तो यह सब जो बहिरंग है, ये मायामय दृश्य जैसे है। आप इससे प्रभावित मत हों। जो केवलज्ञान है, भगवान् सर्वज्ञ के जो अनंत गुण हैं, हम उसके उपासक हैं। हम इन बहिरंग के, गुलाबी नगर के उपासक नहीं हैं, उस गुलाबी नगर में रहनेवाले उन आदर्श नागरिकों के गुण क्या हैं? वह हमारे लिए महत्त्वपूर्ण होना चाहिए।

धर्म चमत्कार दिखाकर नहीं होता है। एक आर्यसमाजी विद्वान् हैं सत्यदेव विद्यालंकार। उन्होंने एक बहुत बड़ा लेख लिखा है। उन्होंने कहा— दुनिया में बिना चमत्कार के कोई धर्म है तो वह **जैनधर्म** है। बाकी अनेक धर्म चमत्कार में फँसकर बदनाम हो गये। और यहाँ चमत्कार का कोई कौड़ी भी स्थान नहीं है। चमत्कार से क्या होता है? चमत्कार तो आपके आत्मा में है। क्योंकि वह अनन्त शक्तिशाली जो है।

हम मात्र मूर्ति के उपासक नहीं, हम वीतराग के उपासक हैं। हम केवली भगवान् के गुणों के उपासक हैं, ये जब आपके मन में ज्ञान हो जाये, तो उसी समय आप सम्यग्ज्ञानी हैं, उसी समय आप अपना हित कर सकते हैं। अहित को दूर कर सकते हैं।

साम्यभाव और अध्यात्म

शुद्धात्मा, एक तुम्हारा स्वरूप है। आप आते समय अकेले आये थे और जाते समय भी अकले जाओगे और तुम स्वतन्त्र हो धर्म करने में, मोक्ष जाने में। ये सब तुम्हारे मुट्ठी में हैं। तुम्हारी मुट्ठी में स्वर्ग है, तुम्हारी मुट्ठी में मोक्ष है। दूसरे की मुट्ठी देखने की जरूरत नहीं।

आप ये कहो कि अगले जन्म को अच्छा बनाने के लिए हम ये कर रहे हैं, इसे उन्होंने स्वीकार नहीं किया। पहले वर्तमान भव को शुद्ध बनाने की बात की, न पिछले जन्म की बात, न अगले जन्म की बात, पहले वर्तमान जन्म की बात करो। उससे पिछले जन्म के कर्म भी कट जायेंगे और अगले जन्म के कर्म से बच जायेंगे। यह उपाय उन्होंने पहले अध्याय में बताया। कितनी बड़ी बात है ! अरे, व्यापारी आदमी होगा तो आज लाभ हो रहा है, तभी तो व्यापार करेगा, नुकसान में धंधा थोड़े ही करेगा। वर्तमान के फायदे की ही तो सोचेगा, अगले एक-दो साल के बाद फायदे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की बात थोड़े ही सोचेगा? तो इस तरह से वर्तमान की बात समयसार में कहते हैं। वर्तमान में आप सुखी हैं, तो सुखी हैं। वर्तमान में आप दुःखी हैं, तो दुःखी हैं। तत्काल, उसी समय आपके परिणामों की निर्मलता कैसे है, —यह बताते हैं।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल—ये जो छह द्रव्य हैं। इनमें अपने में भिन्न और अपने से भिन्न पुद्गल जड़ पदार्थ कहते हैं, इनसे मेरा कोई संबंध नहीं है; कोई लेना-देना नहीं है। आप बताओ, आप हर पुद्गल पदार्थ का उपयोग करते हो, पुद्गल पर क्या उपकार करते हो? गाय से दूध लेते हो, उस पर क्या उपकार कर रहे हो? गाय को घास खिलाते हो, पानी पिलाते हो, तो अपने स्वार्थ के लिए कर रहे हो। घोड़ा है, तो उसको बग्घी में बाँधकर और उस पर बैठकर जाना है, इसलिए उसे चना खिला रहे हो, अपने स्वार्थ के लिए कर रहे हो। तो इसलिए दुनिया भर के पदार्थों का उपयोग और उपभोग अपने स्वार्थ के लिए कर रहे हो। पर आप किस पर उपकार कर रहे हो? कोई किसी पर उपकार नहीं कर सकता। अपने आत्मा पर जो उपकार करता है, वही मोक्षमार्गी है; वही धर्मात्मा है, वही सम्यग्दृष्टि और वही स्वतंत्र सत्ता को जान सकता है। परायी बात को करता है, वो मिथ्यादृष्टि है।

यह जो पुद्गल द्रव्य है, वह कोई साथ आनेवाला नहीं है। एक ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग से युक्त एक मैं आत्मा जो हूँ। शुद्ध और सिद्ध उसके बारे में मुझे अन्वेषण करना है, खोज करना है। और उसके लिए जितना भी समय दे सके, उसके पहचान में आना, उसका लाभ उठाना है। लाभ तो दुनिया भर के उठाते हैं, पर अपने आत्मा का लाभ अपने लिए नहीं उठाते हैं।

एक परमाणु भी आप मृत्यु के बाद अपने संग नहीं ले जा सकते। यहीं छोड़कर जाना होगा। इस समयसार में दस अध्याय हैं, दस संख्या क्या होती है? एक लिखकर आगे शून्य लिखते हैं। तत्त्वार्थसूत्र में कितने अध्याय हैं? 10 अध्याय हैं, तो कहते हैं कि वो **एक** तुम हो, बाकी सब दुनिया भर की चीजें तुम्हारे लिए 0 हैं। इसलिए यहाँ कहा है कि तुम्हारे आत्मा का स्वभाव समताभाव है, इसमें कोई संशय नहीं है। देखिये, आप यहाँ समताभाव से बैठे हैं। अभी ममता शुरू हो जाये, तो व्याकुलता शुरू हो जायेगी।

राग आग दहै सदा, तातैं समामृत सेइये। राग जो है, वो आग के समान है, आग जला देती है। राग भी जीवित मनुष्य को जला देता है, उसके परिणामों को बिगाड़कर रख देता है, इतना विकृत कर देता है। उससे बचने के लिए कहा कि तुम्हारा आत्मा जो शुद्ध है, सिद्ध है। तुम सिद्ध भगवान् जैसे हो, —ऐसा परिचय कराता है।

तुमने अपने आत्मा को जाना, तो सारी दुनिया को जाना और तुमने सारी दुनिया को जाना और अपने आत्मा को नहीं जाना, तो कुछ नहीं जाना। नाना तरह के दूसरों के बारे में गिनती करते चले जा रहे हो। क्या लाभ हुआ तुम्हें उससे? और तुमने क्या

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किया, ये कभी सोचा। लोग कहते हैं कि मेरे दादा, परदादा दस उपवास कर लिये। इसने दसलक्षण की पूजा की। इसने तीर्थयात्रा कर ली। ये बहुत स्वाध्याय सुबह-शाम शान्तिपूर्वक करते हैं। लाखों बार माला जपी। मगर तुमने क्या किया? मैं ये पूछ रहा हूँ। दादा, परदादा तो करके चले गये, उनकी गिनती करने से क्या होगा? मगर तुमने क्या किया? बस ! समयसार यही प्रश्न पूछता है कि आपने क्या किया है? हमारी बहू ने दस उपवास किये। मगर आप सासूबाई कितने उपवास किये?

समयसार में कहा है— दूसरों की कहानी सुनने के लिए मैं बैठा नहीं, तुमने क्या किया, वो बताओ। तो आपने जितना किया, वो आपका हो गया। तो तुम अपने आत्मा के परिणामों की रक्षा नहीं कर सके। तुम अपने को योग्य नहीं बना सके, तो दूसरों की गिनती से क्या फायदा? कोई भाग्य आप किसी की बदल नहीं सकते। कोई दुनिया में आज तक किसी का भाग्य बदल नहीं सका। इसीलिए कहा है कि निमित्त बन सकते हो, मगर भाग्य नहीं बदल सकते।

किसी ने दामाद को करोड़ों की जायदाद दे दी, उसके भाग्य में नहीं है, तो सारी की सारी संपत्ति बर्बाद कर देगा। पहले उसे योग्य बनाओ, उस संपत्ति की रक्षा करने के लिए, वो अपनी तरक्की, उन्नति अपने आप करे। तो ऐसे ही आप किसी के लिए निमित्तमात्र बन सकते हैं, किंतु किसी के परिणाम को आप शुद्ध करो, किसी को मोक्ष भेजो, ये कार्य आप का नहीं है। यदि ऐसा होता, तो तीर्थंकर पहले अपने माता-पिता को मोक्ष भेजने के बाद मोक्ष जाते। पर वे भी असमर्थ थे। उन्होंने सब कर दिया पर माता-पिता को मोक्ष नहीं भेजा। कितनी बड़ी बात है ! तो इससे सिद्ध होता है कि स्वावलंबन और स्वतंत्रता जैनधर्म की मूलभूत मान्यता है।

मैं सिद्ध भगवान्-सा हूँ और सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र मेरा आत्मस्वरूप है, और जो रूप, रस, गंध, स्पर्श, वर्ण आदि जो पौद्गलिक गुण हैं, वे मेरा स्वरूप नहीं है। आत्मा तो अरूपी है, और फिर कहते हैं कि इस संसार में किसी से भी मेरा परमाणुमात्र भी कोई सम्बन्ध नहीं है। आप कहते हैं कि ये मेरे रिश्तेदार हैं, वो रिश्तेदार हैं। बोलते हैं कि एक परमाणु से भी कोई रिश्ता आपका नहीं और दुनिया भर के रिश्ते बताते चले जा रहे हो। ये तो व्यवहार है रिश्ते बताने का। परन्तु कोई रिश्तेदार तुम्हारे साथ न तो आ सकता है, और न जा सकता है। तुम्हें अकेले ही आना है और तुम्हें अकेले ही जाना है। किसी रिश्तेदार से कहा— भइया ! मेरे पेट में बहुत जोर से दर्द हो रहा है, थोड़ी देर के लिए आप मेरा ये दर्द ले लो। कोई नहीं लेगा। पत्नी, बेटा कोई भी नहीं ले सकता। चाहकर भी नहीं ले सकता। तो इसलिए कहते हैं कि एक परमाणुमात्र से भी आपका कोई सम्बन्ध नहीं है। ये जो आपके भाव होते हैं— मैं अकेला हूँ। आया अकेला हूँ और जाऊँगा भी अकेले। ये जो तत्त्वज्ञान, अध्यात्म जब आपके अंदर समा जाता है, उससे जो परिणामों की निर्मलता होती है। और जो आसक्ति है, मोह है, जो दुनिया भर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के जंजाल हैं, उससे आप बच जाते हो। अपने आत्मा को दुर्गति से बचा लेते हो। जो अपने आत्मा को दुर्गति से बचा लेता है, वो दूसरों को भी बचा सकता है। जो खुद को बचा नहीं सका, दूसरे को क्या बचायेगा? और ये संभव कैसे हैं? तो ये समताभाव से संभव है। मूर्ख व्यक्ति अकेले भाग्य को परिणाम मानकर चलता है। क्या कहता है— मेरे भाग्य में जो लिखा है वही होगा। पर सम्यग्दृष्टि भाग्य पर एकान्त भरोसा नहीं रखता। किसान हल चलाकर जमीन में बीज बो देता है। पुरुषार्थ करता है। तो उनमें से एक-एक बीज सैकड़ों दाने लेकर खड़ा हो जाता है, उस किसान के स्वागत के लिए। मानो बोलता है— ये लो, तुमने एक दाना झुककर दिया था, मैं तो झुककर नहीं, खड़े होकर आपके स्वागत में इतने दाने लेकर खड़ा हूँ, यह पुरुषार्थ का फल है। पुरुषार्थी के चरणों में भाग्य समर्पित हो जाता है, भाग्य के चरणों में पुरुषार्थी लेट जाये, तो कोई फायदा नहीं। इसलिए जैन शास्त्रों में पुरुषार्थ को प्रथम स्थान दे दिया। जो पुरुषार्थी है, वही पुण्यशाली है, इसलिए पुरुषार्थ करने में परन्तु उसके साथ पूर्व जन्म में पुरुषार्थ करके कोई भाग्य पैदा किया हो और वो साथ देंगे, तभी कार्य की सिद्धि होगी।

समता औरं ममता, ये दो भाव हैं। हमें दसलक्षण पर्व में दस दिन तक समताभाव में रहना है। क्षमाभाव जो है, यह आत्मा का स्वभाव है। औरे ऐसे दसलक्षण वाला धर्म इसका बहुत महत्त्व अपने यहाँ है। दस दिन मनुष्य को सारे सांसारिक बातों से विरक्त होकर जो दस दिन जप, जाप, पूजा-पाठ में जो अपने को रमाता है, वो कितना भाग्यशाली है। जो धर्मात्मा दसलक्षण पर्व में दस दिन तक सारे कार्यों को छोड़कर अपने आत्मा में अपने को रमाये रखता है, वही सम्यग्दृष्टि है। वही समताभावी है।

समयसार की विशेषता है कि यह **समताभाव** सिखाता है। और ममताभाव संसार में हमें डुबानेवाला है, और समताभाव हमारे आत्मा की जागृति करके मोक्षमार्ग दिखानेवाला है। आचार्य अमृतचन्द्र ने तत्त्वार्थसार में लिखा है– समता के भाव जो हैं हमारे मन में, इनकी कोई सीमा नहीं है। आकाश, लोकाकाश और भी आकाश से विशाल हैं ये समताभाव। चारों दिशाओं से, कोई देश, विदेश इन सबसे आर-पार कोई है, तो समताभाव है, समता ही सामायिक है। **सामायिकम् मोक्षांगम्।** सामायिक ही मोक्ष का एक अंग है। मोक्षमार्ग का प्रमुख अंग सामायिक है। ममताभाव से ऊपर उठकर समताभाव को जगाना ही सामायिक है।

सामायिक पाठ में कहा गया है— **साम्यमेव सर्वभूतेषु।** समस्त सांसारिक प्राणी के और समस्त विश्व के प्राणी से मेरा समताभाव है। और जितना हो सके, उतना अशुभ से बचे। समताभाव शुद्धोपयोग के लिए आधारभूमि है। किसान हल चलाता है, इधर की मिट्टी उधर और उधर की मिट्टी इधर, एकदम मृदु कर देता है और फिर बीज बोता है, तो फसल अच्छी आती है। अतः सामायिक से पहले समताभाव, समताभाव के बाद सामायिक। थोड़ी देर यदि समता में रमते हैं, तो क्या

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसके आनंद और शांति का दुनिया में मुकाबला नहीं। तो हमारा जो मन है, ये बहुत उपद्रव करता है। इस उपद्रव करनेवाले मन को इधर लगा दो, या उधर लगा दो। किधर लगाना है? इसका ज्ञान तो समयसार से मिलेगा, अध्यात्म शास्त्रों से, भगवान की वाणी से मिलेगा, जिनवाणी से मिलेगा। जिनवाणी तो जनवाणी बन सकती है, पर जनवाणी जिनवाणी नहीं बन सकती —यह बात खास तौर से याद रखना। समतारस में रमे रहना चाहिए। इसी में अथाह शान्ति की अनुभूति है, शांतरस। अभी आप अशांतरस में चौबीसों घंटे डूबे रहते हो।

पुद्गल को इस आधुनिक विज्ञान ने नचा रखा है। जैसे कठपुतली को नचाते हैं, वैसे नचा रखा है। पुद्गल, जड़पदार्थ जिसको कहते हैं उसको नचा रखा है। तो यहाँ यही कह रहे हैं कि आप नाच नहीं रहे हैं, आप नाचना भी नहीं चाह रहे हैं, पर पुद्गल की संगति से आपको नाचना पड़ रहा है। हमारे भगवान् ने सारा नाच तो देखा, पर खुद नहीं नाचे। यही हमारे भगवान् की विशेषता है, वीतराग भगवान् की। दुनिया सब नाचती है, पर हमारे भगवान् तीर्थंकर नहीं नाचे। उन्होंने नाच को देखा ज्ञाता, द्रष्टा बनकर पर खुद नहीं नाचे। आदिनाथ तीर्थंकर को तो वही वैराग्य का निमित्त, कारण बना। अरे ! बोले मेरी भी मृत्यु होगी। जैसे किसी को कहा कि– हट जाओ यहाँ से साँप है। अमुक खतरा है, जैसे जगा देते हैं। वैसे आदिनाथ भगवान् को, जो अप्सरा थी नीलांजना उसकी उनके सामने मृत्यु होते ही उन्हें भी पता चल गया कि मेरी भी एक दिन आयु खत्म होगी, यही स्थिति होगी, तो उसी समय वैराग्य हो गया।

सब रसों से श्रेष्ठ शान्तरस होता है। और शान्तरस से बढ़कर कोई रस नहीं है और जब अशान्तरस मन में होता है, तो न गद्दा सुख दे सकता है और न ही आपके फ्रिज में रखा कोई शीतल पेय ही शान्ति दे सकता है, न चन्दन का तेल दे सकता है। कोई शान्ति नहीं दे सकता है। अन्दर तो अशान्तरस घर करके बैठ गया है। नाना तरह के दुःख, वेदना से त्रस्त है मन आपका, तो शान्ति कहाँ से वहाँ प्रवेश करे? इसीलिए—

जग सुहितकर, सब अहितहर श्रुति-सुखद सब संशय हरै।
भ्रम-रोग-हर जिनके वचन मुखचन्द्र तैं अमृत झरै।।

क्या बात है ! सारे दुनिया का हित करनेवाली वाणी, वीतराग की वाणी है। जैसे दीपक जलते ही अँधेरा दूर हो जाये, वैसे ही जग का सुहित करने और अहित दूर करने की एक साथ शक्ति है, तो वो वीतराग भगवान् की वाणी में है। आपके अंदर समताभाव जगाना और ममता को दूर करना, एक साथ यह क्रिया करने की इस वाणी में शक्ति है। और यही वाणी मन की सारी शंकाओं को दूर कर देती है। शंका ही तो आदमी को डुबो देती है। बुद्धि उसी से भ्रमित होती है। ये एक तरह से शंका रोग है। बोलते हैं नाना बीमारियों की औषध है, मगर भ्रमरोग के लिए क्या औषध है? तो यह जिनवाणी जो है वही मात्र एक भ्रमरोग को हटाने में समर्थ है। उनकी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वाणी से अमृत बरसता है। जैसे अमृत से आदमी अमर हो जाता है। उनकी वाणी सुनने के बाद आदमी अजर-अमर हो जाता है। इतनी महान् शक्ति है। इसलिए ये वीतरागीवाणी मनुष्य को समताभावी बनाने में समर्थ है।

क्षणमपि सज्जनसंगतिरेका भवति भवार्णवतरणे नौका एक क्षण मात्र भी सत्संग के द्वारा कोई ज्ञानामृत मिल जाये, तो आपके मन को शांति मिल जायेगी। इतनी महान् शक्ति है ! इसीलिए कहते हैं कि आपने ममता और पुद्‌गल पदार्थों को एकत्रित किया, अब यही आपके दुःख के कारण हैं। ये अजीवाधिकार हैं। जीव, अजीव दोनों का साथी है। खान में सोने का पत्थर निकलता है। तो उस सोने के खान में सोना, मिट्टी, कंकड़, पत्थर कब से हैं? कहा कि अनादि से है। तो इसी तरह से हमारे आत्मा में भी ये जो कर्म में फँसा हुआ है, वह किस समय में फँस गया? तो कहा कि अनादि से फँसा चला आ रहा है। जैसे बीज और वृक्ष। बीज को बोओ, फिर वही वृक्ष। बार-बार बोओ, बार-बार वृक्ष पैदा होता है। ये क्रम अनादि से चला आ रहा है। तो आचार्य बताते हैं कि— यदि उस बीज को, दाने को थोड़ा भून देवें तो फिर वो बोने के बाद भी उगेगा नहीं, वृक्ष नहीं होगा। वैसे ही जो जन्म-मरणरूपी दुःख का बीज है, उसे तपश्चर्या के द्वारा भून डालने से फिर आप उससे मुक्त हो सकते हैं।

अप्पाणमयाणंता मूढा दु परप्पवादिणो केई।
जीवं अज्झवसाणं कम्मं च तहा परूविंति।। —(समयसार, 39)

अर्थ :— आत्मा को न जानते हुए परद्रव्य आत्मा को कहने वाले मूढ़ अज्ञानी तो रागादि अध्यवसान को और कर्म को जीव कहते हैं।

आत्मा का स्वरूप

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।। —(समयसार, 49)

अर्थ :— जो रसरहित है, रुपरहित है, गन्धरहित है, इन्द्रियों के अगोचर है, चेतना गुण से युक्त है, शब्दरहित है, किसी चिह्न या इन्द्रिय द्वारा ग्रहण नहीं होता और जिसका आकार बताया नहीं जा सकता, उसे जीव जानो।

आत्मा रस, रूप, गंध, स्पर्श, शब्द आदि से रहित, इन्द्रियों से ग्रहण न होने वाला किसी सुनिश्चित शारीरिक आकार से नहीं जानने योग्य एवं चेतना गुण से संबंधित है, —ऐसा जानना चाहिए। प्रायः संसारी प्राणी उपर्युक्त भौतिक चिह्नों से आत्मा को जानते हैं और यह गोरा है, यह काला है, यह लम्बा है, यह छोटा है, यह मधुरभाषी है, यह कर्कश बोलने वाला है, यह पुरुष है, यह स्त्री है, —इत्यादि अनेक रूपों से आत्मा की पहचान करते हैं, ऐसा ही परिचय देते हैं; किन्तु वस्तुतः आत्मा इनके द्वारा नहीं पहचाना जा सकता; क्योंकि ये सभी गुण भौतिक पदार्थों के हैं और आत्मतत्त्व विशुद्ध आध्यात्मिक चेतन गुणों से संपन्न है। यही कारण है कि स्पर्शन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आदि इन्द्रियों में से किसी भी इन्द्रिय के द्वारा आत्मा को नहीं जाना जा सकता है, क्योंकि इन इन्द्रियों के विषय स्पर्श-रस आदि हैं; जबकि आत्मा इन गुणों से नितान्त रहित है। आत्मा तो मात्र ज्ञान चक्षु से ही जानने योग्य है।

आत्मा ज्ञानमय, चैतन्यमय और अमूर्तिक है। रस, रूप, गंध, इंद्रियगोचर नहीं। चर्मचक्षु से उसको देखा नहीं जाता है, पर अनुभवगम्य है। जैसे आपको छूते ही पता चल जाता है कि कौन छू रहा है। आँख बंद करते ही उसको स्पर्श करते ही कहते हैं— **ये ठंडा, ये गरम है**। सब ज्ञान है, संवेदनशीलता है। चेतना उसका प्रमुख गुण है। शब्दरहित भी हम बोलते हैं। ये शब्द आत्मा के नहीं पुद्गल शरीर के दो स्थान के टकराने से जबान से शब्द निकलते हैं। वर्णों के उच्चारण स्थान आठ हैं— हृदय, कंठ, नाक, जबान, ओठ इत्यादि। प बोलते समय आप ओठ को दबा देते हैं। तो इस तरह से इन आठ स्थानों से टकराकर हमारे पुद्गल शरीर की जीभ से शब्द निकलते हैं। परंतु निमित्त-नैमित्तिक संबंध से जो चेतन आदमी हैं, वो इन शब्दों को निकालते हैं—ऐसा कहा जाता है। कितने तरह के शब्द हैं— जैसे घंटी का शब्द है, वाद्य का शब्द है, ताली बजाते हैं, चुटकी बजाते हैं। तो दो अंगों के टक्कर से शब्द निकलते हैं। दीवार को भी टकराकर शब्द वापस आते हैं। मतलब ये जड़ पदार्थ हैं। जो किसी भी प्रकार से इसके बाह्य चिह्न को पहचानने के लिए कथन सर्वथा कारणीभूत होता है। और जिसका आकार भी कोई शब्दों के द्वारा बताया नहीं जा सकता, इसीलिए उसका नाम निराकार रखा, अमूर्तिक भी रखा। जैसे तलवार से आत्मा को काटा नहीं जा सकता, (शरीर कट सकता है।) पानी से घुलता नहीं, हवा से सूखता नहीं। आत्मा के बारे में खूब चर्चा है और वर्णन भी है। बहुतों की ये धारणा है कि श्वासोच्छ्वास नहीं चल रहा है, नाड़ी नहीं चल रही है, अतः ये आदमी मर गया। इन बाहरी चिह्नों से मृत घोषित कर देते हैं। तो जिन-जिन लोगों ने इन बाहरी चिह्नों से मृत घोषित कर दिया, वे धोखा खा जाते हैं। अनेक गाँवों से समाचार आता है कि अमुक गाँव में एक शव को जलाने के लिए श्मशान में लेकर गये थे, तो वो वहाँ उठकर बैठ गया। कुन्दकुन्द आचार्य कहते हैं कि ये बाहरी चिह्न जो हैं, वे सीमित हैं; परन्तु ये अनुभवगम्य ज्ञान नहीं हैं। अनुभवगम्य ज्ञान क्या है? अनुभवगम्य ज्ञान दो हैं— 1. मतिज्ञान, 2. श्रुतज्ञान। मतिज्ञान क्या है? शरीर को हवा स्पर्श होते ही ज्ञान हो जाता है कि शरीर को हवा स्पर्श कर रही है, इसका नाम मतिज्ञान है। ये ठंडा है, गरम है, इससे सुख, दुःख का ज्ञान हो रहा है, तो ये सब श्रुतज्ञान है। तो हमारे सबके पास मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दो ज्ञान हैं और इन्हीं दोनों ज्ञान से मुक्ति होती है और किसी ज्ञान से मुक्ति नहीं होती। अवधिज्ञान मनःपर्यय ज्ञान से मुक्ति नहीं हो सकती। वो तो ज्ञान के पर्याय हैं और भौतिक पदार्थ को एक सीमित अवधि, मनःपर्ययज्ञान जानने का दूसरे के मन का सूत्र है। तो मति और श्रुतज्ञान से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्मा की अनुभूति की जा सकती है। हवा है, वो आपको दिखाई नहीं दे रही है, किधर से आ रही है, कितनी मोटी है? हवा को किसने देखा है? बताओ, कहते हैं कि खिड़की से बहुत अच्छी हवा आ रही है। पर वो शरीर को स्पर्श करने से मालूम पड़ती है, पर रूप-रंग दिखाई नहीं देता। तो ये जो अनुभूति है, इसकी अनुभूति कौन करता है? आत्मा। इसीलिए बताया था कि आत्मा दिखाई नहीं देता है। तो उसको समझाने के लिए एक पानी से भरे कुंड के पास ले गये, बोले— इसमें देखो कौन दिखाई दे रहा है? तो बोले— ये शरीर देख कौन रहा है? मुर्दा तो देखता नहीं, यानी ये आत्मा ही उस कुंड में शरीर को देख रही है।

कुछ लोग कहते हैं— आत्मा नित्य है, कुछ लोग कहते हैं— अनित्य है, कुछ लोग कहते हैं— परलोक है, कुछ कहते हैं— परलोक नहीं है, —इस तरह से गौतम गणधर ने कहा– मैं इस जंजाल में पड़ा हूँ, मुझे समझाइए। तो भगवान् महावीर ने कहा— आत्मा नित्य है। जैसे समुद्र का जल नित्य है। अनित्य भी है जैसे जल जो है, लहरें अनित्य हैं और पानी नित्य है। इसीप्रकार से हमारे पर्याय जो विचार भी हैं, वो आते हैं और चले भी जाते हैं, हजारों-लाखों विचार आये और चले गये पर आत्मा गया नहीं, नष्ट नहीं हुआ। पर जिसमें विचार आये वो आत्मा तो शाश्वत है, नित्य है; वो नष्ट नहीं होता। इस तरह से आचार्य ने बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से समझाया। और समयसार ग्रंथ आपको प्रतिदिन पढ़ना चाहिए, जितना समझ में आये उतना पढ़ो, धीरे-धीरे आपको समझ में आने लगेगा।

स्व-पर-भेदविज्ञान

समयसार ग्रन्थ साक्षात्-परमात्मा बनने का शास्त्र है। इसमें आत्महित की दृष्टि से स्व-पर-भेदविज्ञान का अत्यन्त सूक्ष्म-विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ के समस्त-वर्णन में एकमात्र आत्मानुभूति की ही प्रमुखता है। जीव अपने आत्मस्वरूप की निर्विकल्प-अनुभूति कैसे प्राप्त करे? —इसी दृष्टि से आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने समयसार ग्रन्थ की रचना की है। इसके दूसरे अधिकार में जीव और अजीव की भूमिका का विवेचन भी इसी दृष्टि से बहुत ही सरल और प्रभावशाली शब्दों में किया गया है। इसमें ज्ञान-दर्शन आदि को जीव का आत्मभूत-लक्षण बताया गया है, तथा एकेन्द्रियपने आदि को अनात्मभूत-लक्षण कहकर उसे मात्र लोक-व्यवहार की दृष्टि से काम का बताया है, आत्महित की दृष्टि से उसे अनुपयोगी ही माना है। आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं— जितने भी द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म आदि हैं, वे सभी आत्मा से भिन्न हैं। उनका आत्मा से कोई तात्त्विक-सम्बन्ध नहीं है। अपने अज्ञान के कारण जीव अनादिकाल से इनको अपना मानता आ रहा है। इसी को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं—

जीवो चेव हि एदे सव्वे भाव त्ति मण्णसे जदि हि।
जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो दु दे कोई।। –(समयसार, 62)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ :— जीव का वर्णादि से तादात्म्य-सम्बन्ध माननेवालों को समझाते हुए कहते हैं— यदि तू ऐसा मानता है कि ये समस्त भाव वास्तव में जीव ही हैं, तो तेरे मत में जीव और अजीव के मध्य कोई भेद नहीं रहता।

कुछ सम्प्रदाय ऐसे भी हैं, जो देहसहित मोक्ष-प्राप्ति मानते हैं। वे कहते हैं कि जैसे घड़े में चिड़िया बंद है, और घड़े को फोड़ दें, तो चिड़िया फुर्र से उड़ जाती है। इसीप्रकार जीव की भी सांसारिक बंधनों से मुक्त होते ही मुक्ति हो जाती है। ऐसी कल्पनाओं का निषेध करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं कि वर्णादि पौद्गलिक होने के कारण शरीर के धर्म हैं, तथा ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। यदि इन दोनों को एक माना जायेगा, तो जीव और अजीव के बीच में कोई विभाजन-रेखा नहीं रह जायेगी। जबकि ये दोनों दो अलग-अलग द्रव्य हैं।

अह संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादी।
तम्हा संसारत्था जीवा रूवित्तमावण्णा।। —(समयसार, 63)
एवं पोंग्गलदव्वं जीवो तहलक्खणेण मूढमदी।
णिव्वाणमुवगदो वि य जीवत्तं पोंग्गलो पत्तो।। —(समयसार, 64)

अर्थ :— यदि तुम्हारे मत में संसार में स्थित जीवों के वर्णादिक (तादात्म्यरूप से) होते हैं, तो इसकारण संसार में स्थित जीव रूपीपने को प्राप्त हो गये। इसप्रकार हे मूढ़मते ! रूपित्व-लक्षण पुद्गल द्रव्य का होने से पुद्गल द्रव्य ही जीव कहलाया और (संसार-दशा में ही नहीं) निर्वाण-प्राप्त होने पर भी (निर्वाण-अवस्था में भी) पुद्गल ही जीवत्व को प्राप्त हो गया। यहाँ पर शरीर और आत्मा का भेदविज्ञान कराने के लिए आचार्यदेव ने **न्यायशास्त्रीय शैली** में बड़े ही सुन्दर तर्क दिये हैं। वैसे भी अध्यात्म के ग्रन्थों में न्याय का प्रयोग बहुलता से प्राप्त होता है, पंडितप्रवर टोडरमल जी ने भी अपने मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ में यह स्पष्टरूप से कहा है कि अध्यात्म-ग्रन्थों में न्याय की शैली का प्रचुरता से प्रयोग मिलता है। और न्यायशास्त्र की शैली को समझे बिना अध्यात्म-ग्रन्थों का मर्म नहीं समझा जा सकता है। न्यायशास्त्र में दो तरह के लक्षणों का प्ररूपण प्राप्त होता है— आत्मभूत-लक्षण और अनात्मभूत-लक्षण। आत्मभूत और अनात्मभूत हर पदार्थ में ये दो लक्षण होते हैं। किसी पुलिस ने किसी को कह दिया— अरे ! उस छातेवाले को पकड़ो, तो भीड़ में उसने छाता फेंक दिया, तो किसको पकड़ोगे? यदि कहा कि— अरे ! उस काली टोपीवाले को पकड़ो, और यदि उसने अपनी काली टोपी फेंक दी, तो किसको पकड़ोगे? अतः जो अलग किये जा सकते हैं, वे सब अनात्मभूत-लक्षण हैं। और आत्मभूत-लक्षण कभी अलग नहीं होते। जैसे अग्नि है, इसके अंदर आत्मभूत-लक्षण है। कैसे? जलते रहना उसका स्वभाव है। दाहकत्व उसका गुण है। इसके अलावा उसके दो उपगुण भी हैं। प्रकाश फैलाना और गर्मी फैलाना। इसतरह से तीन गुण हो गये। इन तीनों को अलग करना चाहो कि प्रकाश एक कमरे में रखो,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गर्मी दूसरे कमरे में रखो और अग्नि को एक तीसरे कमरे में जलने दो, तो ऐसा कभी नहीं हो सकता। इसीतरह से हमारा आत्मा चेतना-लक्षण जीव का प्रमाणवाद से मूल-लक्षण है चैतन्य। उसके उपलक्षण दो हैं— एक ज्ञानोपयोग और दूसरा दर्शनोपयोग। एक हाथ में ज्ञान रखो और दूसरे हाथ में दर्शन रखो —ऐसा नहीं हो सकता है। इसतरह से आत्मा के तीन लक्षण हैं। एक लक्षण और दो उपलक्षण। ये तीनों अलग नहीं हो सकते। इसीलिए इसको कहते हैं आत्मभूत-लक्षण।

आत्मभूत-लक्षण का एक और भी दृष्टान्त न्याय-ग्रन्थों में मिलता है, **जलस्य धारा**। जैसे किसी ने आपको पानी पिलाने के लिए किसी बर्तन से धारा छोड़ी, तो पानी और धारा दो अलग-अलग चीजें नहीं हैं, वे अभेद होते हैं। ऐसे ही आत्मा और ज्ञानादि-स्वभाव अभिन्न हैं, ये कभी अलग नहीं हो सकते। पानी का गुण शीतल होना भी है, यदि पानी को बर्तन में रखकर अँगीठी पर गर्म होने रख दें, तो वह गर्म हो जाता है; किन्तु अँगीठी से उतारकर रखते ही वह फिर से ठंडा हो जाता है। इसीप्रकार चारित्रमोहनीय कर्म के प्रभाव से जीव क्रोधादि-विकार रूप प्रतीत होता है, किन्तु कर्म का उदय हटते ही वह अपने ज्ञान-स्वभाव में आ जाता है। इससे स्पष्ट है कि संयोग से प्रतीत होनेवाली परिस्थितियाँ वस्तु का स्वभाव नहीं होतीं, अपितु असंयोगीरूप में जैसा स्वरूप अनुभवगोचर होता है; वही वस्तु का यथार्थ स्वभाव है। अग्नि-संयोग से गर्म-पानी उसका अनात्मभूत-लक्षण है, तथा शीतल-स्वभाव उसका आत्मभूत-लक्षण है। इसीप्रकार ज्ञान-दर्शन-क्षमा-शांति आदि जीव के आत्मभूत-लक्षण हैं, और क्रोधादि अनात्मभूत-लक्षण हैं। चौदह जीवसमास आदि जो जीव के वर्णन-प्रसंग में करणानुयोग के ग्रन्थों में वर्णित हैं, वे भी वास्तव में जीव के स्वरूप नहीं हैं।

एक्कं च दोण्णि तिण्णि य चत्तारि य पंचइंदिया जीवा।
वादरपज्जत्तिदरा पयडीओ णामकम्मस्स।। —(समयसार, 65)
एदाहि य णिव्वत्ता जीवट्ठाणा दु करणभूदाहिं।
पयडीहिं पोंग्गलमइहि ताहि किह भण्णदे जीवो।। —(समयसार, 66)

अर्थ:— एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, बादर, पर्याप्त और इनसे इतर सूक्ष्म और अपर्याप्त जीव —ये नामकर्म की प्रकृतियाँ हैं। इन करणभूत प्रकृतियों से, जो पौद्गलिक हैं; उनसे तो जीवस्थान रचे गये हैं। तब वे जीव कैसे कहे जा सकते हैं?

जैसे कुम्हार बर्तन बनाता है, और उन्हें यह घड़ा है, ये कुल्हड़ हैं, ये ढक्कन हैं, ये कटोरा है इत्यादि अलग-अलग नाम देता है। किन्तु वे वास्तव में मिट्टी से बने हुए हैं, इसीप्रकार एकेन्द्रिय से लेकर संघी पंचेन्द्रिय तक सभी जीव शरीररूप से वर्णित हैं, यह भेद वास्तव में आत्मा के नहीं हैं। एकेन्द्रिय आदि शरीर के ही लक्षण हैं, इसलिए ये सभी भेद पौद्गलिक बताये हैं। संसार अवस्था में शरीर का संयोग अनिवार्य रहने के कारण अनात्मभूत-लक्षण के रूप में जीवों के एकेन्द्रिय आदि भेद

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कहे गये हैं। किन्तु वही जीव एकेन्द्रिय शरीर छोड़कर जब दोइन्द्रिय या पंचेन्द्रिय आदि में जाता है तो वही दो इन्द्रिय जीव या पंचेन्द्रिय जीव कहलाने लगता है। इससे स्पष्ट है कि जैसे हम झोंपड़ी में रहते हैं तो झोंपड़ीवाले, बँगले में रहते हैं तो बँगलेवाले और महल में रहने से महलवाले कहे जाते हैं, उसीप्रकार एकेन्द्रिय आदि शरीर में रहने से जीव को भी एकेन्द्रिय-जीव आदि के रूप में परिचय दिया जाता है। जैन शास्त्रों के अनुसार पृथ्वीकायिकादि स्थावर-जीव एकेन्द्रिय हैं, चावल आदि में पड़ जानेवाली लट दो-इन्द्रिय है, चींटी आदि तीन-इन्द्रिय जीव माने गये हैं, भौंरा आदि चार-इन्द्रिय और मनुष्यादि पाँच-इन्द्रिय जीव माने गये हैं। किन्तु जीवों के यह सभी वर्णन संसार-अवस्था में नामकर्म के उदय के कारण कहे जाते हैं, नामकर्म से अतीत शुद्ध सिद्ध-परमात्मा को इनसे भिन्न माना गया है। वही जीव या आत्मा का शुद्ध स्वरूप है, चूँकि इन एकेन्द्रिय आदि संज्ञाओं के कारणभूत कर्म-प्रकृतियाँ पौद्‌गलिक हैं, इसीकारण से आचार्य कुन्दकुन्द ने इन एकेन्द्रिय आदि भेदों को भी जीव का स्वरूप नहीं माना है—

पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा वादरा य जे जीवा।
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता।। —(समयसार, 67)

अर्थ :— जो पर्याप्त तथा अपर्याप्त और सूक्ष्म तथा वादर जीव कहे गये हैं, वे देह की अपेक्षा जीव संज्ञाएँ हैं। वे सब परमागम में व्यवहारनय से कही गई हैं। इनके साथ-साथ मिथ्यात्व से लेकर अयोगकेवली जिन-पर्यंत चौदह-गुणस्थानों को भी आचार्यदेव ने जीव का स्वरूप नही माना है, और इन्हें मोह और योग के निमित्त से वर्णित बताया है—

मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिदा जे इमे गुणट्ठाणा।
ते किह हवंति जीवा जे णिच्चमचेदणा उत्ता।। —(समयसार, 68)

अर्थ :— जो ये गुणस्थान हैं, वे मोहनीय कर्म के उदय से बतलाये गये हैं। जो नित्य अचेतन कहे गये हैं, वे जीव कैसे हो सकते हैं।

जरा विचार करें कि जब चौदह जीवसमास, चौदह गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि जीव का स्वरूप नहीं है, तो अन्य परपदार्थों को यह जीव अपना मानता है— यह कितना बड़ा अज्ञान है। इन सबसे भिन्न **मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ** —ऐसा चिन्तन, मनन और अनुभवन हमें स्व-पर-भेदविज्ञान के पथ पर अग्रसर कर सकता है।

कर्त्ता-कर्म-विषयक भूल

संसारी जीव को अज्ञानभाव के कारण कर्त्ता-कर्म संबंधी भूल अनादिकाल से चली आ रही है। वह अपने मोहजन्य अज्ञानभाव से अपने आपको क्रोधादि विकारों एवं अन्य कार्यों का कर्त्ता मानता है। परपदार्थों के कर्तृत्व के बारे में उसका अभिमान अनेक बार चूर-चूर हुआ है। क्योंकि परपदार्थ का अपनी इच्छा के अनुसार परिणमन कर्म के अधीन है, अपने पुरुषार्थ के अधीन नहीं। किन्तु जो राग-द्वेष-मोह के विकारी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिणाम होते हैं, उन्हें यह जीव अपने द्वारा किया हुआ मानकर अपने ज्ञानस्वभाव को भूलकर अपने आपको रागी-द्वेषी-मोही मानने लगता है।

> **जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोण्हं पि।**
> **अण्णाणी ताव दु सो कोहादिसु वट्टदे जीवो।।** –(समयसार, 69)
> **कोहादिसु वट्टंतस्स तस्स कम्मस्स संचओ होदि।**
> **जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्वदरिसीहिं।।** –(समयसार, 70)

अर्थ :— जीव जब तक आत्मा और आस्रव दोनों के ही (भिन्न-भिन्न) लक्षण और भेद को नहीं जानता है, तब तक वह अज्ञानी क्रोधादिक आस्रवों में प्रवृत्त रहता है। क्रोधादिक आस्रवों में वर्तते हुए उसके कर्मों का संचय होता है। वास्तव में जीव के इसप्रकार कर्मों का बन्ध सर्वज्ञ ने बताया है।

जब तक यह जीव क्रोधादि भावों के बारे में **ये आस्रव तत्त्व हैं, और मैं इनसे भिन्न जीवतत्त्व हूँ** –ऐसा नहीं जान लेता है, तब तक उसका क्रोधादि का कर्त्तापना दूर नहीं होता है; और इस अज्ञान के कारण वह अपार कर्मबन्ध करता हुआ संसार में परिभ्रमण करता है। यहाँ पर आचार्य कुन्दकुन्द स्पष्ट कर रहे हैं कि— पूर्वकर्म के उदय से हुए राग-द्वेष विकारी भावों के कर्त्ता बनकर यह जीव नया कर्मबन्ध कर रहा है। इसप्रकार यह अपना अहित स्वयं ही कर रहा है। यह लोक में अपने अहित के कर्त्ता के रूप में दूसरों को ढूँढ़ता रहता है, किन्तु यहाँ पर आचार्य कुन्दकुन्द स्पष्ट कर रहे हैं कि तुम्हें कोई दूसरा नुकसान नहीं पहुँचा रहा है, बल्कि अपने आप को क्रोधादि का कर्त्ता मानकर तुम अपना अहित स्वयं ही कर रहे हो। इसप्रकार अपने शत्रु तुम स्वयं ही बने हुए हो।

इस कर्त्ता-कर्म-अधिकार का मर्म जिसे समझ आ जाये, वह गृहस्थी होकर भी तपस्वी के समान हो जायेगा; और उसका घर तपोवन बन जायेगा। किन्तु पर कर्तृत्व के चक्कर में फँसकर यह जीव मोह-राग-द्वेष को बढ़ाता हुआ न तो स्वयं मोक्षमार्ग पर बढ़ पाता है, और न ही दूसरों को आत्महित करने देता है। वह सोचता है कि– मेरे कारण ही मेरे बेटे-बहू आदि परिवारवाले सुखी हैं, यदि मैं इनका ध्यान न रखूँ और इनके सुख के साधन न जुटाऊँ तो न जाने इनकी क्या गति होगी? उसके संयोग में रहने के कारण घर-परिवारवाले भी ऐसे कर्तृत्व के संस्कार लेते रहते हैं, और वह भी अपने को क्रोधादि विकारों का कर्त्ता मानते हैं। जिसके परिणामस्वरूप सभी संसार में परिभ्रमण करते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने स्पष्ट कर दिया कि जब तक जीव क्रोधादि विकारों का कर्त्ता अपने को मानता है, तभी तक उसके ये विकार उत्पन्न होते हैं। तथा जब यह अपने को क्रोधादि का कर्त्ता नहीं माने, तो इसके अन्तर में क्रोधादि विकार भी उत्पन्न नहीं होंगे। जब तक इसके अन्तर में क्रोधादि विकार उत्पन्न हो रहे हैं, तब तक यह जीव अपने को इनका कर्त्ता मान रहा है, और इस

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मान्यता के कारण यह जीव अज्ञानी है, यह सिद्ध होता है। क्योंकि इस अज्ञानभाव के बिना जीव के क्रोधादि विकार उत्पन्न नहीं हो सकते। अतः क्रोधादि विकारों में प्रवर्तमान जीव अज्ञानी है, यह सिद्ध हो जाता है।

सबसे बड़ा नुकसान कर्तृत्ववाद है। नयचक्र में भी कहा है कि तत्त्व का निश्चय करनेवाला आदमी आत्मा परद्रव्य को यह मेरा है, मैं इसका स्वामी हूँ –इसतरह का भाव कभी नहीं करता। कहाँ तक स्वामित्व-भाव की स्थापना करते जाओगे, बताओ? फिर कहते हैं कि जो क्रोध करता है, वह कर्मों का संचय करता है, जिससे जीव को बंध होता है, उस बंध का फल जीव को भोगना पड़ता है। ये सारी बातें सर्वज्ञ भगवान् ने कही हैं, ये मैं नहीं कह रहा हूँ। कई लोग कहते हैं कि देवता आदि तो मदद करते ही हैं, अतः उन्हें तो कर्त्ता मानना चाहिए। किसी ने द्रौपदी का चीर बढ़ाया था, तो किसी ने सीता की अग्नि परीक्षा के समय अग्नि को जल बनाया था, अतः इनके कर्त्ता आप इन्हें मानेंगे या नहीं। सीता के हरण के समय यह देवता मदद करने क्यों नहीं आये थे और द्रौपदी जब वनवास में अनेक कष्ट भोग रही थी, तब इन देवताओं ने उसकी मदद क्यों नहीं की? जब इनके पुण्य का उदय था, तो यह देवता मददगार बन गये। जब पाप का उदय था तो इन्हें इनकी मदद का भाव भी मन में नहीं आया। इसलिए जीव अपने कर्मों का फल स्वयं भोगता है, कोई किसी का भला-बुरा नहीं करता। ऐसा जानने पर ही जीव का कर्तृत्वभाव शिथिल पड़ सकता है।

जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव।
णादं होदि विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से।। –(समयसार, 71)

अर्थ :— जब यह जीव आत्मा का और आस्रवों का (भिन्न-भिन्न) लक्षण और भेद जान लेता है, तब उसके कर्मबन्ध नहीं होता।

इसप्रकार का भेदज्ञान करने पर ही जीव को आत्मज्ञान होता है, और वह आत्महित कर सकता है, किन्तु इस जीव को अनादिकाल से राग-द्वेष-मोह आदि विकारी भावों के कर्त्तापने का मिथ्या अहंकार और ऐसा ही अभ्यास बना हुआ है। इसलिए वह अपने आपको इन राग-द्वेष-मोह आदि आस्रवभावों से भिन्न नहीं जान पाता है, और अपने को इनका कर्त्ता मानता रहता है।

णादूण आसवाणं, असुचित्तं च विवरीदभावं च।
दुक्खस्स कारणं त्ति य, तदो णियत्तिं कुणदि जीवो।। –(समयसार, 72)

अर्थ :— आस्रवों का अशुचिपना, इनका विपरीत भाव और वे दुःख के कारण हैं, यह जानकर जीव उनसे निवृत्ति करता है।

इसमें आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं– आस्रवभावों को तीन रूप से जानना चाहिए– 1. ये आस्रवभाव अशुचि अर्थात् अपवित्र हैं, इनका आश्रय लेकर जीव कभी भी पवित्रता को प्राप्त नहीं कर सकता है। 2. ये आस्रवभाव आत्मा के ज्ञान-स्वभाव से विपरीत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अज्ञानमय भाव हैं, अतः इनके रहते हुए जीव कभी भी आत्मलाभ नहीं कर सकता है। 3. ये आस्रवभाव दुःख के कारण हैं, अतः जैसे कोई प्राण लेनेवाले विषधर सर्प को अपने बगल में नहीं सुलाता है; उसीप्रकार जीव को इन दुःखदायक आस्रवभावों का अवलम्बन भी तत्काल छोड़ देना चाहिए। इसप्रकार आस्रवभावों से रुचि और प्रवृत्ति हटाकर जीव आत्मलाभ कैसे प्राप्त करता है?

अहमेक्को खलु सुद्धो य णिम्मगो णाणदंसणसमग्गो।
तम्हि ठिदो तच्चित्तो सव्वे एदे खयं णेमि।।—(समयसार, 73)

अर्थ :— (ज्ञानी विचार करता है कि) मैं निश्चय ही एक हूँ, शुद्ध हूँ, ममत्वरहित हूँ और ज्ञानदर्शन से परिपूर्ण हूँ। (उक्त लक्षण वाले) शुद्धात्मस्वरूप में स्थित और सहजानन्द स्वरूप में तन्मय हुआ मैं इन सब (क्रोधादिक आस्रवों) को नष्ट करता हूँ।

आचार्यदेव ने आत्मसाधक जीव के भावों का कुशल चितेरे की भाँति चित्रण किया है। अध्यात्मप्रेमियों के बीच में यह गाथा अत्यधिक लोकप्रिय और बहुप्रचलित है। इसमें साधक जीव अपने बारे में ऐसा अनुभव करता है कि मैं एक हूँ, स्वभाव से शुद्ध हूँ, परपदार्थों के ममत्व आदि विकारी भावों से रहित हूँ, ज्ञान-दर्शन आदि स्वाभाविक गुणों से परिपूर्ण हूँ। ऐसा निरन्तर मनन-चिंतन करता हुआ यह जीव शुद्ध निर्विकल्प आत्मस्वभाव में स्थित हो जाता है, उसी में मग्न हो जाता है और उसके सम्पूर्ण क्रोधादि आस्रवभाव नष्ट हो जाते हैं। यह एक अत्यंत मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है, जिसमें आत्म-चिंतन में एकाग्र करके जीव को क्रोधादि भावों से निवृत्त करने का प्ररूपण किया गया है।

आस्रवों का दुःखमय स्वरूप

जीवणिबद्धा एदे अधुव अणिच्चा तहा असरणा य।
दुक्खा दुक्खफला त्ति य णादूण णिवत्तदे तेहिं।। —(समयसार, 74)

अर्थ :— ये क्रोधादि आस्रव जीव के साथ निबद्ध हैं, अध्रुव हैं, अनित्य हैं तथा अशरण हैं (रक्षा करने में समर्थ नहीं हैं) और ये दुःखरूप हैं और दुःखरूप फल देने वाले हैं —यह जानकर (ज्ञानी) उन आस्रवों से निवृत्त होता है।

इस गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द ने बहुत ही मनोवैज्ञानिक तरीके से आस्रवों की स्थिति बताकर जीव को उनसे निवृत्त होने की प्रेरणा दी है। जितने भी क्रोध, मान, माया, लोभ आदि आस्रवभाव हैं, वे जीव के साथ निबद्ध तो हैं; फिर भी वे जीव का स्वरूप नहीं बन सके हैं, क्योंकि जीव ध्रुव है, तो आस्रवभाव अध्रुव हैं। जीव नित्य है, तो आस्रवभाव अनित्य हैं, जीव नित्यशरणभूत है, तो आस्रवभाव शरण लेने योग्य नहीं हैं। उनमें अनित्य होने के कारण शरण देने की सामर्थ्य भी नहीं है, इसीप्रकार जीव जहाँ अनन्त सुख का पिण्ड है और उसकी अनुभूति भी अनन्त सुख को देनेवाली है; वहीं आस्रवभाव स्वयं दुःखरूप है तथा इनके परिणामस्वरूप भी जीव दुःख ही भोगनेवाला है। अभिप्राय यह है कि ये क्रोध, मान आदि के आस्रवभाव आकुलतामय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होने के कारण जब जीव इन भावों को करता है, तब भी वह दुःख की ही अनुभूति करता है, और फिर इन आस्रवभावों के परिणामस्वरूप जो कर्मबन्ध होता है, उनका उदय आने पर भी जीव को दुःख ही भोगना पड़ता है।

यह कितनी विचित्र बात है कि अपना आत्मस्वरूप सर्वोत्तम होते हुए भी अज्ञानी जीव मोहभाव के कारण इन क्रोधादि आस्रवों का आश्रय लेकर, इन्हें अपनाकर स्वयं दुःख भोग रहा है। जिनमें स्वयं सुख नहीं है, उनमें यह सुख की खोज कर रहा है; और अपनी आत्मा का स्वरूप जो सुख का निधान है, उससे यह विमुख बना हुआ है। जैसे हम सूरज को पीठ करके चल रहे हों, तो हमारी छाया हमारे आगे-आगे चलती है; यदि हम उसे पकड़ना चाहें तो हमारा वह प्रयास मात्र खेद के अन्य कुछ भी नहीं दे सकता है, क्योंकि कितने भी प्रयत्न कर लें, पर छाया पकड़ में आने वाली नहीं है। किन्तु यदि हम उस छाया से मुँह मोड़कर सूरज की ओर चलें तो हमारी छाया अपने आप हमारा अनुगमन करने लगेगी। ठीक यही स्थिति आत्मस्वरूप से विमुख होकर क्रोधादि आस्रवभावों में सुख खोजने के प्रयास में हो रही है। यदि हमें वास्तव में सुख चाहिए तो आचार्य कहते हैं कि इन आस्रवभावों की असलियत जानो और साथ ही इनसे भिन्न निज-आत्मस्वरूप की महिमा को पहचानो, तभी तुम्हें इन आस्रवभावों से छुटकारा मिल सकेगा। आस्रवभावों के परिणामस्वरूप जो पुण्य-पापरूप कर्म बनते हैं, उनके उदय में भी जीव यदि हर्ष-विषाद करता है, तो इसे नये आस्रव होने लगते हैं। इसीलिए कविवर पंडित दौलतराम जी ने अपने 'छहढाला' ग्रन्थ में एक बहुत महत्त्वपूर्ण शिक्षा दी है कि—

पुण्य-पाप-फल मांहि हरख-बिलखो मत भाई।
यह पुद्गल परजाय उपजि-विनसे फिर थाई।।

अर्थात् जितने भी पुण्य-पाप आदि कर्म हैं, वे स्वयं पुद्गल हैं और इनके फलस्वरूप होने वाले क्रोधादि आस्रवभाव भी पुद्गल की ही पर्याय कह रहे हैं। यह बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है क्योंकि वस्तुस्वरूप की दृष्टि से क्रोधादि आस्रवभाव जीव के विकारी भाव कहे जाते हैं, किन्तु वे न जीव के स्वरूप हैं और न ही उनका आश्रय लेकर जीव कभी भी सुख का अनुभव कर सकता है। अतः इनका आकर्षण छुड़ाने के लिए दो टूक निर्णय देते हुए ज्ञानीजन लिखते हैं कि यह आस्रवभाव तुम्हारा स्वरूप नहीं है, बल्कि यह पुद्गल की पर्याय हैं।

इन आस्रवभावों को आचार्य कुन्दकुन्द ने यहाँ छः विशेषण दिये हैं— पहला विशेषण है कि ये जीव के साथ बँधे हुए हैं। यह बहुत विचारणीय बात है, क्योंकि अखण्ड एक रस्सी में कोई भी गाँठ नहीं लगाता बल्कि दो अलग-अलग हों, तभी उनमें गाँठ लगाकर जोड़ने का या बाँधने का प्रयत्न करता है। बंधन की प्रतीक वह गाँठ यह स्पष्ट करती है कि वे दोनों भिन्न-भिन्न हैं, इसीप्रकार आस्रवभाव जीव के साथ बँधे हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

—यह कथन अपने आप में स्पष्ट सूचना देता है कि ये क्रोधादि आस्रवभाव जीव का स्वरूप नहीं है। दूसरे विशेषण के रूप में आचार्यदेव ने अध्रुव शब्द का प्रयोग किया है, इसका अर्थ होता है कि जो निरन्तर अस्थिर है। जो चीज़ स्वयं ही स्थिर नहीं है, उसका आश्रय कैसे लिया जाये; और उससे सुख की अपेक्षा कैसे की जा सकती है। जैसे कि कोई चीज़ बड़ी तेजी से दायें-बायें हिल रही हो, उस पर यदि ध्यान केन्द्रित करने को कहें, तो वह संभव ही नहीं है, और इस प्रयास में सिवा कष्ट के अन्य कुछ भी मिलने वाला नहीं है। इसीप्रकार लोक में जो व्यक्ति अस्थिरचित्त होते हैं, उनके साथ रहने पर साथ रहनेवाला भी कष्ट ही पाता है। किसी ने लिखा है कि—

क्षणे रुष्टाः क्षणे तुष्टाः रुष्टास्तुष्टा क्षणे-क्षणे।
अव्यवस्थितचित्तानां तु प्रसादोऽपि भयंकरः।।

अर्थात् जो व्यक्ति क्षण में नाराज हो जाये और क्षण में प्रसन्न हो जाये। इसप्रकार क्षण-क्षण में जो नाराज और प्रसन्न होता रहे, तो सामनेवाला यह निर्णय ही नहीं कर सकता कि वह वास्तव में कब प्रसन्न है, और कब नाराज। ऐसे व्यक्तियों की तो कृपा भी भयंकर ही मानी गयी है।

इसीप्रकार जो क्रोधादि आस्रवभाव स्वयं अस्थिर हैं, क्षण-क्षण में बदलते रहते हैं; कभी क्रोधरूप, कभी मानरूप, कभी मायारूप और कभी लोभरूप। इसप्रकार आस्रव अपने आप में निरन्तर अस्थिर होते हुए आश्रय के योग्य कैसे हो सकते हैं। यह कहकर आचार्य कुन्दकुन्द ने इन अध्रुवस्वरूप आस्रवभावों का आश्रय छुड़ाने की चेष्टा की है।

तीसरे विशेषण के रूप में आचार्य कुन्दकुन्द ने 'अनित्य' शब्द का प्रयोग किया है, इसका अभिप्राय है कि ये आस्रवभाव क्षणभंगुर हैं, स्थायी नहीं हैं। लोक में यदि यह कहा जाये कि हम तुम्हें क्षण भर के लिए या घंटे भर के लिए नौकरी देते हैं, वह भले ही कीमती क्यों न हो, किन्तु उसे व्यक्ति स्वीकार नहीं करना चाहता, जबकि उसके बदले में कम तनख्वाह वाली स्थायी नौकरी लेना चाहता है। इससे स्पष्ट है कि क्षणभंगुर के आश्रय से सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। यहाँ तक कि क्षणभंगुर के द्वारा सुख की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। जैसे कोई व्यक्ति अपने बुढ़ापे में सहारा लेने के लिए किसी को गोद लेना चाहे, किन्तु यदि वह गोद आनेवाला व्यक्ति उससे भी अधिक बूढ़ा हो या अशक्त हो, या जल्दी मर जानेवाला हो तो क्या वह उसे गोद लेगा? नहीं लेगा। इसीप्रकार क्षणभंगुर आस्रवभावों का आश्रय जीव नहीं ले सकता है, और यदि लेना भी चाहता है तो उसके परिणामस्वरूप उसे आकुलता और कष्ट के अलावा कुछ भी मिलनेवाला नहीं है। एकमात्र आत्मा ही शाश्वत तत्त्व है, और उसीका आश्रय जीव को सुख की अनुभूति करा सकता है। इसके अलावा स्त्री-पुत्र कुटुम्ब-परिवार आदि सभी क्षणभंगुर संयोग हैं, इनसे जीव कभी भी सुख नहीं प्राप्त कर सकता। संसार में क्षणभंगुर चीजों का आश्रय लेकर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सभी ने दु:ख ही पाया है। सीता और राम का संयोग भी शाश्वत नहीं था, फिर भी उनके अनुराग में पड़कर दोनों ही जीवनभर कष्ट पाते रहे। इसीप्रकार राज्य-लक्ष्मी आदि भी क्षणभंगुर हैं, स्थायी नहीं हैं; फिर भी पाण्डवों और कौरवों ने उस राज्य के स्वामित्व के लिए महाभारत जैसे घनघोर युद्ध किये। किन्तु कष्ट के सिवा कुछ भी नहीं पाया, और जब श्रीराम ने दिगम्बर-दीक्षा ली और आत्मसाधना करके मोक्ष प्राप्त किया; तभी वे परिपूर्ण सुख का अनुभव कर सके। इसीप्रकार पाण्डवों ने भी क्षणभंगुर संसार का मोह त्यागकर त्रिकाली ध्रुव आत्मतत्त्व में लीन होने के लिए मुनि-दीक्षा ली, तो तीन आत्मस्वरूप में स्थिर होकर मोक्ष चले गये, और दो अपने भाइयों का विचार करने के कारण संसार में ही रह गये। देखें, भाई चाहे सगा हो या सौतेला, कोई भी नित्य सम्बन्ध नहीं है। सभी संयोग अनित्य हैं। और इनका आश्रय संसार का ही कारण है, उससे कभी भी मोक्ष-सुख मिलनेवाला नहीं है। हम अपना सम्पूर्ण इतिहास देख लें, तो उससे एकमात्र यही निष्कर्ष निकलेगा कि क्षणभंगुर संयोगों और क्रोधादि आस्रवों के आश्रय से किसी को कभी भी सुख की प्राप्ति नहीं हुई, बल्कि इन्हें छोड़कर नित्य आत्मस्वरूप का अवलम्बन लेने से ही सुख की प्राप्ति हुई है।

पर को अपना मान बैठा खुद को पहचाना नहीं।
भूल है यह आपकी जो आपको जाना नहीं।।
आपको जाने बिना परमात्मपद पाना नहीं।
परमात्म पद पाकर फिर संसार में आना नहीं।।

चौथा विशेषण **अशरण** है। दुनिया में व्यक्ति अपने दु:खों से बचने के लिए और दूसरे को सुखदायक जानकर दूसरे की शरण लेता है। किन्तु जो स्वयं दुख:दायक हो, वह शरण लेने के योग्य कैसे हो सकता है। शरण हमेशा अपने से श्रेष्ठ की ली जाती है, निकृष्ट की नहीं। जबकि आस्रवभाव जीव से हर मायने में निकृष्ट हैं, तो उनकी शरण लेकर हम श्रेष्ठता का अनुभव कैसे कर सकते हैं। इसलिए ऐसे आस्रवों को अशरण कहकर आचार्य कुन्दकुन्द ने उनका आश्रय छोड़कर आत्मस्वरूप का आश्रय लेने की मंगल-प्रेरणा यहाँ प्रदान की है। **पाँचवें** और **छठे** विशेषण के रूप में आस्रवों को **दु:खरूप** और **दु:खफलदायक** कहकर आचार्य ने इनसे विरक्त होने का ठोस और परिपूर्ण आधार दे दिया है। क्रोधादि की दु:खमयता तो हम सभी स्पष्ट ही अनुभव करते हैं, तथा इनके फलस्वरूप बँधनेवाले कर्मों के उदय में जो-जो कष्ट हमें भोगने पड़ते हैं, उनसे भी सभी जीव कमोबेशरूप में परिचित हैं। ऐसे आस्रवभावों को उनकी असलियत के साथ जानकर भी यदि जीव उनसे विरक्त न हो, तो यह मोह की ही महिमा कही जायेगी। यदि कोई जीव पूर्वाग्रह से रहित होकर सही भावों से इस गाथा में कहे गये अभिप्राय के अनुसार आस्रवों का स्वरूप जान ले, तो वह आस्रवों का आश्रय छोड़कर आत्मस्वरूप की ओर अवश्य प्रवृत्त होगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञानी जीव की परिणति

पर का कर्त्ता बनकर यह जीव अनेक प्रकार के क्रोध-मान-माया-लोभ आदि विकारी आस्रवभावों के रूप परिणमन करता हुआ अनन्त दु:ख भोग रहा है। असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीव तो अनादि अगृहीत मिथ्यात्व के कारण संसार में परिभ्रमण करते हैं, किन्तु संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव मनसहित होने से विचार-शक्ति की उनमें प्रधानता होती है। इसलिए अपने अज्ञानभाव के कारण वे जीव परपदार्थों और राग-द्वेष-मोह विकारीभावों का अपनेआप को कर्त्ता मानते हैं, तथा मैं करता हूँ, और ये परद्रव्य-परभाव मेरे कर्म हैं —यही मिथ्या मान्यता उन्हें सम्यग्दर्शन से दूर रखकर संसार के दु:खों से छूटने नहीं देती है। कुन्दकुन्द आचार्यदेव ने समयसार के कर्त्ता-कर्म-अधिकार में जीव की ऐसी मान्यता का बहुत ही वैज्ञानिक तरीके से निराकरण किया है। इतना ही नहीं उन्हें कर्त्ता-कर्म-अधिकार में भरपूर विवेचन करने के बाद भी पूरी तरह संतुष्टि नहीं हुई, तो इसी विषय को लेकर समयसार के अंत में सर्व-विशुद्ध-ज्ञान-अधिकार लिखा, और उसमें इसी विषय को बहुत सूक्ष्मता के साथ खुलासा किया है।

क्रोधादि आस्रवभावों को अध्रुव, अनित्य, अशरण, दु:खरूप इत्यादि विशेषताओं से स्पष्ट करते हुए जीव को उनसे विरक्त कराने की प्रेरणा दी थी। फिर इसके बाद आगे जीव कर्त्ता-कर्म की झूठी मान्यता को छोड़कर ज्ञानी कैसे बन सकता है, इसका विवेचन बहुत मार्मिक शब्दों में कर रहे हैं। विद्वानों ने बुद्धि का फल आत्महित में प्रवृत्ति करना बताया है। संसारी जीवों को ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से बुद्धि तो मिल जाती है, किन्तु वे उसका उपयोग परपदार्थों और परभावों के हेर-फेर में ही करके अपने मनुष्यभव को बर्बाद कर लेते हैं। यह ऐसी ही स्थिति है कि जैसे कोई पारसमणि को पाकर उसे सब्जी-भाजी तोलने का बाट बनाकर काम लाये। जैसे वृक्षों में फल लगते हैं, किन्तु यदि वे कच्चे तोड़ लिये जायें या फल लगने के पहले ही उस वृक्ष के पत्ते, टहनियाँ आदि चबाकर उसके फलों की मिठास का अनुभव करना चाहें, तो यह उस व्यक्ति की अज्ञानता ही होगी; क्योंकि फल तो पकने के बाद ही अपनी मिठास का अनुभव कराते हैं। चाहे वह आम हो, अमरूद हो, संतरा हो या अन्य कोई भी फल हो। जैसे कच्चा फल मधुर स्वाद नहीं देता है, उसीप्रकार अपरिपक्व ज्ञान भी संसार में परपदार्थों और परभावों की कर्त्ता-बुद्धि करके दु:खदायक ही सिद्ध होता है। परिपक्व ज्ञान से तो आत्मतत्त्व में ही प्रवृत्ति होती है। इसीलिए ज्ञानियों ने कहा है कि— **बुद्धेर्फलं आत्महिते प्रवृत्तिः।**

हम जो शास्त्र स्वाध्याय आदि करते हैं, पूजा-पाठ करते हैं, उसमें भी विवेकी जीवों का दृष्टिकोण अपने आत्मस्वरूप को खोजना ही होता है। इसीलिए जैनाचार्यों ने भक्ति की परिभाषा लिखी है— **स्व-स्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते।**

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपने आत्मस्वरूप का अनुसंधान करना ही सच्ची भक्ति है। हमारे भगवान् भी आत्मस्वरूप में लीन हैं, अतः उनके दर्शन करके हम आत्मदर्शन की ही भावना भाते हैं।

जिनदर्शन कर निज दर्शन पा, आत्म अनुभव पाये।

कविवर पंडित दौलतराम जी ने जिनेन्द्र भगवान् की परमशांत मुद्रा को आत्मानुभूति का कारण बताया है—

जय परमशांत मुद्रा समेत, भविजन को निज-अनुभूति-हेत।

इसप्रकार आत्मदृष्टि की प्रधानता यह जैनदर्शन का सार है, और इसी आत्मदृष्टि को प्राप्त करके जीव ज्ञानी बन सकता है; किन्तु जब तक वे कर्म और नोकर्म के परिणामों का कर्त्ता अपने आपको मानता है, तब तक वह अपने आत्मस्वरूप को नहीं जान पाता, और वह अज्ञानी ही रहता है।

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं।
ण करेदि एदमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी।। —(समयसार, 75)

अर्थ :— जो आत्मा इस कर्म के परिणाम को, इसीप्रकार नोकर्म के परिणाम को नहीं करता है, अपितु जो जानता है, वह ज्ञानी है।

इस बात को स्पष्ट करते हुए टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र ने एक दृष्टान्त दिया है कि जैसे कोई कुम्हार मिट्टी को इकट्ठा करते हुए उसका घड़ा बनाने का संकल्प करता है, इस प्रक्रिया में सबसे पहले वह पानी से मिट्टी को गीला करते हुए चाक पर रखकर उसे घड़े का आकार देता है; फिर सूखने के बाद वह घड़े को भट्ठी में डालकर पकाता है, तब वह घड़ा जिस पानी से मिट्टी अवस्था में गल गया था, उसी पानी को अपने अन्दर भरे रहकर भी गलता नहीं है। इसीप्रकार यह जीव स्त्री-पुत्र कुटुम्बादि संसारी संयोगों के प्रति राग-भाव के कारण अपने ज्ञान-स्वभाव को भूलकर कर्त्ता-कर्म-बुद्धि से रागी-द्वेषी-मोही होता था, बाद में जब वही जीव आत्मस्वरूप को समझकर ज्ञान-ध्यानरूपी अग्नि में तपकर परिपक्व हो जाता है, तो उसके ज्ञान में लोकालोक झलकते हुए भी वह उनसे प्रभावित नहीं होता, और न ही उनके निमित्त से उसके मन में राग-द्वेष-मोह के परिणाम उत्पन्न होते हैं। क्योंकि वह अब उन भावों का अपने को कर्त्ता नहीं मानता, बल्कि मात्र ज्ञाता मानता है। यह ज्ञान-भाव का कर्त्ता अपने को मानना ही ज्ञानी होने की पहिचान है। **ज्ञानभाव ज्ञानी करे, अज्ञानी अज्ञान।**

जो ऐसा ज्ञाता जीव है, वह परद्रव्य के परिणामों को उत्पन्न और विनष्ट होता हुआ जान तो लेता है, किन्तु अपने उपयोग को उनमें जोड़कर उनसे प्रभावित नहीं होता, यही उसका ज्ञानीपना है।

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु पोंग्गलकम्मं अणेयविहं।। —(समयसार, 76)

अर्थ :— ज्ञानी अनेक प्रकार के पौद्गलिक कर्मों को जानता हुआ भी निश्चय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
से परद्रव्य की पर्यायों में न उन स्वरूप परिणमन करता है, न उन्हें ग्रहण करता है, न उन रूप उत्पन्न होता है।

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु सगपरिणामं अणेयविहं।। —(समयसार, 77)

अर्थ :— ज्ञानी अनेक प्रकार के अपने परिणामों को जानता हुआ भी निश्चय से परद्रव्य की पर्यायों में न तो परिणमन करता है, न उन्हें ग्रहण करता है, न उन रूप उत्पन्न ही होता है।

संसार में पुद्गल कर्मों से निर्मित जो कार्मण-वर्गणाएँ हैं, उनसे ज्ञानावरणी-दर्शनावरणी-मोहनीय-अन्तराय-वेदनीय-आयु-नाम-गोत्र आदि आठ मूलकर्म और इनकी 148 उत्तरप्रकृतियों के 14 राजू प्रमाण भेद माने गये हैं। इन कर्म और नोकर्मों के परिणामस्वरूप अनेकप्रकार के संयोग प्राप्त होते हैं, ज्ञानीजीव उनका मात्र ज्ञाता-द्रष्टा रहता है, जबकि अज्ञानी जीव कभी यह कहता है कि यह परिवर्तन मैंने किया है, तो कभी यह कहता है कि मैंने क्रोध को ग्रहण किया है, और कभी यह कहता है कि मैं परद्रव्य को बदल सकता हूँ। ऐसे ही चक्करों में उलझकर जीव अपने आत्मस्वरूप को भूल जाता है, और अपार कर्मबंध को करता हुआ संसार-सागर में परिभ्रमण करता है। जबकि इसके विपरीत ज्ञानी जीव न तो किसी का परिणमनकर्त्ता बनता है। न ही वह परभावों का ग्रहणकर्त्ता भी बनता है, और न ही अपने को परद्रव्य की पर्यायों का परिवर्तन करनेवाला मानता है। यही उसका ज्ञानीपना है, क्योंकि ऐसा मानने के कारण ही वह परद्रव्य की पर्यायों में उलझता नहीं है; और अपने आत्मस्वरूप में लीन रह पाता है। यही आत्मलीनता या आत्मसवेदन उसके ज्ञानीपने की पहचान है।

अज्ञानीजीव जहाँ क्रोधादि-कषायों रूपी कमठ के मठ में रहता है, वहीं ज्ञानीजीव परपदार्थों और परभावों से अप्रभावित आत्मलीन होकर मानो पार्श्वनाथ के मन्दिर में रहता है। अब यह हमें स्वयं निर्णय करना है कि हमें कमठ के मठ में रहना है या पार्श्वनाथ के मन्दिर में। यदि हम कषायों में उलझेंगे, तो कमठ के अनुयायी कहलायेंगे तथा यदि आत्मभाव में रहेंगे, तो पार्श्वनाथ के अनुयायी कहलायेंगे। कमठ के मठ में कषायभाव मिलते हैं, और पार्श्वनाथ के मन्दिर में ज्ञायक भगवान् आत्मा मिलता है।

ज्ञानीजीव परपदार्थों और परभावों का कर्त्ता तो बनता ही नहीं है, साथ ही वह अपने अन्दर होने वाले अनेक प्रकार के परिणामों का भी कर्त्ता नहीं बनता है। भले ही वे अपने में उत्पन्न हुए हों, इसप्रकार स्व और पर सभी का ज्ञाता बनकर वह जीव वीतरागता के पथ पर अग्रसर होता है, यही वास्तव में जिनेन्द्र-भक्ति है और यही वीतराग का मार्ग है। केवल चावल चढ़ाने से कोई जिनेन्द्र का भक्त नहीं बन सकता है, बल्कि उनके मार्ग पर चलने से ही वह उनका भक्त कहलाने का अधिकारी बन सकता है। आप सभी भव्यजीव क्रोधादि भावों का कर्त्तापना छोड़कर आत्मस्वरूप का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुसंधान करने और ज्ञाताभाव को अपनाने का प्रयत्न करें, तो आपका भी मनुष्यभव सफल हो सकता है।

ज्ञानी जीव की विशेषता

कर्म और कर्मफल का कर्त्ता बननेवाला अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव है, तथा उसका मात्र ज्ञाता रहनेवाला जीव ही ज्ञानी सम्यग्दृष्टि है, ऐसा भलीप्रकार से समझाया है। वे कहते हैं कि ज्ञानी कर्मफल को मात्र जानता है, उसमें उलझता नहीं है—

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु पॉग्गलकम्मफलं अणंतं।। —(समयसार, 78)

अर्थ :— ज्ञानी पौद्गलिक कर्मों के अनन्त-फल को जानता हुआ भी निश्चय से परद्रव्यों की पर्यायों में न तो परिणमन करता है, न उन्हें ग्रहण करता है, न उन रूप उत्पन्न होता है।

पुद्गल-द्रव्य अपने स्वभाव में अपनेआप परिणमन करता रहता है। कोई भी जीव कभी भी किसी अन्य पुद्गल-पदार्थ को परिणमन नहीं कराता है, वह मात्र उसका ज्ञाता ही होता है; क्योंकि कोई भी द्रव्य अपने स्वभाव को छोड़ नहीं सकता है। जैसेकि आसमान में दिखनेवाले सूर्य और चन्द्र आदि भी अपना स्वभाव नहीं छोड़ते हैं। सूर्य गर्मी ही देता है, और चन्द्रमा शीतलता। इसीलिए सूर्य के प्रकाश को **आतप** और चन्द्रमा के प्रकाश को **उद्योत** कहा गया है। जब पृथ्वीमण्डल के जितने पदार्थ हैं, वे अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं, तो फिर जीव अपने स्वभाव को कैसे छोड़ सकता है। हाँ, इतना अवश्य है कि वह अज्ञानजन्य-भ्रम के कारण अपने को परपदार्थों का कर्त्ता मानता है, और इसी मिथ्या मान्यता के कारण वह संसार में परिभ्रमण करता है। जब वह अपने अकर्त्ता-स्वभाव को पहिचान लेता है, जो वह ज्ञानी कहलाने लगता है।

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
पॉग्गलदव्वं पि तहा परिणमदि सगेहि भावेहिं।। —(समयसार, 79)

अर्थ :— पुद्गल-द्रव्य भी परद्रव्य की पर्यायों में उस रूप न तो परिणमन करता है, न उन्हें ग्रहण करता है, न उन रूप उत्पन्न होता है; क्योंकि वह तो अपने ही भावों से परिणमन करता है।

पुद्गल जीव का कर्त्ता नहीं है और जीव पुद्गल का कर्त्ता नहीं है। दोनों अपने-अपने स्वभाव से परिणमन कर रहे हैं। आत्मा परभाव का कर्त्ता हो सकता है, यह संसारी जीवों का मोह से युक्त परिणाम है। वह उसका स्वभाव नहीं है, जैसे पानी का स्वभाव शीतलता है, जब हम उसे आँच पर रखते हैं, तो वह हमें छूने में गर्म लगता है; परन्तु जब हम उसे उतारकर नीचे रख देते हैं तो वह जल्दी ही अपने शीतल-स्वभाव में लौट आता है। इसलिए प्रतिकूल-परिस्थितियों में अपने अज्ञानभाव के कारण व्यक्ति क्रोधादि विकारी परिणामों को करता हुआ अपनेआप को पर का कर्त्ता मानने लगता है, और जब

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसके कषाय मन्द होती है, तो वह धीरे-धीरे अपने ज्ञातास्वभाव में लौट आता है।

पर का कर्त्ता बनकर यह जीव जब कुछ शब्द भी बोलता है, तो वह शब्द भी बहुत खतरनाक होते हैं। हमें बोलने के लिए मुँह मिला है, तो इसका मतलब यह तो नहीं है कि हम बेलगाम होकर कुछ भी बोले जायें। जैन आचार्यों ने बोलने पर तीन लगामें लगाई हैं— सत्य-महाव्रत, भाषा-समिति और वचनगुप्ति।

जब व्यक्ति के अन्तर में ज्ञान का प्रकाश हो जाता है, तो वह समस्त सांसारिक विकारी भावों से विरक्त हो जाता है। वह किसी भी पदार्थ में राग या द्वेष नहीं करता, और वह कर्मों के परिणामों का कर्त्ता न बनकर मात्र ज्ञाता ही रहता है।

पोग्गलकम्माणादा कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो।
चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं।। —(बृहद्द्रव्यसंग्रह)

व्यवहारनय से आत्मा को पुद्गल कर्मों का कर्त्ता भले ही कहा गया है, किन्तु वास्तव में वह ऐसा नहीं करता है। आत्मा तो चेतन कर्मों का कर्त्ता भी शुद्धनय से नहीं है। शुद्धनय से तो मात्र वह ज्ञाताद्रष्टा रूप शुद्ध भावों का ही कर्त्ता है। व्यवहार की स्थिति तो आप जानते हैं कि उसकी कितनी कीमत है, जैसे आप कहते हैं— यह सड़क जयपुर जाती है, तो सड़क तो वहीं की वहीं है; आप ही लोग उस पर चलकर जयपुर जाते हैं, सड़क कहीं नहीं जाती। फिर भी ऐसा कहना व्यवहार कथन कहलाता है। इसीप्रकार आत्मा को पुद्गल कर्मों का कर्त्ता कहना वास्तविक नहीं है। शुद्धनय की अपेक्षा से तो प्रत्येक संसारी आत्मा भी स्वभाव से सिद्धों के समान शुद्ध है। क्रोधादि के विकारीभाव पर्याय में भले ही दिखें, किन्तु उसके स्वभाव में वे कभी भी प्रविष्ट नहीं हुए हैं। हम अपने चिंतन से ही अपनेआप को पर का कर्त्ता मानते हैं, और ऐसा चिंतन ही हमें कर्मबंध का कारण है। जो मनुष्य ऐसे चिंतन को रोककर आत्मलीन हो जाते हैं, वे उतने क्षण भर को सिद्धों के समान हैं।

चिंता बद्धहु सयलु जगु चिंता किणहु न बद्ध।
जे नर चिंता बस करहिं ते माणस नहिं सिद्ध।।

यदि आप चिंता को छोड़कर निश्चिंत होकर थोड़ी देर के लिए भी अपने स्वभाव में रहते हों, तो फिर आप भले ही मंदिर में बैठे हों, या घर में बैठे हों; आप सिद्ध भगवान् के समान हैं। आप जानते हैं, ये बात राजस्थान के **ढोला मारू रा दूहा** नामक शृंगारिक काव्य में लिखी गई है। जैनदर्शन के इस आध्यात्मिक सत्य को लौकिक शृंगार के कवि भी स्वीकार करते हैं।

यदि हमारे अन्दर भगवान् महावीर और आचार्य कुन्दकुन्द के द्वारा दिया गया आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान और जैनधर्म के शुद्ध-संस्कार नहीं समाये होते, तो हम आप भी आतंकवादियों के ग्रुप में सम्मिलित हो जाते। हमारा जीवन श्रेष्ठ और सदाचारी है, तो उसमें सबसे बड़ा योगदान इन आध्यात्मिक संस्कारों का है। जैनों के निरामिष रहने पर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दुनिया के लोग आश्चर्य करते हैं, किन्तु वास्तव में ऐसे घोर कलियुग में रहकर भी यदि हमारे भोजन की शुद्धता बनी हुई है, तो उसका एकमात्र कारण छोटे से छोटे प्राणी में भी आत्मदृष्टि रखने की जैनधर्म की संस्कृति का प्रभाव है। एक सभा में आचार्य विनोबा भावे ने कहा था— महावीर के तत्त्वज्ञान ने जैनों को पथभ्रष्ट नहीं होने दिया, और उनकी शुद्ध शाकाहारी प्रवृत्ति बनी हुई है, जब मैं सुनता हूँ कि कोई जैन अपनी आहारशुद्धि से च्युत हो गया है, तो मुझे घोर आश्चर्य होता है, कि यह अपने संस्कारों से दूर होता जा रहा है। इसीलिए ज्ञानियों ने कहा है— यदि हाथ में दीया है, तो व्यक्ति कुएँ में नहीं गिरेगा। इसीप्रकार यदि जीवन में जैनधर्म के संस्कार हैं, तो उसका जीवन अपने मोह को म्युनिसिपैलिटी का डिब्बा बनाकर नहीं बीतेगा। हमारी अपनी गलती से ही कर्म बँधते हैं, कर्म हमें ज़बरन दुःखी नहीं करते।

जीव-परिणामहेदुं कम्मत्तं पोंग्गला परिणमंति।
पोंग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि।। —(समयसार, 80)
ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हं पि।। —(समयसार, 81)
एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सगेण भावेण।
पोंग्गलकम्मकदाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं।। —(समयसार, 82)

अर्थ :— पुद्गल जीव के (रागादि) परिणाम के निमित्त से कर्मरूप से परिणमित होते हैं। इसीप्रकार जीव भी (मोहनीय आदि) पुद्गलकर्म के निमित्त से (रागादि भाव रूप से) परिणमन करता है। जीव कर्म के गुणों को नहीं करता है। इसी प्रकार कर्म जीव के गुणों को नहीं करता है; परन्तु एक-दूसरे के निमित्त से इन दोनों के परिणाम जानो। इसकारण से आत्मा अपने भावों का कर्त्ता है, परन्तु पुद्गल कर्म के द्वारा किये गये समस्त भावों का कर्त्ता नहीं है।

जीव और पुद्गल के परस्पर निमित्त-नैमित्तिक-सम्बन्ध भले ही हैं, किन्तु कर्म ज़बरन आपके साथ नहीं बँधता है, बल्कि आपकी गलती से ही कर्म का बंधन होता है। जैसे कोई पत्थर उठाकर खुद अपना सिर फोड़ ले, और फिर पत्थर को दोष देते हुए कहे कि— इस पत्थर ने मेरा सिर फोड़ दिया, तो यह उसका ही अज्ञान है। पत्थर तो जड़ है, वह तुम्हारा सिर कैसे फोड़ सकता है, उसीप्रकार कर्म भी जड़ हैं, वे अपनेआप जीव के साथ नहीं बँधते हैं, बल्कि जब कोई जीव स्वयं अपने अज्ञानभाव से अपने को क्रोधादि का कर्त्ता मानकर तद्रूप परिणमन करता है, तो उसे कर्म का बंधन होता है। हम अपनी कमज़ोरी को छिपाने के लिए कर्मों को दोष देते हैं।

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं।। —(समयसार, 83)

अर्थ :— (निश्चयनय का इसप्रकार मत है कि) आत्मा अपने को ही करता है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और फिर आत्मा अपने को ही भोगता है, ज्ञानी ऐसा तू जान।

ज्ञानी जीव परपदार्थों और परभावों पर ध्यान नहीं देता, वह तो मात्र आत्मिक भावों पर ही ध्यान देता है। इसीलिए वह परपदार्थों एवं परभावों से अप्रभावित बना रहता है। संस्कृत के वैयाकरण पाणिनि ने भी कर्त्ता को स्वतंत्र माना है, और लिखा है कि जो स्वतंत्र रूप से अपने भावों को करे, वही वास्तव में कर्त्ता है। जिसमें पराधीनता हो, उसका कर्त्ता वह व्यक्ति कभी हो ही नहीं सकता। यह मर्म यदि हम समझ लें, तो हमारे जीवन में मोक्षमार्ग की शुरूआत निश्चितरूप से हो सकती है।

द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि

जीव परपदार्थों और परभावों का कर्त्ता बनकर ही अपने ज्ञानस्वभाव को भूला है, और इसीकारण से वह संसार में दुःखी होकर चतुर्गति-परिभ्रमण कर रहा है। चूँकि परकर्तृत्व की मिथ्या-मान्यता से जीव अनेक प्रकार के पुद्गल कर्मों को बाँधता है, और उनके उदय में अनेक प्रकार के दुःखों को भोगता है। इस प्रकरण में द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि का आचार्य कुन्दकुन्द ने सूक्ष्मता से विवेचन किया है। इस विषय का ऐसा विवेचन अन्यत्र प्रायः दुर्लभ है।

ववहारस्स दु आदा पोंग्गलकम्मं करेदि णेयविहं।
तं चेव य वेदयदे पोंग्गलकम्मं अणेयविहं।। –(समयसार, 84)

अर्थ :— व्यवहारनय का मत है कि आत्मा अनेक प्रकार के पुद्गल कर्मों को करता है और उन्हीं अनेक प्रकार के पुद्गल कर्मों को भोगता है।

यह बहुत ही सुन्दर प्रकरण है, इसमें आचार्यदेव समझा रहे हैं कि जो जीव को अनेक्प्रकार के पुद्गल कर्मों का कर्त्ता, भोक्ता बताता है; वह व्यवहारनय है और जिनवाणी में इसे अभूतार्थ कहा गया है। दुनिया में उपचार से अनेक कथन किए जाते हैं, जोकिं वास्तविक नहीं होते। जैसेकि– कहा जाये तुम जियो हजारों साल, साल में दिन हों पचास हजार, तो इस काल में कोई भी हजारों साल जीने वाला नहीं है; और कदाचित् ऐसा किसी कारणवश संभव भी हो जाये, तो साल में पचास हजार दिन कभी भी नहीं हो सकते। फिर भी ऐसे कथन हम करते रहते हैं, जोकि मात्र उपचार ही है। इसीप्रकार व्यवहार के कथन भी उपचार के द्वारा कहे गये होने से उन्हें ज्ञानीजन अभूतार्थ मानते हैं। हम जानते हैं कि जैसे कोई व्यक्ति घर से खाना खाकर आया है, फिर भी हम उसे औपचारिकता के नाते कहते हैं— आइए भाईसाहब, भोजन करिए। तो यह लोकव्यवहार मात्र है। इसीप्रकार पुद्गलकर्मों का कर्त्ता आत्मा है —ऐसा कहने की व्यवहार से परिपाटी पड़ गई है। वास्तव में ऐसा नहीं है।

जदि पोंग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा।
दोकिरियाविदिरित्तो पसज्जदे सो जिणावमदं।। –(समयसार, 85)

अर्थ :— यदि आत्मा इस पुद्गल कर्म को करता है और उसी को भोगता है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तो दो क्रियाओं से अभिन्न होने का प्रसंग आता है। ऐसा मानना जिनेन्द्रदेव के मत के विपरीत है।

जम्हा दु अत्तभावं पोंग्गलभावं च दो वि कुव्वंति।
तेण दु मिच्छादिट्ठी दो किरियावादिणो होंति।। —(समयसार, 86)

अर्थ :— क्योंकि आत्मा आत्मा के भाव को और पुद्गल के भाव (परिणाम) को दोनों को करता है। ऐसा मानने के कारण दो किरियावादी (एक द्रव्य द्वारा दो द्रव्यों के परिणाम किये जाते हैं ऐसा मानने वाले) मिथ्यादृष्टि होते हैं।

कोई भी द्रव्य एक समय में दो क्रियायें नहीं कर सकता। जैसेकि तुरपन करने की बारीक सुई बोरों की सिलाई का काम नहीं कर सकती, वह तो मोटा सुआ ही करेगा। और मोटे सुये के द्वारा कमीज़ का बटन नहीं टाँका जा सकता। क्योंकि वह उस बटन के छेद में घुसेगा ही नहीं। अतः जो पदार्थ जिस कार्य के लिए उपयुक्त है, वह उसी कार्य को सम्पन्न कर सकता है। इसीप्रकार आत्मा ज्ञानदर्शन स्वभावी है। वह जानने-देखने का काम तो कर सकता है, किन्तु परपदार्थों के कर्तृत्व और भोक्तापना का काम नहीं कर सकता। छैनी का काम हथौड़ी नहीं कर सकती और हथौड़ी का काम छैनी नहीं कर सकती। शर्ट को पाजामे की जगह काम में नहीं लिया जा सकता है, और पाजामे को शर्ट की तरह नहीं पहना जा सकता। क्योंकि प्रत्येक द्रव्य का कार्य स्वतंत्र है। ऐसा संभव ही नहीं है किं कोई द्रव्य अपना कार्य करते हुए दूसरों का भी कर्त्ता बन सके। मैंने आपको कल स्पष्ट किया था कि वैयाकरणों में भी कर्त्ता की परिभाषा बहुत वैज्ञानिक स्वीकार की है, वे लिखते हैं— **स्वतंत्रः कर्त्ता** अर्थात् जो अपने काम को स्वतंत्रतापूर्वक करे, वही कर्त्ता है, न कि परपदार्थों के काम में हस्तक्षेप करे या उनका कर्त्ता बने। क्योंकि कोई भी द्रव्य अन्यद्रव्य के रूप में परिणमित नहीं हो सकता, और **यः परिणमति स कर्त्ता** के नियमानुसार जब तक वह अन्यद्रव्य के रूप में परिणमित नहीं होगा, तब तक उसे उस अन्यद्रव्य का कर्त्ता नहीं कहा जा सकता। यह बात आचार्य कुन्दकुन्द के द्वारा प्रतिपादित इस महान् सिद्धान्त का समर्थन करती है कि कोई भी द्रव्य अन्यद्रव्य के भावों का कर्त्ता नहीं है।

मोह के कारण भी व्यक्ति अपने विवेक को खो देता है और अपने आपको द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि के रूप में अनुभव करने लगता है। यह मोहकर्म अनेक प्रकार की मिथ्या मान्यताओं के साथ राग और द्वेष को भी उत्पन्न करता है। इसप्रकार हम कह सकते हैं कि मोह की दो सन्तान हैं— राग और द्वेष तथा मोक्ष की भी दो परिणतियाँ हैं— एक ज्ञाता स्वभाव और दूसरी द्रष्टा स्वभाव। यह राग और द्वेष हमें संसार सागर में डुबोने वाले हैं।

मोहनीयकर्म के दो रूप हैं— दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीय के भेद मिथ्यात्वरूप परिणाम हैं, और चारित्रमोहनीय के फलस्वरूप राग-द्वेष आदि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कषायभाव उत्पन्न होते हैं।

मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं तहेव अण्णाणं।
अविरदि जोगो मोहो कोहादीया इमे भावा।। —(समयसार, 87)

अर्थ :— पुनः मिथ्यात्व दो प्रकार का है— जीवमिथ्यात्व और अजीवमिथ्यात्व। इसीप्रकार अज्ञान, अविरति, योग, मोह और क्रोध आदि कषाय —ये सभी भाव (जीव-अजीव के भेद से) दो-दो प्रकार के हैं।

आत्मा तो द्रव्य दृष्टि से शुभज्ञाता द्रष्टा स्वभावी है। वह मोहनीयकर्म की संगति के कारण अपने ज्ञाताद्रष्टा स्वभाव को भूलकर शराबी झाड़ू वाले के समान अनर्गल प्रलाप करता है, और अपने को परपदार्थों का कर्त्ता बतलाता है। इसीलिए किसी ज्ञानी व्यक्ति ने कहा भी है—

पर को अपना मान बैठा, निज को पहचाना नहीं।
भूल है ये आपकी जो आपको जाना नहीं।।

ऐसा ज्ञानदर्शन स्वभावी आत्मा होते हुए भी यह जीव अपने स्वरूप को भूलकर यदि पर का कर्त्ता बनता है, तो ऐसे कार्य मोहनीयकर्म के आतंक में ही कर रहा है। इसीलिए विद्वानों ने मोहनीयकर्म को भयंकर आतंकवादी बताया है। वे लिखते हैं— **महामोहातंक.........।** जैसे आतंकवादी अनेक प्रकार का आतंक फैलाते हैं, उसीप्रकार मोहीजीव भी परकर्तृत्व और द्विक्रियावाद का आतंक फैलाये रहते हैं। समयसारस्वभावी आत्मा के अनुभव से ही जीव मोह के आतंक से बचकर अपने ज्ञानानन्द स्वभाव में मग्न हो सकता है। आचार्य अमृतचंद्र अपने अमृत-कलश में लिखते हैं—

मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्त्तेः।
भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः।।

यद्यपि आत्मा को शुभाशुभ भावों का कर्त्ता व्यवहार से कहा है, परन्तु निश्चयनय से वह मात्र अपने ज्ञानस्वभाव का ही कर्त्ता है। जब तक आप अध्यात्म में प्रवेश करके इस निश्चयदृष्टि को प्राप्त नहीं कर सकेंगे, तब तक आप आत्मध्यान भी नहीं कर सकते हैं, और परमात्मा का ध्यान वास्तव में नहीं कर सकते हैं। परपदार्थों और परभावों का कर्त्ता-भोक्ता बनकर कभी भी किसी के भाव शुद्ध नहीं हो सकते हैं। अपने स्वभाव को भूलकर ही ऐसे परकर्तृत्व के भाव उत्पन्न होते हैं।

ज्ञानीजीव का सम्बोधन पाकर द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि भी अपने आत्मस्वरूप को पहचान सकता है, और अपने स्वभाव में वापस जा सकता है। मिथ्यात्वकर्म के दो रूप माने गये हैं— एक जीव मिथ्यात्व और दूसरा अजीव मिथ्यात्व।

पोंग्गलकम्मं मिच्छं जोगो अविरदि अणाणमज्जीवं।
उवओगो अण्णाणं अविरदि मिच्छं च जीवो दु।। —(समयसार, 88)

अर्थ :— जो मिथ्यात्व, योग, अविरति और अज्ञान अजीव हैं, वे पुद्गलकर्म हैं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और जो अज्ञान, अविरत और मिथ्यात्व जीव हैं, वे उपयोगरूप हैं।

पुद्गलकर्म के रूप में जो मोहनीयकर्म है, उसे अजीव मिथ्यात्व कहा गया है। और जो मोहरूप जीव के परिणाम हैं, उन्हें जीवमिथ्यात्व कहा गया है। ये दोनों ही प्रकार के मिथ्यात्व जीव को अनेक प्रकार के दुःखों की परम्परा में भटकाते हैं। इसलिए ज्ञानीजीव इन मिथ्यात्वों से बचकर अपने आत्मस्वरूप में लीन होकर मोक्षपद को प्राप्त करते हैं। जबकि अज्ञानीजीव पुद्गलकर्म के उदय में अपने आप को तन्मय करता हुआ परभावों का कर्त्ता बनकर द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि हो जाता है, और वीतराग जिनेन्द्र परमात्मा के मत की अवमानना करता है।

उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य णादव्वो।। —(समयसार, 89)

अर्थ :— मोह से युक्त उपयोग के तीन अनादिकालीन परिणाम हैं। वे (तीन परिणाम) मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरतिभाव जानने चाहिए।

इन्हीं अज्ञानमय भावों के कारण जीव संसार में दुःखी है। आप अपने कर्मों के जिम्मेदार हो, दूसरे के ऊपर उसे थोपो नहीं। हर व्यक्ति ये चाहता है कि— दूसरे के सिर पर डालकर फरार हो जाऊँ, मुक्त हो जाऊँ', वह कभी भी मुक्त नहीं हो सकता। जो अपनी गलती को स्वयं स्वीकार करता है, तो वह अध्यात्मवादी की निशानी है, बहुत बड़ी बात है। क्योंकि अपनी गलती को अपने ऊपर लेने की शक्ति अध्यात्मवादी के ही पास हो सकती है, दूसरे के पास नहीं हो सकती। यह बात खासतौर पर याद रखना। इन्हीं शब्दों के साथ मैं आप लोगों को यही कहता हूँ कि उपयोग जो विकारी भाव हैं, वे जीव के नहीं हैं; अपितु पुद्गल से संबंधित होने के कारण हैं।

कर्तृत्व भाव

अनादि काल से हमारे आत्मा में जो अमंगल विचारते हैं, उसका मूल कारण आचार्य कुन्दकुन्ददेव बताते हैं कि जैसे सोने की खान में मिट्टी कब से है? अनादि से है। तो ऐसे ही हमारे जो उपयोग हैं वे मोहनीय कर्म के कारण अमंगल विचार आते हैं। वे कौन से अमंगल विचार हैं? इन्हें अच्छी तरह से जानो। मिथ्यादृष्टि जीव को सौ शास्त्र भी पढ़कर सुनाओ तो भी उसके अन्दर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। जैसे सौ सूरज उग जाने के बाद भी अंधे को दिखाई नहीं देता। संसार में सबसे खतरनाक कोई चीज है तो वह मिथ्यादृष्टि जीव है। अब तक जो जीव भटक रहा है क्योंकि उसके विचार ही अमंगल हैं। सम्यग्दृष्टि जीव तत्काल अमंगल विचार आया भी तो उसको सँभाल लेता है कि— ओ हो... ये अमंगल विचार हैं— इनसे बचकर रहना होगा। जैसे गाड़ी का कुशल चालक होता है तो खतरा देखते ही गाड़ी को रोक लेता है, दुर्घटना नहीं होने देता। स्वयं को व दूसरे को भी बचा लेता है। ऐसे ही सम्यग्दृष्टि जीव आप तो स्वयं में सुखी रहेगा, आप तो अपने में मंगल विचार लायेगा। अगल-बगल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में भी मंगल विचार फैलायेगा। **आनन्द ही आनन्द घडे, जिकड़े-तिकड़े चोहीकडे।** एक सूत्र है वह सम्यग्दृष्टि जीव जहाँ भी पहुँच जाये वहाँ मंगलमय वातावरण बना देगा और मिथ्यादृष्टि जीव जहाँ जायेगा वहाँ अमंगल ही अमंगल फैलायेगा। **मिथ्यादृष्टिर्बंधः।** मिथ्यादृष्टि जीव को अनंत संसार का बंध होता है। **सम्यग्दृष्टिर्निवर्ततेः।** सम्यग्दृष्टि जीव के तत्काल उसी समय झट के पट सारे कर्म वहीं चकनाचूर हो जाते हैं। इतनी महान शक्ति उसके परिणाम में, उसके उपयोग में है।

मिथ्यादृष्टि जीव को दुनियाभर की ज्ञान की बातें, 84 लाख योनि में कर्मबंध की वजह से भ्रमण का कारण, चतुर्गति के कारण, सारे दुःखों का कारण भी यदि बार-बार समझाओ तो भी वह उससे कुछ अच्छा हासिल नहीं करेगा। क्योंकि उसकी हमेशा विपरीत बुद्धि चलती है। इसलिए यहाँ पर कहते हैं कि अमंगल विचारों का मूल कारण उसका मिथ्यात्व है। अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ उसमें हैं। मिथ्यात्व के तीन भाग हैं— मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व, सम्यक् प्रवृत्ति भी उसमें है। ये सातों प्रवृत्तियाँ जब तक उसमें बैठे हुए हैं तब तक उसकी बुद्धि और दृष्टि बदलती रहती है। दृष्टि दो हैं— सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि। यदि हम अपनी दृष्टि को बदल दें तो सृष्टि हमें अपने आप बदली हुई मिलेगी। मिथ्यादृष्टि के और भी दृष्टान्त दिये हैं काव्यों में, पुराणों में, शास्त्रों में कि पीलिया के रोगी को सारे संसार की वस्तु पीली दिखाई देती है, ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव को संसार में सब मिथ्यात्व व विपरीत ही दिखाई देता है, सीधा कोई दिखाई नहीं देता। अनादि संसार बढ़ानेवाला, सत्तर कोडी बंध कोई है तो मोहनीय कर्म के तीन भेद बताये— मिथ्यात्व, अविरति, अज्ञान। मिथ्यादृष्टि की वजह उसका अपना ज्ञान (अज्ञान) ही है। जैसे शराबी आदमी यदि सही भी कह रहा हो तो भी नशेड़ी होने की वजह से उसकी बात को कोई कौड़ी भर भी नहीं मानता। कोर्ट में यदि कोई गवाही देने गया है और यदि जज को मालूम हो जाये कि यह आदमी शराब पीकर आया है तो उसकी गवाही नहीं लेता। उसे कल आने के लिए कह देता है। क्योंकि वह यदि सत्य भी बोल रहा है तो भी उसकी बात उस समय नहीं मानी जायेगी। इसतरह से मिथ्यादृष्टि जीव का सत्य भी जो है वह विपरीत ही है। और सम्यग्दृष्टि जीव अपने दृष्टि को कभी भी बदलता नहीं है। सारी सृष्टि बदल जाये पर वह अपने दृष्टि को नहीं बदलेगा। वह चट्टान की तरह वीतराग पर विश्वास, तत्त्वज्ञान पर विश्वास, अहिंसा पर विश्वास की दृढ़ता पर कायम रहता है। वह चट्टान की तरह अपने विश्वास पर दृढ़ रहता है। फिर कहते हैं कि अज्ञान संसार का ऐसा विषय है कि जब मिथ्यात्व रहेगा, तभी आप अज्ञान कह सकते हैं। मिथ्यात्व के कारण हमारा ज्ञान भी अज्ञान कहलाता है। और इसी तरह से वह नाना तरह के चारित्र्य जैसे उपवास, पूजा-पाठ, तीर्थयात्रा आदि कर रहा है पर मिथ्यात्व व

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अज्ञान के कारण उसका ये सारा चारित्र्य व्यर्थ है। कैसे? उसका दृष्टांत भी भगवती आराधना में बताया कि जैसे महावत हाथी को नदी में ले जाकर उसको खूब अच्छी तरह से पानी डाल-डालकर नहलाता है पर बाहर जाते ही वह हाथी फिर से अपने ऊपर धूल-मिट्टी डाल लेता है, तो उसका नहलाना व्यर्थ हो जाता है। अथवा जैसे मक्खन निकालते समय मथानी की रस्सी एक बार इस तरफ खींचते हैं तो उधर की रस्सी बँध जाती है और दूसरी बार उधर से खींचते हैं तो इधर की बँध जाती है। रस्सी वहीं की वहीं इधर से उधर फेरा लगाती रहती है कहीं जाती नहीं है। उसी प्रकार से मिथ्यादृष्टि जीव की भी दशा होती है। इस संसार के अंदर सबसे बड़ा पाप है तो मिथ्यात्व है, सबसे बड़ा कोई अधर्म है तो मिथ्यात्व है। इसलिए यहाँ कुन्दकुन्द देव ने कितने सुन्दर शब्दों में व्याख्या की है। वे कहते हैं कि जैसे सूरज उगते ही प्रकाश और आतप दोनों एक साथ आ जाते हैं और अँधेरा तत्काल भाग जाता है। उसी तरह से जीव का मिथ्यात्व हटते ही उसके सारे अज्ञान ज्ञान में परिणत हो जाते हैं। उसे फौरन सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। इतना ही नहीं सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होते ही जो आपके पुराने पापों के भंडार हैं, वे सारे पापकर्म भी संक्रमण होकर पुण्यकर्म में परिवर्तित हो जाते हैं। बताओ आप, कितनी ताकत है सम्यग्दर्शन, ज्ञान में! जैसे नीबू के रस में एक किलो शक्कर पानी मिलाकर घोल दो तो उस नीबू का खट्टापना चला जाता है वैसे ही सम्यग्दर्शन सारे पाप प्रभृतियों को पुण्य प्रभृतियों में परिणमन कर देता है।

अविरति के भाव चारित्र्य होते हैं। राजवार्तिक अष्टपाहुड शास्त्रों में अकलंकदेव ने एक व्याकरण का सूत्र दिया। व्याकरण का सूत्र भी उपयोगी होता है। बिना व्याकरण आप कुछ भी ठीक ढंग से समझ नहीं सकते। जैसे **सम्यक्** शब्द है। सम् उपसर्ग, अंचू धातु और **क्विप्** प्रत्यय से सम्यक् शब्द बना है। तो यह सम्यक् शब्द का लौकिक अर्थ है— शोभन यानी शोभा देनेवाला। दूसरा साहित्यिक क्षेत्र में अर्थ है— प्रशंसा। किसी ने कोई अच्छा कार्य कर दिया तो उसकी प्रशंसा करते हैं। तो प्रशंसा कहाँ से होती है? सिर्फ जबान से। मन में श्रद्धा नहीं है सिर्फ ऊपर दिखावटी प्रशंसा करता है और सम्यग्दृष्टि होता है तो वह हृदय (मन) से प्रशंसा करता है। इसप्रकार से जैनों ने दृढ़ वाले तो श्रद्धावाचक अर्थ लिया और लौकिकवालों ने प्रशंसावाचक अर्थ ले लिया। इसतरह से सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र— ये तीन अलग नहीं हैं। ये तो सिर्फ व्यवहार में समझाने के लिए तीन कर दिये। जैसे दूध का सफेदपना, दूध का मीठापना, दूध का चिकनापना— ये सब एक ही पदार्थ में हैं, इनको यदि अलग-अलग कर दो तो दूध का अस्तित्व ही नहीं रहेगा। इसप्रकार से ये जो व्याकरण उपसर्ग, धातु, प्रत्यय आदि से बना सम्यक् ये तीनों दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य में लगता है। मतलब ये तीनों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अलग नहीं हैं। ये तीनों एक ही हैं। इसीलिए स्वरूपाचरण चारित्र्य की बात कही है। यानी अपने स्वरूप को वह कभी नहीं भूलता है। इसलिए मतिज्ञान उसका है, श्रुतज्ञान सबको है, मिथ्यादृष्टि को भी है। पर सम्यग्दृष्टि प्राप्त होते ही जीव आभिबिबोधक मतिज्ञानी कहलाता है। मतलब वह आत्माविमुख हो गया। अब वह बहिरात्मा नहीं रहा। बहिरात्मा जीव बाहरी चकाचौंध में मस्त रहता है और जीव की सारी दृष्टियाँ आत्मा की ओर घूम जाती हैं। इसीलिए करणलब्धि कहा जाता है। क बोले तो आत्मा अरण् बोले लकड़ी काटनेवाला आरा। तो ये करण शब्द क्यों दे दिया? बोले जैसे आरे के सारे दाँत एक ही तरफ झुके होते हैं, उसी प्रकार से सम्यग्दृष्टि जीव के सारे परिणमन एक आत्मा की तरफ ही झुके होते हैं। बाहरी वस्तुओं की ओर नहीं। तब उसे करणलब्धि की प्राप्ति होती है। कहीं भी रहेगा, कहीं भी जायेगा पर सारे परिणमन उसके आत्मा की ओर ही लगे होते हैं। जैसे किसी छोटे बच्चे की माँ घर के सारे काम करते हुए भी उसका ध्यान उस बच्चे के ही ऊपर रहता है। वह बच्चा उसके सामने खेल रहा है तो माँ घर के सारे काम कर रही है। यदि थोड़ा-सा ओझल हो जाता है तो एक बार आवाज देकर बुलायेगी। यदि बोल दिया तो फिर वह काम में जुट जाती है और यदि एक-दो बार बुलाने पर नहीं बोला तो वह सशंक हो जाती है और सारा काम छोड़कर उस बच्चे को देखने के लिए बाहर आ जाती है कि कहीं किसी गली-मुहल्ले में नहीं चला गया। उसी तरह से जीव भी सारी सांसारिक क्रियायें करते हुए भी उसकी अंतरंग दृष्टि, ध्यान आत्मा की ओर ही लगी रहती है। सम्यग्दृष्टि जीव स्वप्न में भी अपने आत्मा को मिथ्यात्व से मलिन नहीं होने देता।

मिथ्यात्व, अविरति और अज्ञान मोहनीय कर्म के कारण उपजते हैं। पर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य की प्राप्ति के बाद ये तुरन्त नष्ट हो जाते हैं।

एदेसु य उवओगो तिविहो सुद्धो णिरंजणो भावो।
जं सो करेदि भावं उवओगो तस्स सो कत्ता।। –(समयसार, 90)

अर्थ :– (मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति) इन तीनों का निमित्त मिलने पर भी आत्मा का उपयोग (यद्यपि निश्चय नय से) शुद्ध, निरंजन और एकभाव है, फिर भी तीन प्रकार के परिणामवाला वह उपयोग जिस (विकारी) भाव को करता है, वह उसी भाव का कर्त्ता होता है।

मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति– ये तीनों उपयोग लिये हुए हैं परन्तु ये उपयोग बदलते रहते हैं और शुद्ध, निरंजन और एक भाव जो है, वह परिणमन का आत्मा है। उसका उपयोग ये विकारी भाव नहीं करता। उसी भाव को आप मिथ्यात्व में नाना तरह से रम रहा था और उसके परिणाम बदलते ही उसके भाव आत्मा की ओर मुड़ गये। **गंगायाम् घोषः** बहुत से लोगों को ये समझने के लिए दिक्कत होगी। संस्कृत से एक सूत्र दे दिया। किसी आदमी से पूछा— आपकी झोंपड़ी कहाँ है? तो उसने उत्तर दिया,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गंगा में है। तो गंगा में कोई झोंपड़ी बनाता है क्या? तो ये लक्ष्यनिर्देश के लिए कहा जाता है। यानी गंगा के किनारे झोंपड़ी हैं। इसीतरह से सम्यक्दृष्टि जीव गृहस्थी में रहते हुए भी वह गृहस्थ में नहीं है बल्कि गृहस्थी के किनारे है। किनारे आदमी रहेगा तो डूबने का डर नहीं होता है। तो आप घर में रह रहे हैं, सब संसार करते हुए यदि उससे अलिप्त रहते हैं, तो इसका मतलब हुआ कि आप गृहस्थी के अंदर डूबे नहीं हो बल्कि किनारे हो। इसलिए हिन्दी कवियों ने कहा— **भरतजी घर में ही वैरागी।**

चक्रवर्ती भरत जी राजदरबार में बैठे हुए हैं और सभा चालू है। ऐसे समय में भी वे बीच में ही सिंहासन पर बैठे-बैठे ही एकाग्र होकर अपने आत्मा में लीन हो जाते थे। रसोई में खाना खाते-खाते एकाग्र हो जाते थे। सोचने लगते थे कि ये सब आहार तो अपने शरीर को (इस पुद्‌गल को) दे रहा हूँ, आत्मा के लिए भोजन तो **ज्ञानामृतं भोजनं**। कितनी विचित्र बात होगी सम्यक्दृष्टि की। सम्यक्दृष्टि प्राप्त करने के बाद परिणामों की निर्मलता का कोई अंत नहीं है। धार्मिक, धर्मात्मा और परमात्मा। धार्मिक तो सभी हैं जो पूजा-पाठ करते हैं। पर धर्मात्मा तो वही है जो सम्यक्दृष्टि होगा। इसलिए सम्यक्दर्शन का महत्त्व है। इसीलिए उसको प्राप्त करने का उपाय करना चाहिए। सभी शास्त्रों में आया कि इस जीव ने सभी तीनों लोक के वैभव को प्राप्त कर लिया। चक्रवर्ती, राजा, महाराजा, मन्त्री, नाना तरह के वैभव। कुछ भी बचा नहीं भूतकाल से, अनादिकाल से क्या-क्या नहीं प्राप्त किया। पर एक प्राप्त नहीं किया तो वह सम्यग्दर्शन को नहीं प्राप्त किया। कितनी बड़ी बात है। इसलिए यहाँ पर कहते हैं कि यदि अमंगल विचारों को नष्ट करने का दुनिया के अंदर कोई उपाय है, तो केवल एक मिथ्यात्व, अविरति और अज्ञान इनको हटाना बहुत जरूरी है। एक सम्यक्दर्शन की प्राप्ति के बाद ये तीनों अपने आप नष्ट हो जाते हैं।

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पोंग्गलं दव्वं।। –(समयसार, 91)

अर्थ :– आत्मा जिस भाव को करता है, वह उस भाव का कर्त्ता होता है। उसके कर्त्ता होने पर पुद्‌गल द्रव्य स्वयं कर्मरुप परिणमित होता है।

आत्मा जिस भाव को जिस समय करता है वह उस भाव का कर्ता होता है। इसलिए जिस समय आप जो भाव करते हैं उस समय आप उस भाव के कर्ता होते हैं। इसलिए जब पुद्‌गल कर्मों के, द्रव्यकर्मों के और भावकर्मों में परिणमन करते हैं तो आप पुद्‌गल के कर्ता हो गये। जब क्रोध करते हैं तो भावकर्म के कर्ता हो गये और जब दोनों से हटकर अपने शुद्ध परिणामों में ध्यान लगाते हैं शुद्ध परिणामों के कर्ता हो गये। उस समय वह साक्षात सिद्ध होता है इसलिए जब त्रिकाल सामायिक में बैठते हैं तो सामायिक करते समय उनका समताभाव जब जग जाता है, तो वह एक समताभावी सामायिक है। संमताभावी सामायिक आपके कर्मों को क्षय करने के लिए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक कारण है। इसलिए कहते हैं कि अज्ञान से यह जीव कर्मों का कर्ता, दुनिया का कर्ता नाना तरह से कर बैठता है और दुःखी होता है और ज्ञान, विवेक जगने के बाद वह जीव जानता है दुनिया की सारी बातों को पर उसमें उलझता नहीं है। उसमें डूब जाय जिससे अपना जीवन ही बरबाद हो जाये इसलिए दुनिया की बातों से वह दूर ही रहता है। ज्ञानी और अज्ञानी में ये फर्क है, सम्यक्दृष्टि में और मिथ्यादृष्टि में ये फर्क है। अनादिकाल से हमारे जितने भी ग्रन्थ हैं उन सबमें आदि से अंत तक ज्ञान और अज्ञान, मिथ्यात्व और सम्यक्दृष्टि, सम्यक्ज्ञान और मिथ्याज्ञान, सम्यक्चारित्र्य और मिथ्याचारित्र्य इन्हीं की चर्चा है। ऐसा कौन आदमी होगा जो मीठे फल के होते हुए खट्टे फल खायेगा? इसलिए मिथ्यात्व की ओर कोई भी जीव परिणत नहीं हो सकता।

आशाधरसूरि आश्चर्य की बात का वर्णन करते हैं कि जैसे सूर्य इतना प्रकाशवान होते हुए भी बादल आते ही अँधेरा छा जाता है, इसे आप कलियुग का माहात्म्य ही समझो कि मिथ्यात्व के बादल चारों तरफ से छाये हुए हैं। कहीं-कहीं जैसे रात को जुगनूँ दिखाई देते हैं, उसी तरह से कहीं बिरले ही सम्यक्दृष्टि को प्राप्त करनेवाले, सम्यक्दृष्टि के भाव करनेवाले, सम्यग्दर्शन की चर्चा करनेवाले दिखाई देंगे, नहीं सब के सब मिथ्यात्व की ही बात करनेवाले मिलेंगे। इसलिए यदि कोई पुरुषार्थ करके सम्यक्दृष्टि प्राप्त करने के लिए लग जाता है तो उससे बढ़कर दुनिया के अन्दर कोई भाग्यशाली नहीं है। इसी तरह से समन्तभद्र आचार्य, महान विश्व के दार्शनिक, दर्शन के प्रणेता थे। वे लिखते हैं— तलवार के टुकड़े हो जाये फिर उसको जो पानी देता है उस पानी के टुकड़े कभी नहीं हो सकते। इस शरीर के टुकड़े-टुकड़े हो जाएँ पर उस आत्मा की श्रद्धा से सम्यग्दृष्टि जीव जरा भी डगमग नहीं होता। इस कलिकाल के माहात्म्य से जो वक्ता है और जो श्रोता हैं— ये दोनों के दोनों विपरीत बातों को ही पसंद करते हैं। उल्टी बातें सुनाते जाओ तो श्रोता लोग वाह-वाह करते हैं और वक्ता को भी सुनाते हुए आनंद होता है। कुछ प्रमाण नहीं, कुछ आधार नहीं जो आया मन में बोलते गये और श्रोता खूब आनंद लेकर सुनते रहेंगे, ये कलियुग की बलिहारी है। इसलिए धिक्कार है इस कलिकाल को जो इस दुनिया पर छाया हुआ है। इस कलिकाल ने मिथ्यात्व के अँधेरे को फैलाकर रखा है। क्या बातें आचार्य ने एक-एक शब्दों के द्वारा कितने कठोर शब्दों का प्रयोग किया उन्होंने! इसलिए इसे ऐसे ही आसान मत समझो। आप लोग समयसार को पढ़ रहे हैं, कितना आनन्द आ रहा है, मैं तो भूल जाता हूँ कि मैं कहाँ बैठा हूँ, इतना आनंद आता है मुझे ! इसे जितना पढ़ो उतना ही पचाने की भी कोशिश करना क्योंकि पढ़ना तो आसान है पर समझना, चिंतन और मनन करना यानी पचाना थोड़ा कठिन है। इस कलियुग के अन्दर इस अध्यात्म तत्त्वज्ञान को सुनानेवाले और सुननेवाले बहुत दुर्लभ हैं। आत्मानुशासन में लिखा है कि उस चतुर्थकाल में भी सुनानेवाले और सुननेवाले दोनों दुर्लभ थे। तो

4858

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कलिकाल में कैसे कह सकते हैं कि सुननेवाले और सुनानेवाले सुलभ हैं।

परमप्पाणं कुव्वं अप्पाणं पि य परं करंतो सो।
अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होदि।। —(समयसार, 92)

अर्थ :— पर को अपने रूप करता हुआ और अपने को पररूप करता हुआ वह अज्ञानी जीव कर्मों का कर्त्ता होता है।

जो अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव है वह नाना तरह के कर्तृत्वभाव को लेकर बैठा रहता है। वह सोचता है कि मेरे बिना समाज नहीं चल सकता, मेरे बिना परिवार नहीं चल सकता, मेरे बिना घर नहीं चल सकता। सारी दुनिया का कर्तृत्वभाव वह लेकर बैठ जाता है और सम्यक्दृष्टि जीव होता है वह सिर्फ यही सोचता है कि मैं मेरे भाव का कर्ता हूँ, मैं रहूँ या नहीं रहूँ दुनिया मेरे बिना भी चलती रहेगी। अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि जीव ही सारी दुनिया की बातों का आप कर्ता समझता है। पर ज्ञानी, सम्यग्दृष्टि जीव सिर्फ अपने शुद्धभाव को, अपने शुद्धोपयोग को, अपने स्वरूपाचरण को अपने को आप कर्ता समझता है। दुनिया के कर्त्तृत्वभाव का दुरभिमान नहीं करता है। क्यों नहीं करता है? आप लोग ही कहा करते हैं— जो मैं-मैं करता रहता है उसकी दुनिया में क्या दुर्गति होती है? इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव ऐसे नहीं सोचता है।

परमप्पाणमकुव्वं अप्पाणं पि य परं अकुव्वंतो।
सो णाणमओ जीवो कम्माणमकारगो होदि।। —(समयसार, 93)

अर्थ :— जो पर को अपने रुप नहीं करता है और अपने को भी पर रुप नहीं करता, वह ज्ञानी जीव कर्मों का कर्त्ता नहीं होता।

जो ज्ञानी होता है वह अपने अंदर कर्तृत्वभाव के दुरभिमान को जगाता नहीं है। जो अज्ञानी जीव है वही कर्तृत्वभाव का दुरभिमान करता है। जो पर रूप को अपने रूप करता है और अपने को पर रूप कर लेता है, ये अज्ञानी जीव की पहिचान है और ज्ञानी जीव होता है वह पर रूप को अपने रूप नहीं करता, अपने रूप को अपने स्वभाव को, जो ज्ञानोपयोग है, दर्शनोपयोग है और मेरा आपको कर्तृत्व के दुरभिमान को छोड़कर इस दुनिया के अंदर इतने पृथ्वी मंडल के अंदर जितने प्राणी पशु-पक्षी है। तब किसी बात को लेकर यदि अपने अंदर कर्तृत्वभाव जगाते हैं तो यह मिथ्यात्व है इसलिए समयसार में अकर्तृत्वभाव का निर्माण किया और अंत में सारे के सारे संसार के दार्शनिकों को कहना पड़ा कि भइया कर्तृत्वभाव से हटकर ही रहो।

पाणिनि ने व्याकरण सूत्र में लिखा कि हर आत्मा अपना कर्ता आप है। ऐसा कौन दुनिया में दार्शनिक है जो शान्ति से मरना नहीं चाहता है। ऐसा कौन धर्मात्मा है जो शान्ति से अपनी मृत्यु नहीं चाहता है। जब कर्तृत्वभाव होंगे तो शान्ति से कहाँ मरना आयेगा। इसलिए हमें यदि अपने जीवन को शान्तिमय और सुगन्धित बनाना है तो ये कर्तृत्वभाव के मिथ्या अभिमान को छोड़कर ही हम अपने आत्मा के कर्ता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आप बनें, तभी हमें सुख-शान्ति मिल सकती है।

जैनाचार्यों ने मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को बन्ध का कारण बताया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने भी इस तथ्य का समर्थन किया है, किन्तु बंध के इन कारणों के मूल में वे जीव के कर्तृत्वभाव को मानते हैं। उन्होंने कहा कि जब यह जीव **मैं क्रोधादि भावों का कर्त्ता हूँ** ऐसा मानकर परिणमन करता है, तो वह नियम से मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति आदि रूप अपने उपयोग को परिणमाकर कर्मबंध करता है। इसीलिए बंध के कारणों के मूल में वे परकर्तृत्व की भावना को मानते हैं।

तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेदि कोहोहं।
कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स।। —(समयसार, 94)

अर्थ :— यह (मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति रूप) तीन प्रकार का उपयोग **मैं क्रोध हूँ** ऐसा आत्मविकल्प करता है। वह आत्मा उस उपयोग रूप अपने भाव का कर्त्ता होता है।

यद्यपि यह जीव धर्म-अधर्म आदि परद्रव्यों का न तो स्वामी है, और न ही उनका कर्त्ता है; फिर भी वह अपने अज्ञान के कारण ऐसी मिथ्या कल्पनाएँ करता रहता है। जैसे कोई मकान को अपना कहता है, तो कोई ज़मीन को, कुछ लोगों ने तो आकाश का भी बँटवारा कर रखा है, जैसे— नेता लोग कहते हैं कि यह भारत का आकाश मार्ग है, और वह चीन का आकाश मार्ग है। जबकि आकाशमंडल तो अखण्ड है, और वह किसी के स्वामित्व में नहीं है। परन्तु करें क्या? अज्ञानमय जो कर्तृत्वभाव हैं, उनके कारण जीव ऐसी बेसिर-पैर की कल्पनाएँ करता रहता है।

यदि यह कर्त्ताभाव आत्मा का स्वभाव होता, तो वह आत्मा से कभी भी दूर नहीं होना चाहिए था। किन्तु ज्यों ही मोह छूटता है, परकर्तृत्व की मिथ्या कल्पना भी छूट जाती है, इससे सिद्ध होता है कि कर्त्तापना आत्मा का स्वभाव नहीं है। क्योंकि स्वभाव कभी भी द्रव्य से भिन्न नहीं होता। जैसेकि अग्नि से उष्णता और सोने से पीलापन कभी भी दूर नहीं होता, इसीप्रकार आत्मा का जो ज्ञानस्वभाव है, वही वास्तव में आत्मा का स्वभाव है, क्योंकि निगोदपर्याय से लेकर सिद्धपर्याय तक वह कभी भी आत्मा से अलग नहीं होता। ऐसे आत्मस्वभाव को भूलकर यह जीव परकर्तृत्व के परिणाम करता है, यही इसका अज्ञानभाव है।

तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेदि धम्मादी।
कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स।। —(समयसार, 95)

अर्थ :— वह (मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरतिरूप) तीन प्रकार का उपयोग **मैं धर्मादिक हूँ**, ऐसा आत्मविकल्प करता है। वह आत्मा उस उपयोगरूप अपने भाव का कर्त्ता होता है।

यहाँ पर परद्रव्यों के कर्त्ता अपने आप को माननेवाले जीव को उन्होंने मंदबुद्धि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
कहा है, और साथ ही ऐसी भावना को अज्ञानभाव से उत्पन्न बताया है। लौकिक उपाधियाँ आध्यात्मिक उन्नति के क्षेत्र में अथवा मोक्ष के मार्ग में बिल्कुल भी सहायक नहीं हैं, और लौकिक क्षेत्र के बुद्धिमान व्यक्ति को आध्यात्मिक क्षेत्र में बुद्धिमान माना ही जाये, ऐसा बिलकुल आवश्यक नहीं है। आध्यात्मिक क्षेत्र में या मोक्ष के मार्ग में तो बुद्धिमान वही है, जो अपने आपको परपदार्थों का कर्त्ता नहीं मानता, और परपदार्थों से भिन्न अपने ज्ञानस्वभाव को ही अपना स्वरूप मानता है। इसलिए भेदविज्ञान ही वास्तव में सच्चा ज्ञान है।

भेदज्ञान ही ज्ञान है, शेष सभी अज्ञान।
विश्वशांति का मूल है, वीतराग विज्ञान।।

हमारे आचार्यों ने जीव की आध्यात्मिक उन्नति के लिए अनेक ग्रन्थों की रचना की है। वे सभी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, और तर्क-युक्ति और आगम के प्रमाणों से पुष्ट हैं। उनमें भेदविज्ञान की चर्चा सबसे प्रमुखता से की गयी है, फिर भी यह जीव उसे समझे बिना मोह के कारण परपदार्थों का कर्त्ता बनता है, यही इसका सबसे बड़ा अपराध है। लोक में कहा जाता है कि हर पाप का प्रायश्चित्त संभव है, किन्तु कृतघ्नता का कोई प्रायश्चित्त नहीं है। कोई शराब पी ले, चोरी कर ले, लड़ाई-झगड़ा कर ले तो प्रायश्चित्त लेकर उसका सुधार किया जा सकता है, किन्तु जो हमारे उपकारी हैं, उनके उपकार को भुला दे, तो वह व्यक्ति कभी भी सज्जन की श्रेणी में नहीं आ सकता, और वह क्षमा का पात्र नहीं है। इसीलिए आचार्यों ने लिखा है—

नहि कृतमुपकारं साधवो विस्मरंति।

अज्ञानीजीव मोह में पड़कर ज्ञानी आचार्यों के द्वारा दिये गये भेदविज्ञान के उपदेश को भुला देता है, और परपदार्थों एवं परभावों का कर्त्ता बनकर अपार कर्मबंध करता हुआ, संसार में दुःखी होता है। आचार्यों ने तो अपार करुणाबुद्धि से अनेक ग्रन्थों की रचना कर इस जीव को आत्मकल्याण का मार्ग बताया है, किन्तु मोह के प्रभाव से इसे अपने हित की बात समझ में नहीं आती है, और यह परपदार्थों का कर्त्ता बनने के लिए सदैव तैयार रहता है। इसीलिए आचार्यदेव ने ऐसे जीवों को मंदबुद्धि कहा है—

एवं पराणि दव्वाणि अप्पयं कुणदि मंदबुद्धीए।
अप्पाणं अवि य परं करेदि अण्णाणभावेण।। —(समयसार, 96)

अर्थ :— इस प्रकार मंदबुद्धि (अज्ञानी) अज्ञानभाव से परद्रव्यों को अपने रूप करता है और अपने को भी पररूप करता है।

दुनिया में पर के ज्ञाता तो बहुत मिल जायेंगे, कोई दूसरों के इलाज का जानकार है, तो कोई दूसरों को मुकद्दमे में जिताने का विशेषज्ञ है, और कोई दूसरों को पढ़ाने-लिखाने का विशेषज्ञ है। किन्तु आत्महित का विशेषज्ञ कोई दिखाई नहीं देता। पर के बारे में पाण्डित्य-प्रदर्शन करने के लिए सभी तैयार हैं, किन्तु 'मैं कौन हूँ? कहाँ से आया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हूँ, कहाँ जाऊँगा, क्या मेरा स्वभाव है, वास्तव में मेरे लिए हितकारी और अहितकारी क्या-क्या हैं?' —इनकी जानकारी नहीं होते हुए भी वह अपने आपको विशेषज्ञ बताता है, तो वास्तव में वह परपदार्थों का विशेषज्ञ भले ही हो, लेकिन अपने बारे में वह नितांत अज्ञानी ही है। जैसे कोई व्यक्ति अड़ोस-पड़ोस के कल्याण की जिम्मेवारी लिये घूमता रहे, किन्तु अपने घर की और घर के लोगों की यदि उसे सुध भी नहीं हो, तो वह एक ज़िम्मेवार व्यक्ति नहीं कहला सकता है; इसीप्रकार अपने स्वरूप के बारे में असावधान व्यक्ति कभी भी विवेकी और समझदार नहीं हो सकता है। अज्ञान की इससे बड़ी पराकाष्ठा और क्या होगी, जीव स्वयं तो प्रतिक्षण अपने लिए अहितकारी कर्मों का बंध करता रहे, और उसकी परवाह किये बिना परपदार्थों की चिंता में दिन-रात ताने-बाने एक करता रहे। वास्तव में यह कर्त्ताभाव अज्ञान की पराकाष्ठा है, और यही जीव के संसार-परिभ्रमण और कर्मबंध का मूलकारण है। इसीलिए ज्ञानीजनों ने परभावों और परपदार्थों में उपयोग लगाने वाले कर्तृत्वभावी जीव को अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि कहा है, तथा जब वह ऐसे कर्तृत्वभाव को छोड़ देता है, तभी वह तत्त्वज्ञ कहा जाता है।

एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो।
एवं खलु जो जाणदि सो मुञ्चदि सव्वकत्तित्तं।। –(समयसार, 97)

अर्थ :— इस पूर्वोक्त कारण से निश्चय के ज्ञाताओं ने वह कर्त्ता कहा है। इस प्रकार वस्तुतः जो जानता है, वह सब कर्तृत्व को छोड़ देता है।

आत्मा ज्ञानस्वभावी होते हुए भी परपदार्थों और परभावों के कर्तृत्व का चिंतन करते हुए कर्मबंधरूपी गड्ढे में गिरता है। जो व्यक्ति सत्य को जानकर भी प्रमादी रहता है, वह कलियुगी है, जो समझाये जाने पर सावधान तो होता है, किन्तु प्रयत्न नहीं करता है, वह द्वापरयुग का व्यक्ति है। तथा जो समझाये जाने पर उसे अपनाने के लिए तैयार तो हो जाता है, किन्तु आचरण में नहीं अपना पाता, वह त्रेतायुग का व्यक्ति है, और जो जीव अपने हित का उपदेश मिलते ही तत्काल उसको अपने आचरण में उतारकर जीवन को सफल बना लेता है, वह सतयुग का व्यक्ति है। इससे स्पष्ट है कि परकर्तृत्व की भावना और आत्महित को नहीं स्वीकार करना, यह कलियुगी अर्थात् निकृष्ट जीवों की निशानी है।

बड़े-बड़े ज्ञानी जीव भी परकर्तृत्व की भाषा का प्रयोग करते हैं, तो क्या वे सभी अज्ञानी हैं? इसका उत्तर देते हुए आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं कि—

ववहारेण दु आदा करेदि घडपडरधादिदव्वाणि।
करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीह विविहाणि।। –(समयसार, 98)

अर्थ :— व्यवहार से (व्यवहारी जन ऐसा मानते हैं कि) जगत में आत्मा घट-पट-रथ आदि वस्तुओं को और इन्द्रियों को, अनेक प्रकार के क्रोधादि कर्मों को और शरीरादि नोकर्मों को करता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वास्तव में मात्र परकर्तृत्व की भाषा का प्रयोग करना और अपने को पर का कर्त्ता न मानना —यह व्यवहार है, अर्थात् व्यवहारनय की शैली में ऐसा कथन किया जाये तो कोई दोष नहीं है। किन्तु वास्तव में वह व्यक्ति यदि अपने क़ो पर का कर्त्ता मानने लगे तो यह उसका अज्ञान होगा और वह जीव ऐसी मान्यता के कारण अज्ञानी मिथ्यादृष्टि कहलायेगा। अभिप्राय यह है कि किसी प्रयोजनवश परकर्तृत्व जैसी शब्दावली का प्रयोग मिथ्यात्व नहीं हो जाता है, किन्तु यदि जीव वैसा ही अपना स्वरूप मानने लगे, अर्थात् अपने को पर का कर्त्ता मानने लगे, तो वह निश्चय ही मिथ्यादृष्टि कहलायेगा। वस्तुस्थिति यह है कि कोई भी जीव किसी भी परपदार्थ का कर्त्ता हो ही नहीं सकता, क्योंकि ऐसी स्थिति तभी बन सकती है, (अर्थात् जीव वास्तव में परपदार्थ का कर्त्ता तभी हो सकता है), जब वह स्वयं परपदार्थरूप परिणमित हो जाये, इस बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं—

जदि सो परदव्वाणि य करेज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज।
जम्हा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता।। —(समयसार, 99)
जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता।। —(समयसार, 100)

अर्थ :— यदि वह (आत्मा) परद्रव्यों को करे तो नियम से वह तन्मय (परद्रव्यमय) हो जाए; क्योंकि वह तन्मय नहीं होता, इसकारण वह कर्त्ता नहीं है।

जीव घट को नहीं करता, न ही पट को करता है, न ही शेष द्रव्यों को करता है। जीव के योग और उपयोग घटादि के उत्पन्न करने में निमित्त हैं। उन योग और उपयोग का कर्त्ता जीव है। घड़े का कर्त्ता कोई व्यक्ति तभी बन सकता है, जब वह स्वयं घड़े रूप परिणमित हो जाये, और कपड़े का कर्त्ता कोई व्यक्ति तभी कहा जा सकता है, जब वह स्वयं कपड़े रूप परिणमित हो जाये। क्योंकि कर्त्ता की परिभाषा ही इस प्रकार दी गयी है— **यः परिणमति स कर्त्ता** अर्थात् जो स्वयं उस कार्यरूप में परिणमित हो, वही उस कार्य का कर्त्ता हो सकता है। जैसे मिट्टी घड़े रूप में स्वयं परिणमित होती है, इसलिए मिट्टी को तो घड़े का कर्त्ता कहा जा सकता है, किन्तु कुम्हार को नहीं। कुम्हार घड़े की उत्पत्ति में अनुकूल या सहायक होने से निमित्त कारण तो कहा जा सकता है, परन्तु घड़े का कर्त्ता वह कभी भी नहीं हो सकता। फिर भी वह अपने को घड़े का कर्त्ता मानता है, यह उसका अज्ञानभाव है, और इसी के कारण वह अनेक प्रकार के कर्मों का बंध करता हुआ, चार गति चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण कर रहा है। इसी बात को कविवर दौलतराम जी ने समझाया है— **पशु, नारक, नर, सुरगति मँझार, भव धर-धर मर्‌यो अनन्त बार।** अर्थात् अज्ञानमय कर्त्ताभाव के कारण जीव चार गति चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण कर रहा है और यदि उसे संसार परिभ्रमण और कर्मबंध से बचना है, तो परकर्तृत्व की मिथ्या मान्यता को छोड़ना ही पड़ेगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञायक स्वभाव का अनुभव करनेवाला ही ज्ञानी

आचार्य कुन्दकुन्द ने परपदार्थों और परभावों के कर्तृत्व की भावना को आत्मानुभूति में सबसे बड़ी बाधा माना है। इसीलिए उन्होंने समयसार के दो सबसे बड़े अधिकार — कर्त्ताकर्म अधिकार और सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार परकर्तृत्व की भावना छुड़ाने के लिए ही लिखे हैं। आचार्य कुन्दकुन्द की यह स्पष्ट अवधारणा है कि जब तक जीव परपदार्थों और परभावों के कर्त्तापने की भावना को नहीं छोड़ पायेगा, तब तक वह अपने ज्ञायकस्वभाव को नहीं पहिचान पायेगा और न ही उसकी अनुभूति कर पायेगा।

इसी बात को स्पष्ट करने के लिए वे समयसार के कर्त्ता-कर्म-अधिकार में लिखते हैं कि जो जीव के साथ ज्ञानावरण आदि कर्मों का बंध होता है, वह बंध यद्यपि पुद्गलमय है, फिर भी जीव के साथ उस बंध के होने का कारण एकमात्र परपदार्थों और परभावों के कर्त्ता बनने के चक्कर में जीव के राग-द्वेष-मोह के जो विकारी परिणाम होते हैं, वे ही वास्तविक कारण हैं। ज्ञानावरण आदि कर्मों के सत्ता में विद्यमान होते हुए भी जो जीव अपने को उनका कर्त्ता नहीं मानता, और अपने ज्ञायकस्वभाव को ही अपना स्वरूप मानता और अनुभवता है; वही वास्तव में ज्ञानी जीव है।

जे पॉग्गलदव्वाणं परिणामा होंति णाण आवरणा।
ण करेदि ताणि आदा जो जाणदि सो हवदि णाणी।। —(समयसार, 101)

अर्थ :— जो ज्ञानावरणादिक पुद्गल द्रव्यों के परिणाम हैं, उन्हें जो आत्मा नहीं करता, (परन्तु जो) जानता है, वह ज्ञानी है।

ज्ञानी जीव किसी भी परपदार्थ और परभाव के कर्तृत्व में उलझता नहीं है। क्योंकि यदि किसी से आपका मतभेद हो जाये, और कषाय उत्पन्न हो भी जाये तो मात्र चिंतन करने से ही वह व्यक्ति आपके कषाय में नहीं घुस गया है; बल्कि आप उसके प्रति जो राग-द्वेष करते हैं, वह अपनी स्वयं की कमजोरी है। ज्ञानी जीव उस कषाय के निमित्त को अपने से भिन्न जानता है, तथा अपने आपको ज्ञायक स्वभाव आदि आत्मा ही मानता है, इसलिए उसके मन में न तो राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं; और न वह उनका कर्त्ता बनता है। संसार में कर्त्तापने में उलझाने वाले हजारों लोग मिलेंगे, किन्तु परपदार्थों के और परभावों के कर्त्तापने से छुड़ाने की कला मात्र समयसार के कर्त्ता-कर्म-अधिकार में ही इतने बढ़िया तरीके से समझायी गयी है।

अकर्त्तास्वभावी आत्मा के इस मर्म को सामान्य मोही संसारी जीव समझ नहीं सकते हैं। इसलिए कोई विरला सौभाग्यशाली जीव ही इस अकर्त्ता स्वभाव को पहिचान पाता है। ऐसे अकर्त्तास्वभावी आत्मा को जाननेवाला ही वास्तव में तत्त्वज्ञानी है। स्वामी कार्त्तिकेय ने कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा नामक ग्रन्थ में इस बात को बहुत अच्छे ढंग से समझाया है कि कोई विरला जीव ही तत्त्व को जान सकता है, और क्षयोपशम में जान भी ले, तो कोई बहुत विरला ,जीव ही होगा जो उसको वास्तव में समझ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सकेगा, या पहिचान सकेगा। समझने और पहिचानने वाले जीवों में उस तथ्य को भावों में आत्मसात् करने की क्षमता बहुत कम लोग प्राप्त कर पाते हैं। तथा ऐसे तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर आनन्द की अनुभूति करने का सौभाग्य अत्यन्त विरले जीवों को ही प्राप्त होता है। अपने विधि का विधान और भाग्य की रेखा को जीव स्वयं के पुरुषार्थ से ही बदल सकता है, अन्य कोई जीव अन्य किसी के भाग्य को नहीं बदल सकता। —यह बात कर्त्ता-कर्म-अधिकार की विशेषता है। यदि किसी की जन्मपत्री में खोटे ग्रह हैं, और उसका भाग्य खराब है, तो जन्मपत्री फाड़कर फेंकने से उसका भाग्य नहीं बदल जायेगा, बल्कि यदि वह आत्मसाधना के मार्ग पर चलेगा, तो उसका भाग्य निश्चित रूप से बदल जायेगा। अज्ञानी जीव इस मर्म को नहीं समझ पाते हैं, और अपना भला करने के लिए अनेक प्रकार के देवी-देवताओं, गुरुओं और तांत्रिकों-मांत्रिकों आदि के चक्करों में पड़कर अपना मनुष्य जीवन बर्बाद करते हैं। कोई विरला सौभाग्यशाली जीव ही यह जान पाता है कि मैं न तो किसी अन्य का कर्त्ता हूँ, और न ही कोई अन्य व्यक्ति मेरा कुछ भला-बुरा कर सकता है। प्रायः लोग ऐसे उपदेश को कुल-परम्परा आदि के कारण सुन तो लेते हैं, किन्तु उस पर चित्त एकाग्र कर उसकी धारणा करने का प्रयत्न नहीं करते। इसलिए वे उसका मर्म नहीं समझ पाते हैं। इसलिए कुन्दकुन्द आचार्य ने समयसार में जब ऐसी बातें कही हैं, तो कहीं.कहीं ऐसा भी कह दिया है कि हे भव्य जीवो ! तुम यह बात कान खोलकर ध्यान से सुनो। जब कोई व्यक्ति ध्यान से बात सुनता है, तो वह बाद में उसका चिंतन-मनन भी करता है, जैसे जानवर चारा खाने के बाद उसकी जुगाली करते हैं, तभी वह चारा उनके शरीर में रक्त आदि का निर्माण करता है। इसीप्रकार तत्त्व का चिंतन करने से ही जीव अपना हित कर सकता है। धारणा शब्द बहुत वैज्ञानिक है, जब जीव किसी बात को अपनी धारणा में बैठा लेता है तो वह बात आसानी से विस्मृत नहीं होती। नींद में भी पूछे तो व्यक्ति उसका उत्तर दे सकता है। जैसे भरत जी घर में रहकर भी घर-गृहस्थी से अलिप्त रहने के कारण वैरागी कहे गये, वैसे ही परपदार्थों और परभावों का जो कर्त्ता नहीं बनता है, वह मात्र अपने ज्ञानस्वभाव का कर्त्ता होने के कारण ज्ञानी कहलाता है। जबकि अज्ञानी जीव अज्ञानमय शुभ-अशुभ भावों का कर्त्ता बनता है, और इसीकारण वह उन्हीं के निमित्त से बँधनेवाले कर्मों के दुःखमय फल को भोगता है।

जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता।
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा।। —(समयसार, 102)

अर्थ :— आत्मा जिस शुभ या अशुभ भाव को करता है, वह उस भाव का निश्चय ही कर्त्ता होता है। वह भाव उसका कर्म होता है वह आत्मा उस भावरूप कर्म का भोक्ता होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मोहरूपी शराब को पीकर जीव अपने आपको परपदार्थों और परभावों का कर्त्ता मानता है, और इसीकारण वह जीव अनेक प्रकार के दुःखों को भोगता है। जैसे किसी लड़ाकू प्रवृत्ति के व्यक्ति का खाना किसी से लड़ाई-झगड़ा किये बिना हज़म नहीं होता, ऐसे ही मोहीजीव परपदार्थों का कर्त्ता बनकर राग-द्वेष करके कर्मबंध किये बिना चैन से नहीं बैठता है, और अपने भवान्तरों के लिए भी दुःख की सामग्री इकट्ठी कर लेता है। मनुष्य अपने ज्ञान का प्रयोग जब मोह के प्रभाव में करता है, तो इसकी वही समझ इसे अधिक दुःख का कारण बन जाती है। उदाहरण के लिए मनुष्य के माता-पिता अपने बच्चे से जीवनभर मोह नहीं छोड़ पाते हैं, जबकि कुत्ते, बिल्ली आदि पशु-पक्षियों में ऐसी प्रवृत्ति नहीं पायी जाती है। वे मात्र आत्मनिर्भर होने तक अपने बच्चों की चिंता करते हैं, और फिर उन्हें स्वतंत्र छोड़ देते हैं। उनके कारण अपना मोह नहीं बढ़ाते। तिर्यंचों में भले ही ज्ञान का क्षयोपशम कम हो, किन्तु फिर भी वे मनुष्यों की तरह अपार मोह नहीं करते हैं। जबकि मनुष्य जीवन भर बच्चों से मोह करेगा, रिश्ते-नातेदारों से मोह करेगा, उनके कारण राग-द्वेष बढ़ायेगा तथा यह मोह की परम्परा उसे नरक-निगोद के दुःखों का कारण बनती है। पशु-पक्षी अपने पेट भरने की चिंता तक सीमित रहते हैं, जबकि मनुष्य पेटी भरने के चक्कर में सारा मनुष्यभव बर्बाद कर देता है। इसीलिए ज्ञानियों ने कहा है— ज्ञान का क्षयोपशम अधिक होना महत्त्वपूर्ण नहीं है, बल्कि प्राप्त क्षयोपशम का सदुपयोग करना अधिक महत्त्वपूर्ण बात है। ऐसा विवेक व्यक्ति के तभी जग सकता है, जब वह अपने आपको परकर्तृत्व के चक्कर में न उलझाये। जब वह जीव यह जान ले कि मैं परपदार्थरूप परिणमित ही नहीं हो सकता, और इसी कारण मैं पर का कर्त्ता नहीं बन सकता, तभी वह परकर्तृत्व से विमुख हो पायेगा।

जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो किह तं परिणामए दव्वं।। –(समयसार, 103)

अर्थ :— जो वस्तु जिस द्रव्य और गुण में (वर्तती है), वह अन्य द्रव्य (और गुण) में संक्रमण नहीं करती है। अन्य में संक्रमण न करती हुई वह वस्तु उस (अन्य) द्रव्य को किसप्रकार परिणमन करा सकती है?

कितनी बढ़िया बात कही है कि एक द्रव्य न दूसरे रूप में परिणमित होता है और न ही वह उसे अपने रूप में परिणमा सकता है। जैसे— साँप चन्दन के पेड़ पर लिपटे रहते हैं, किन्तु साँप के लिपटने से न तो चन्दन का पेड़ ज़हरीला होता है, और न ही साँप चन्दन के सम्पर्क में रहकर शीतल-स्वभावी हो पाता है। इस मर्म को कोई विवेकी जीव ही समझ सकता है, सामान्य संसारी प्राणी सुनकर भी इस सत्य को पचा नहीं पाते हैं। जब यह मर्म हमें समझ में आ जायेगा, तो फिर हम किसी को दोष नहीं देंगे और अपने परिणामों को सँभालकर अपना हित करेंगे। यदि यह स्थिति बनने लगे तो सम्पूर्ण विश्व में शान्ति और सौहार्द का मंगलमय वातावरण छा जायेगा। ज़रूरत है कि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य कुन्दकुन्द के द्वारा बताया गया यह मंगलमय तत्त्वज्ञान हम मात्र चर्चा का विषय ही नहीं बनायें, अर्थात् इसे सुनकर ही नहीं रह जायें, बल्कि इसे अपने जीवन में उतारने की चेष्टा करें। इसी में प्राणीमात्र का हित निहित है।

सम्यक्त्व और मिथ्यात्व

सम्यग्दर्शन जैन शासन का सारतत्त्व है इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने इसे दंसणमूलो धम्मो कहकर धर्मरूपी वृक्ष की जड़ या मूल भी कहा है।

सम्म विणा सण्णाणं, सच्चारित्तं न होदि णियमेण।
तो रयणत्तय-मज्झे, सम्मगुणुक्किट्ठमिदि जिणुद्दिट्ठं।। –(रयणसार, 46)

अर्थ :— सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र नियम से नहीं होते हैं, इसलिए रत्नत्रय में सम्यग्दर्शन गुण उत्कृष्ट है— यह जिनेन्द्र देव ने कहा है।

धर्म मार्ग में सम्यग्दर्शन के बिना शेष कार्यों की वही स्थिति है जो कि अंक के बिना शून्य की होती है। जैसे किसी अंक के बिना यदि चेक पर सिर्फ शून्य लिखते हैं, तो उसकी कोई कीमत नहीं होती, उसे वापस कर दिया जाता है; वैसे सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और जो भी दूसरी क्रियायें आप करोगे, वे सब वापस हो जायेंगी, स्वीकार नहीं की जाएँगी। इसलिए साक्षात जिनेंद्र भगवान् ने कहा कि यदि सम्यग्दर्शन नहीं है, तो सम्यग्ज्ञान नहीं है और न ही सम्यक्चारित्र ही है। और तरह से और भी यदि कुछ है, तो उसका कोई लाभ नहीं है।

ऐसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में बाधकतत्त्व कौन-कौन से हैं? अथवा सम्यग्दर्शन की हानि के कारण क्या हैं? आचार्य कुन्दकुन्द रयणसार में लिखते हैं—

कुतव-कुलिंगि-कुणाणी, कुवय-कुसीले कुदंसण-कुसत्थे।
कुणिमित्ते संथुय थुदि, पसंसणं सम्महाणि होदि णियमं।। –(गाथा 47)

अर्थ :— मिथ्यातप कुलिंगी (मिथ्यादृष्टि साधु), मिथ्याज्ञानी, मिथ्याव्रत, मिथ्याशील, मिथ्यादर्शन, मिथ्याशास्त्र और झूठे निमित्तों की संस्तुति, स्तुति और प्रशंसा करने से नियम से सम्यक्त्व की हानि होती है।

मिथ्यादृष्टि ही दुःख पाता है, सम्यग्दृष्टि जीव दुःख नहीं पाता है। अज्ञानी ही दुःख पाता है। ज्ञानी जीव दुःख नहीं पाता। सम्यग्दृष्टि जीव यह जानता है कि मौत आने के बाद यह शरीर मिट्टी में मिल जायेगा, अतः वह अंत समय में रोता नहीं, बल्कि मुस्कराता हुआ चला जाता है। और मिथ्यादृष्टि जीव अज्ञानवश उस खिलौना टूटने से रोनेवाले बालक की भाँति रोने लगता है कि— हाय ! मेरी मौत निकट आ गई, अब मैं क्या करूँ? एक क्षण भी आयु कोई बढ़ा नहीं सकता, चाहे उसके लिए कितना भी पैसा खर्च करो। जन्म, मरण, सुख, दुःख, स्वेद, खेद आदि जितनी भी दुनिया में ये सारी बातें हैं, ये सब अपने किये हुए कर्मों के अनुसार भोगने पड़ेंगे। इंद्र-धरणेंद्र कोई भी इसको बदल नहीं सकता। अपने परिणामों से थोड़ा-सा करवट ले सकते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं। जैसे बच्चे को चोट लग गया, तो वो रोने लगता है; मगर उसे बहलाने के लिए कह देते हैं— अरे ! देखो उधर कौन साधु आ गया? तो वो थोड़ी देर के लिए रोना बंद कर देता है। यानी थोड़ा-सा उपयोग आप बदल सकते हैं।

इसलिए यहाँ कहते हैं कि जैसे कोढ़ी व्यक्ति अपने कुल विनाश का कारण होता है। वैसे ही जो मिथ्यात्व है, वह अपने अनंत गुणों को सर्वनाश कर देता है, मिथ्यादृष्टि जीव सत्गति को प्राप्त नहीं कर सकते। **सामायिक पाठ** में लिखा है— ध्यान करते समय मन में ऐसे भाव होने चाहिए—

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थ्यभावं विपरीतवृत्तौ सदा ममात्मा विदधातु देव !

अर्थात् सभी प्राणी मात्र के प्रति मेरे भाव मैत्रीपूर्ण रहने चाहिए। मेरा किसी से कोई बैर नहीं है। कृमि-कीटक भी क्यों न हों, उनसे भी मेरे मैत्रीभाव ही रहें। जितने भी गुणी लोग हैं, इस दुनिया में रत्नत्रयधारी, व्रती, धर्मात्मा लोगों के प्रति भी मेरे परम मैत्री और प्रमोद के भाव रहें। दुःखी जीव जो हैं, इस दुनिया में उनके दुःख दूर हों —ऐसी मेरी भावना है। **सुखी रहें इस जीव जगत के।** कोई भी दुःखी इस दुनिया में न रहे, यह भावना भाना **सामायिक पाठ** में डाला गया है। और कोई मिथ्यादृष्टि जीव है, विपरीत व्रतधारी है, उसके प्रति मध्यस्थभाव रखूँ।

मिथ्यादृष्टि से मध्यस्थभाव रखो। क्योंकि वे उस खम्भे अथवा उस पत्थर के समान होते हैं। उनसे टकराओगे, तो तुम्हें ही चोट लगेगी। इसलिए सब गुण जो भी हैं, वे सब उसके दुःख के ही कारण होते हैं। उसके भाग्य में दुःख ही दुःख लिखा होता है। मिथ्यादृष्टि जीव को सुख कभी नहीं मिल सकता। सुख का मूलकारण ज्ञान है, सुख का मूल कारण सम्यग्दर्शन है। दुःख का मूल कारण है अज्ञान। अँधेरे में कुछ भी नहीं दिखाई देता है, उसी तरह से अज्ञानी को भी कुछ भी अच्छा-बुरा नहीं दिखाई देता। ज्ञानी को थोड़ा-बहुत तो दिखाई देता भी है। टिमटिमाता हुआ कोई दीपक हो, तो आदमी सीधा उस दीपक की सीध में जा भी सकता है। परन्तु यदि चारों ओर अँधेरा ही अँधेरा हो, तो आदमी किस ओर जायेगा। वहीं घूम-फिरकर परेशान हो जायेगा। इसलिए थोड़ा भी ज्ञान है, तो वो कल्याणकारी होता है। इसीलिए अपने यहाँ न्यायशास्त्र है। सब पेड़ फलते हैं, कोई भी ऐसा पेड़ नहीं है, जो फलते-फूलते न हों। तो आप बताओ कि आपको कौन-सा फल लगे, आप कौन-सा फल लेना चाहेंगे? जो थोड़ी-बहुत आपको बुद्धि मिली है धर्म की, उसे आप आत्मा के हित में थोड़ा-सा ध्यान करो, जप करो। ये थोड़े-बहुत पुण्य-फल उसी को लगते हैं, जो थोड़ा-सा ध्यान करते हैं, जप करते हैं। जैसे दीपक जलाते ही अँधेरा दूर हो जाता है, कहना नहीं पड़ता कि— अरे! तुम्हें जला दिया है, अब अँधेरा दूर करो। वैसे ही सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होते ही सारे दुःख दूर हो जाते हैं। ये सम्यग्ज्ञान का प्रतिफल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। हित की प्राप्ति कराना और अहित को दूर करना।

युधिष्ठिर महाराज वनवास में एक जगह बैठ गये। वहाँ एक वृद्ध आदमी ये सोचकर बहुत दुःखी था कि राजमहल छोड़कर जंगल में आकर बैठ गये, ये इससे कितने दुःखी होंगे। कुछ कहानी-कथा सुनाकर उनका दुःख थोडी देर के लिए भुलवा दूँ, ऐसा विचार करके वह आदमी उनके पास गया। वहाँ देखा कि उनके चेहरे पर मुस्कराहट के भाव थे, दुःख का कोई नामोनिशान नहीं था। अरे ! इस जंगल में वनवास में आकर आपका चेहरा मुरझाया हुआ होना चाहिए, रोने का होना चाहिए, ये सब तो कुछ नहीं; जैसे राजमहल में मुस्करा रहे थे, वैसे ही यहाँ भी आप मुस्करा रहे हैं। उसने कहा— महाराज ये तो चमत्कार है। उन्होंने पूछा— क्या? तब वह व्यक्ति बोला— महाराज राजमहल में मुस्कराने की बात समझ में आ सकती है, मगर इस सुनसान जंगल में भी आप वनवास भोगते हुए भी वही आपके चेहरे पर प्रसन्नमुद्रा के भाव है, इसका राज क्या है? मैं यही आपसे सीखने आया हूँ और मुझे आपसे कुछ भी नहीं चाहिए। युधिष्ठिर महाराज ने कहा— धर्म के ज्ञान का फल है कि हर परिस्थिति में मुस्कराने की क्षमता बनी रहे। जहाँ भी रहें, चाहे वह स्थान श्मशान घाट में ही क्यों न हो? वहाँ भी मुस्कराते रहना चाहिए। कि अब मेरी भी बारी आनेवाली है। ये नहीं कि अब मैं क्या करूँ? यमराज के दूत मेरे पीछे पड़ गये हैं। ज्ञान का फल है कि हर परिस्थिति में मुस्कराते रहो। दुःख की भावना को अपने पास आने मत दो। धर्मात्मा का लक्षण यही है कि वह कहीं भी हो, प्रसन्नचित्त ही रहेगा। इतना ही नहीं, वह जहाँ जायेगा, वहाँ का वातावरण ही बदल देगा। आनंद ही आनंद बिखेर देगा।

सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन की महिमा

आचार्यों ने ज्ञान को मोक्ष का कारण कहा है, अज्ञानी जीव यदि कितना ही धर्माचरण करे; तो भी वह मोक्षमार्गी नहीं हो सकता। जैसे भँवरा बाँस में छेद करता है, वह छेद तो बहुत मनोयोग से करता है; किन्तु छेद करने की कोई निश्चित दिशा नहीं होती, कहीं भी छेद कर देता है; अतः उसका कोई लाभ उसे नहीं मिलता। इसीप्रकार अज्ञानी जीव की क्रिया सुनिश्चित दिशा-निर्देश के बिना न होने के कारण वह उसकी आध्यात्मिक उन्नति की निमित्त नहीं बन पाती है। यदि विधिवत् ज्ञानाभ्यास के बिना कितने श्रमपूर्वक कोई क्रिया की जाये, तो उसका समुचित परिणाम नहीं मिल सकता है। इसीलिए सम्यग्ज्ञान की आवश्यकता आचार्यों ने अनेकत्र बतायी है। आचार्य कुंदकुंद ने समयसार की 404वीं गाथा में तो यहाँ तक कह दिया कि मुनि-दीक्षा से पहले ज्ञान-दीक्षा होना बहुत जरूरी है। गणधरों ने भी पहले ज्ञान-दीक्षा ही ली थी। बच्चे स्कूल में पढ़ने जाते हैं तो उन्हें विधिवत् अक्षरज्ञान और विषयज्ञान होने पर ही क्रमशः अध्ययन पूर्ण कर लेने के बाद स्नातक-दीक्षा दी जाती है। अतः विधिवत् क्रमशः ज्ञान होना आवश्यक माना गया है। आध्यात्मिक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तत्त्वज्ञान तो अत्यंत गूढ़ है, तथा ज्ञानी गुरु के सान्निध्य में विधिवत् अभ्यास किये बिना इसमें पारंगत नहीं हुआ जा सकता। और विधिवत् ज्ञान की प्राप्ति के बिना शांति नहीं मिल सकती। आचार्य अमृतचंद्र ने इस बारे में स्पष्ट कह दिया कि— **ज्ञानात् शांतिः।** इससे स्पष्ट है कि ज्ञानी व्यक्ति ही शांति को प्राप्त कर सकता है और अज्ञानी हमेशा दुःखी रहेगा। यदि आपके पास भरपूर वैभव है, और भौतिक संसाधन भी हैं; किन्तु तत्त्वज्ञान नहीं है, तो आपको शांति नहीं मिल सकती है।

महान् विद्वान् पं. टोडरमल जी **मोक्षमार्ग प्रकाशक** में इस विषय में स्पष्ट लिखते हैं— देखो तत्त्वज्ञान की महिमा, तत्त्वज्ञानसहित जीव तिर्यंचादि गति में भी जाये; तो वहाँ भी तत्त्वज्ञान के अभ्यास के बल से सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर सकता है। जबकि तत्त्वज्ञानरहित व्यक्ति मनुष्यादि उच्चगतियों में भी आत्महित नहीं कर पाता है।

णाणेण झाणसिद्धी, झाणादो सव्वकम्म-णिज्जरणं।
णिज्जरणफलं मोक्खं, णाणब्भासं तदो कुज्जा।। —(रयणसार, 150)

अर्थ:— ज्ञान से ध्यान की सिद्धि होती है, ध्यान से समस्त कर्मों की निर्जरा होती है; निर्जरा का फल मोक्ष है; अतः ज्ञानाभ्यास करना चाहिए।

इससे स्पष्ट है कि ज्ञान के बिना मोक्षमार्ग और मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है। इस विषय में आचार्य शान्तिसागर जी कहा करते थे— अज्ञानियों के गुरु बनने से अच्छा है कि ज्ञानियों के शिष्य बनकर रहा जाये। इसीलिए गणधर परमेष्ठियों ने पहले ज्ञान-दीक्षा ही माँगी थी। साधुचर्या के तीन क्रम हैं— शिक्षा, दीक्षा और भिक्षा। सबसे पहले शिक्षा होना चाहिए, फिर दीक्षा होना चाहिए और फिर भिक्षा-विधि अर्थात् आहारचर्या क्रम प्राप्त होती है। ज्ञान-दीक्षा हमें हर परिस्थिति में प्रसन्नता की कला सिखाती है, क्योंकि इससे ही हम जानते हैं कि जगत् के पदार्थों में कोई भी मेरा या पराया नहीं है। अतः किसी के मिलने पर हर्ष और किसी के मिलने पर विषाद करना उचित नहीं है। इसीलिए आचार्यों ने लिखा है—

प्रसादो विद्यते यत्र, तद् हि वैदुष्यसत्फलम्।

अर्थात् ज्ञान का वास्तविक फल प्रसन्नता है, इसीलिए ज्ञानी व्यक्ति सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीवन-मरण और संयोग-वियोग जैसी परस्पर विपरीत परिस्थितियों में कभी भी खुशी या दुःख नहीं मनाता है। वह सदा समताभाव से प्रसन्नचित्त बना रहता है, उसकी स्मित हास्यरेखा चेहरे से कभी विलुप्त नहीं होती।

आचार्यदेव **रयणसार** में आगे कहते हैं— ज्ञान भावना से तप, संयम और वैराग्य —तीनों की प्राप्ति होती है। पिछली गाथा में ज्ञान से ही ध्यान-साधना की जो बात कही थी, उसका शुभारंभ स्वाध्याय से होता है; और स्वाध्याय को परमतप कहा गया है। इसीसे संयम का पालन होता है, और अन्दर में वैराग्य की भावना दृढ़ होती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अतः स्वाध्याय से ज्ञानार्जन की अपार महिमा बतायी गई है—

कुसलस्स तवो णिवुणस्स संजमो समपरस्स वेरग्गो।
सुदभावणेण तत्तिय, तम्हा सुदभावणं कुणह।। —(रयणसार, 151)

अर्थ :— कुशल व्यक्ति के तप होता है। निपुण व्यक्ति के संयम होता है। समताभावी के वैराग्य होता है और श्रुत की भावना से ये तीनों होते हैं; इसलिए श्रुत की भावना करो।

यहाँ श्रुत की भावना का अभिप्राय स्वाध्याय से है। स्वाध्याय के वाचना-पृच्छना-अनुप्रेक्षा-आम्नाय-धर्मोपदेश ये पाँच अंग माने गये हैं। आगम के स्वाध्याय से कषाय कृश होने से व्यक्ति संयमभाव को प्राप्त करता है, और शास्त्राभ्यास से ही वस्तुतत्त्व का यथार्थ बोध होने से उसके हृदय में संसार, शरीर और भोगों के प्रति वैराग्यभाव जगता है। वह जान लेता है कि संसार क्षण-भंगुर है, शरीर अशुचिता का पिण्ड है और भोग भूसे के समान निस्सार हैं। ऐसा जानने से ही उसके हृदय में इनके प्रति वैराग्य की उत्पत्ति होती है। और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा के लिए वह तपश्चरण करने के लिए प्रयत्नशील हो जाता है।

जब तक तत्त्वज्ञान के अभ्यास के बल से जीव मिथ्यात्व को दूर नहीं करता है, तब तक वह संसार में परिभ्रमण करता रहता है। क्योंकि आचार्यों ने जीव के अनादि संसार-परिभ्रमण का एकमात्र मूलकारण मिथ्यात्व ही बताया है। कर्मबंध के पाँच कारणों में भी मिथ्यात्व को ही सबसे पहला कारण कहा है। ज्ञानियों ने यहाँ तक लिखा है कि वास्तविक पुरुषार्थ तो मिथ्यात्व को नष्ट करना ही है। मिथ्यात्व के नष्ट होने पर और सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर संसार की सीमा समुद्र के सामने चुल्लू के बराबर रह जाती है। पंचप्रकार संसार-परिभ्रमण का कारण भी मिथ्यात्व ही है।

कालमणंतं जीवो, मिच्छत्त-सरूवेण पंचसंसारे।
हिंडदि ण लहदि सम्मं, संसारब्भमण-पारंभो।। —(रयणसार, 152)

अर्थ :— जीव मिथ्यात्व-स्वरूप होने से अनन्तकाल से (अनादिकाल से) पंचपरावर्तन (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव) रूप संसार में भ्रमण कर रहा है, किन्तु उसे सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हुआ; अतः संसार-परिभ्रमण बना हुआ है।

पंचपरावर्तन का सरल परिचय इसप्रकार है—

द्रव्य-परावर्तन— ऐसा कोई द्रव्य दुनिया में, नहीं बचा जिसका हमने सेवन नहीं किया। अनादिकाल से सबका सेवन कर चुके हैं। यही द्रव्य-परावर्तन का सरल अभिप्राय है।

क्षेत्र-परावर्तन— ऐसा कोई क्षेत्र नहीं दुनिया में जहाँ जन्म-मरण नहीं हुआ। मछली बन गये, जलचर में जन्मे, भूचर-पशु-पक्षी बन गये। नभचर आकाश में उड़नेवाले पक्षी बन गये। यानि कोई क्षेत्र बचा नहीं जहाँ जन्म नहीं लिया। एक-एक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अणु-परमाणु पर जन्म लेने के कारण इसे क्षेत्र-परावर्तन की संज्ञा दी गयी है।

काल-परावर्तन— उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालखण्डों के प्रत्येक काल में, प्रत्येक परिस्थिति में अनादिकाल से यह जीव जन्म-मरण के दु:ख भोगता आ रहा है। यही स्थूलरूप में काल-परावर्तन है।

भव-परावर्तन— चार गति चौरासी लाख योनियों में कोई ऐसा भव बाकी नहीं है, जिसमें इस जीव ने दु:ख नहीं भोगे हों; यही भव-परावर्तन है।

भाव-परावर्तन— मिथ्यात्व, कषाय, अविरति, प्रमाद और योग के किसी भी ऐसे सांसारिक भाव को इस जीव ने नहीं छोड़ा है। इन भावों के असंख्यात लोकप्रमाण भेद माने गये हैं, और उन सभी भावों के रूप में परिणत होकर जीव जन्म-मरण करता है, यही भाव-परावर्तन है।

इसप्रकार द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव और भाव के परावर्तन करते हुए अनादिकाल से इस जीव ने चार गति चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण किया है, और अपार दु:ख भोगे हैं। इसने सारी अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों को प्राप्त किया, एकमात्र सम्यग्दर्शन की प्राप्ति इसे नहीं हो सकी। और सम्यग्दर्शन के बिना ही यह जीव इसप्रकार का संसार परिभ्रमण कर रहा है। सम्यग्दृष्टि जीव के लिए तो यह संसार समुद्र की तुलना में चुल्लू के बराबर रह जाता है। इससे हम कह सकते हैं कि यह जीव सम्यग्दर्शन के बिना ही दु:खी है, और सम्यग्दर्शन प्राप्त करके यह सुखी हो सकता है।

सम्मद्दंसण-सुद्धं, जाव दु लभदे हि ताव सुही।
सम्मद्दंसण-सुद्धं, जाव ण लभदे हि ताव दुही।। —(रयणसार, 153)

अर्थ :— जब शुद्ध (निर्दोष) सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है, (जीव) तभी सुखी होता है। जब तक शुद्ध सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक (जीव) दु:खी रहता है।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए इसे निरन्तर ज्ञानाभ्यास भी आवश्यक है। यद्यपि आत्मा स्वयं ज्ञान का पिण्ड है, आचार्य लिखते हैं—

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं, ज्ञानादन्यत् करोति किम्।
परभावस्य कर्त्तात्मा, मोहोऽयं व्यवहारिणाम्।।

जैसे बिना धार का चाकू किसी वस्तु को काटने में समर्थ नहीं होता है, उसीप्रकार ज्ञानाभ्यास के बिना तत्त्वनिर्णय संभव नहीं है। इसीलिए आचार्यों ने ज्ञानाभ्यास निरन्तर करने के लिए प्रेरणा दी है, और इसी दृष्टि से स्वाध्याय को परमतप कहा है।

प्रत्येक श्रावक और श्राविका के लिए न्यूनतम इतना ज्ञानाभ्यास आवश्यक है। यह मनुष्य जीवन मिलना अत्यंत कठिन है, और परम सौभाग्य से हमें मनुष्य जीवन मिला है, यदि इसकी आयु सौ वर्ष की मानी जाये, तो आधा जीवन तो हम सोने में व्यतीत कर देते हैं, और बचे हुए में से भी आधा जीवन खाने-पीने जैसे कार्यों में बिता देते हैं। बचे हुए एक-चौथाई में शादी-विवाह, दुकान-नौकरी आदि अनेक झंझट हैं। यदि हम

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गणना करके देखें तो पूरे जीवन का सौवाँ हिस्सा भी हम स्वाध्याय और आत्महित के लिए नहीं दे पाते हैं। जबकि अन्य सब कार्यों से संसार और कर्मबंध बढ़ता है, तथा संसार के बंधन से छुड़ानेवाला एकमात्र सरल उपाय स्वाध्याय ही है। स्वाध्याय से ही हमें धर्म-ध्यान का अभ्यास होता है, अतः प्रतिदिन थोड़ा-बहुत स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए। शरीर की मलिनता तो गंगा-स्नान आदि से दूर हो सकती है, किन्तु आत्मा में जो कर्मों की मलिनता लगी है, उसको धोने के लिए ज्ञानरूपी निर्मल गंगाजल ही एकमात्र उपाय है। और इसकी प्राप्ति का स्रोत वीतराग जिनवाणी का स्वाध्याय है। क्षणभर के भी धर्मध्यान और स्वाध्याय से असंख्यात कर्मों की निर्जरा हो सकती है, अतः हमें अपने जीवन को पवित्र बनाने के लिए प्रतिदिन स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए। इस पवित्र कार्य में जीवन के जितने क्षण जायें, वे ही सार्थक हैं, शेष सभी निरर्थक हैं।

सम्यग्दृष्टि का स्वरूप

भय-वसण-मल-विवज्जिद संसार-सरीर-भोग-णिव्विण्णो।
अट्ठ-गुणंग-समग्गो, दंसणसुद्धो हु पंचगुरु-भत्तो।। —(रयणसार, 5)

अर्थ :— निर्दोष सम्यग्दर्शन का धारक निश्चय ही (सप्त) भय, (सप्त) व्यसन और (पच्चीस) मलों (दोषों) से रहित, संसार, शरीर और भोगों से विरक्त, अष्टांग (निःशंकितादि) गुणों से युक्त और पंच गुरु (परमेष्ठी) का भक्त होता है।

धर्म के स्वरूप की महिमा सम्यग्दर्शन से मानी गयी है, और इस गाथा में सम्यग्दृष्टि का स्वरूप बहुत ही सरल रीति से समझाया गया है। सम्यग्दर्शन की व्युत्पत्ति वैयाकरणों ने लिखी है। आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं— **सम्** उपसर्गपूर्वक **अञ्च्** धातु से **सम्यक्** शब्द की निष्पत्त होती है, जिसका अर्थ है हितकारी। अर्थात् जिसमें आत्महित निहित हो वही सम्यक् है तथा ऐसे सम्यक् श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा गया है। कहीं-कहीं सम्यक् शब्द का अर्थ प्रशंसा भी लेते हैं। उसके अनुसार जो प्रशंसा के योग्य श्रद्धान हो, उसे सम्यग्दर्शन कहा गया है। लौकिक प्रशंसा तो राग-द्वेष-मोह से प्रेरित होने के कारण झूठी भी हो सकती है; किन्तु आत्मा और परमात्मा का श्रद्धान यदि यथार्थ रूप में किया जाये, तो वह झूठा नहीं हो सकता, इसीलिए उसे ही सम्यग्दर्शन कहा गया है। भगवान् महावीर के प्रधान शिष्य गौतम गणधर ने पूछा— हे भगवन् ! संसार से पार होने का सरल उपाय क्या है? **संसार-विच्छित्तेः कारणं किम्?** तब भगवान् ने कहा कि आप रोज स्वाध्याय करो, वीतराग वाणी को सुनो-पढ़ो, इसी से आप मोक्षमार्ग में प्रवेश कर सकते हैं। यदि आप शास्त्र नहीं पढ़ सकते हैं, तो पंचपरमेष्ठी-वाचक **णमोकार मंत्र** जपो। जैसे कोई जितनी देर क्रोध करता है, तो वह उस समय क्रोधी कहलाता है। इसीप्रकार जितनी देर आप पंचपरमेष्ठी का स्मरण करते हैं, उतनी ही देर आप तन्मय माने जायेंगे। **जप** की जैनशास्त्रों में अपार महिमा मानी गयी है। आचार्य लिखते हैं—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जकारो जन्मविच्छेदः पकारः पापनाशनः।
तस्मात् जपेति नामायं जन्म-पापविनाशनः।।

अर्थात् **ज** बोलो तो जन्म-मरण का नाश तथा 'प' बोलो तो पाप का नाश; इसप्रकार जन्म-मरण और पाप का नाश जिससे होता है, उसका नाम **जप** है। ऐसा जप करनेवाला व्यक्ति जब आत्मा और परमात्मा के सम्यक् श्रद्धानपूर्वक सम्यग्दृष्टि हो जाता है, तो उसके सात प्रकार के भय दूर हो जाते हैं। सात प्रकार के भय निम्नानुसार बताये गये हैं— इहलोकभय, परलोकभय, आकस्मिकभय, अनुरक्षाभय, वेदनाभय, मरणभय और अलुप्तभय। इन सात भयों से सम्यग्दृष्टि जीव रहित होता है अर्थात् निर्भय होता है। इन सात भयों का वर्णन निम्नानुसार है—

इहलोकभय :— मनुष्य जहाँ भी बैठता है, उसको अपने दुश्मनों से हमेशा भय बना रहता है। कहीं भी बैठता है, तो इधर-उधर देखता रहता है कि कहीं कोई मुझ पर प्रहार न कर दे। इसे ही इहलोकभय कहते हैं।

परलोकभय :— मनुष्य को हमेशा यह भय बना रहता है कि मरने के बाद परलोक में मेरी क्या गति होगी, मैं किस भव में जाऊँगा, इस बात से डरपोक बनकर डरते रहता है, यही **परलोकभय** कहलाता है।

आकस्मिकभय :— जैसे बिजली कड़कड़ाने लगी, तो डर के मारे खिड़की दरवाजे बंद करके अन्दर बैठ जाते हैं— अरे ! ये क्या हो रहा है? रत्नाकर कवि ने इस पर एक बहुत ही सुंदर दृष्टांत दिया है कि 'जब बच्चे आँगन में खेलते रहते हैं और जैसे ही बिजली की कड़कड़ाहट उन्हें सुनाई देती है, तुरंत भागकर वे घर के अंदर आकर खिड़की दरवाजा बंद करके बैठ जाते हैं। —यही आकस्मिक भय है। इसीप्रकार दुनियादारी के जितने भी व्यवहार हैं, उनको छोड़कर आप मन-वचन-काय का दरवाजा बंद करे अंदर बैठे रहो।

अनुरक्षाभय :— अरे ! मेरे दादाजी चले गये, पिताजी भी नहीं रहे। देश के इतने बड़े नेता थे, अब देश का क्या होगा? मेरा क्या होगा? कौन मेरा रक्षण करेगा? किसी का पति चला गया, तो वह महिला बोलती है— अब मेरा कौन-रक्षण करेगा? इस पर आचार्य ने कह दिया— लोग कहते हैं कि अकेले मत जाना, किसी को साथ लेकर जाना। तो आप किसको साथ लाये थे, जो साथ लेकर जाने की बात करते हो? तो पति-पत्नी का जब संयोग हो गया, मगर आगे-पीछे आयुकर्म के अनुसार तो आगे पीछे जाना ही है, वो भी अकेले। तो तुम्हारी रक्षा अरिहंत भगवान् करेंगे। शेष यदि ऐसा भय रखते हो, तो वह अनुरक्षा भय है, जो मिथ्यादृष्टि जीवों में पाया जाता है।

वेदनाभय :— कोई दुःख की बात हो गई तो कहते हैं— इस बात से मुझे बहुत वेदना हो रही है। मैं बहुत व्यथित हो गया हूँ, कुछ सूझता नहीं कि क्या करूँ? यही **वेदनाभय** है। इस वेदना को कम करने का एकमात्र उपाय धर्मध्यान है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मरणभय :— लोग कहते हैं मेरा मरण हो जायेगा, तो मेरे परिवार का क्या होगा? —यही मरणभय है। अरे परिवार का तो छोड़ो, पहले अपना सोचो कि तुम्हारा क्या होगा? मोह-माया में फँसकर किस गति में जाओगे? अपना तो परलोक सुधारो, मोह-माया कम करो।

अलुप्तभय :— कोई चोर चोरी करने के बाद डरता रहता है कि कहीं मालूम पड़ने पर अथवा पकड़े जाने पर मेरी बेइज्जती हो जायेगी, इसलिए अँधेरे में छुपछुपकर घूमता रहता है। यही अलुप्तभय है।

इन सातों भयों से सम्यग्दृष्टि जीव अपने को पृथक् रखता है। सम्यक्दृष्टि जीव संसार, शरीर और खाना पीना इन सबसे विरक्त होते हैं। कैसे विरक्त होते हैं? जैसे डॉक्टर आप लोगों को बीमारी में कड़वी दवाइयाँ देते हैं, आप उनका सेवन बड़ी कठिनता से करते हैं— भले ही यह कड़वी दवा है; मगर इसके सेवन से हमें आराम हो जायेगा। और जाकर डॉक्टर को बताते हैं— डॉक्टर साहब, थोड़ा आराम हुआ है, तो डॉक्टर बोलता है— ठीक है, अभी थोड़े दिन और औषध ले लो तो पूरा आराम हो जायेगा। उसी प्रकार से सम्यग्दृष्टि जीव भी संसार में रहता है। सब कर रहा है, घर में रह रहा है, मगर समझता है कि जेल में रह रहा हूँ। खा रहा है, पी रहा है, संसार में रह रहा है, मगर मन में क्या है? विरक्तभाव कि ये सब कब छूटेगा और मैं मोक्षगामी बनूँगा। तो इसतरह से सम्यग्दृष्टि जीव के लक्षण बता रहे हैं। अब आचार्य बता रहे हैं कि सम्यग्दृष्टि कभी दुःखी नहीं होते हैं, हर परिस्थिति में मुस्कराते रहते हैं। कोई भी संकट आने दो, फिर भी वह हमेशा मुस्कराता रहता है।

सम्यग्दृष्टि महिला कौन होती हैं? जो सास बहू को बेटी के समान मानती है, बेटी और बहू में जरा भी अन्तर नहीं समझती है, दोनों को वात्सल्यभाव से व्यवहार करती है, वैसे ही जो बहू सास को माँ के समान इज्जत करती है, उनका कहा मानती है, उनका आदर करती है; वह महिला सम्यग्दृष्टि है। ये नहीं कि चावल चढ़ाकर सम्यग्दर्शन खरीद लिया, बादाम चढ़ाकर सम्यग्दर्शन खरीद लिया। सम्यग्दर्शन खरीदने से नहीं मिलता, सम्यक् आचरण से मिलता है। समताभाव जब जग जाते हैं, तब सम्यक्दर्शन मिलता है। इसलिए यहाँ पर कह रहे हैं— निज शुद्ध आत्मा का ध्यान करें, उसमें अनुरक्त रहें। अर्थात् आत्मा के गुणों का चिंतन सुबह, शाम करते रहें और बहिरात्मा की दशा से रहित बनें। दुनिया भर की बातों में उलझ गया, तो वो बहिरात्मा है और अंतरात्मा सम्यक्दृष्टि है। तीन आत्मा होते हैं— बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा। तो कहते हैं सम्यग्दृष्टि जीव आत्मज्ञानी होता है। और जिनेंद्रदेव, मुनिधर्म का उपासक होता है अर्थात् उन्हें मानता है। यदि सत्संग में बैठोगे, तो कुछ अच्छी बातें कान में जायेंगी। धर्मध्यान में मन लगेगा। सम्यग्दृष्टि जीव कभी दुःखी नहीं होता है, दुःखों को भगा देता है। सम्यग्दृष्टि के सामने दुःख पिघल जाते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
हैं और मिथ्यादृष्टि दुःखों के सामने खुद पिघल जाता है, खत्म हो जाता है, यह विशेषता है सम्यग्दृष्टि की। पांडवों के गले में गरम लोहे के गहने पहनाये, क्या-क्या कष्ट नहीं आये, पर उन्होंने कभी हिम्मत नहीं छोड़ी, धैर्य से हर मुसीबत का मुकाबला करते रहे और शांति से अशुभ कर्म का उदय समझकर उसे भोगते रहे। कोटि-कल्प-वर्ष चले जाएँ, फिर भी कर्मों को भोगना पड़ता है। ये किसके लिए? अज्ञानी के लिए और सम्यग्दृष्टि ज्ञानी होगा, तो क्षण भर में सारे दुःखों को भस्म कर देगा। सम्यग्दृष्टि कभी दुःखी नहीं होता है, हमेशा हर परिस्थिति में सुखी रहता है।

आप दुःख को कभी दुःख नहीं समझें। जैसे आप शरबत बना रहे हैं, वो थोड़ा खट्टा लग रहा है; तो थोड़ा-सा चीनी डालकर मीठा कर देते हैं, वैसे सम्यग्दृष्टि भी दुःख को सुख में परिवर्तित कर देता है।

सम्यग्दृष्टि जीव की विशेषता

शास्त्रों में **दुर्लभ** शब्द की परिभाषा करते समय आचार्य ने लिखा है— इस जीव के लिए सबसे बड़ी बात है द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से अच्छे धर्मसाधन की वस्तु मिलना, आर्यक्षेत्र मिलना, जिसको अहिसक क्षेत्र या धर्मक्षेत्र कहते हैं, अच्छे से अच्छा काल मिलना, मनुष्यभव मिलना और अच्छे भाव होना। हम देखते हैं कि किसी को मनुष्यभव तो मिल गया, पर अंधा-बहरा-गूँगा होकर जन्मा; यदि सुंदर शरीर भी मिल गया, तो आगे चलकर लँगड़ा हो गया अथवा ऐसी कोई भयानक बीमारी हो गई। और यदि सर्वांग सुंदर शरीर भी मिल गया, पर अच्छा क्षेत्र नहीं मिला। और यदि ये सारी चीजें मिल भी गयीं, तो इन सारी चीजें मिलने के बाद अहिंसक-धर्म मिलना जरूरी है। गुरुओं की संगति, वीतराग भगवान् के रोज दर्शन और रोज शास्त्र सुनने को मिलना —ये उत्तरोत्तर बहुत ही दुर्लभ हैं।

आचार्य समंतभद्र महाराज बड़े अभूतपूर्व व्यक्तित्व के धनी थे, उन्होंने एक बात कही— हे भगवन् ! दुनिया में सबको कुछ-न-कुछ व्यसन है। किसी को ताश खेलने का व्यसन है, किसी को जुआ खेलने का व्यसन है, अनेक प्रकार के व्यसन दुनिया में हैं। मुझे भी व्यसन चाहिए कि मैं आपके दरबार में हमेशा आपके सामने हाथ जोड़े रहूँ, मेरी आँखें हमेशा आपके दर्शन करती रहें, मैं हमेशा आपकी स्तुति करता रहूँ, मेरे पैर हमेशा तीर्थयात्रा करते रहें, मेरा मन हमेशा आपका ध्यान लगाये रहे, और मैं हमेशा स्वाध्याय करता रहूँ। और किसी भी व्यसन की मुझे जरूरत नहीं है। मेरे ये सारे व्यसन हमेशा बने रहें, जब तक कि मैं इस संसार से मुक्त न हो जाऊँ।

जिनसेन आचार्य ने **महापुराण** में लिखा है— हे भगवन्! आपने कहा कि वचनगुप्ति पालो, मनोगुप्ति पालो, कायगुप्ति पालो। आपने ये तीन नियम बनाये, पर मैं इन तीनों नियमों को तोड़ दूँगा। आपकी स्तुति के लिए वचनगुप्ति तोड़ूँगा, आपके गुणों के चिंतन के लिए मनोगुप्ति तोड़ूँगा और आपको नमस्कार-हेतु हाथ जोड़ने के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लिए कायगुप्ति भी तोड़ूँगा —यह भक्ति की पराकाष्ठा है।

आज कह रहे हैं कि सम्यग्दृष्टि 44 दोषों से रहित होता है। जब सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है, तो अपने आप उसके 44 दोष दूर हो जाते हैं। जैसे पानी में स्फटिक डालते ही उसके अंदर का मैल नीचे बैठ जाता है, जैसे दीपक जलते ही अँधेरा सब भाग जाते हैं, उसीप्रकार से सम्यग्दृष्टि जीव के पास से 44 दोष भाग जाते हैं।

मद-मूढमणायदणं, संकादि-वसण-भयमदीयारं।
जेसिं चउवालेसे, ण संति ते होंति सद्दिट्ठी।। —(रयणसार, 7)

अर्थ :– जिनके आठ मद, तीन मूढ़तायें, छह अनायतन, शंकादि आठ दोष, सप्त व्यसन, सप्तभय और पाँच अतिचार —ये चवालीस (44) दोष नहीं होते हैं, वे सम्यग्दृष्टि होते हैं।

इनमें से सर्वप्रथम जिन आठ मदों का उल्लेख है, उनका परिचय इसप्रकार है—

1. **ज्ञानमद** :— ज्ञानमद से प्रेरित मनुष्य यह समझता है कि— मेरे जैसा इस दुनिया में कोई दूसरा विद्वान् नहीं है। एक आदमी ने अपने शरीर में लोहे का बाजूबंद लगा लिया। लोगों ने पूछा— ये क्यों लगा रखा है? तो बोला— मेरा ज्ञान निकलकर बाहर दुनिया में न चला जाये, इसलिए ये लोहे का बाजूबंद लगा रखा है। यह ज्ञान का अभिमान है।

2. **पूजामद** :— पूजामद से प्रेरित मनुष्य सोचता है— देखो, इतने लोग मेरी जय-जयकार बोल रहे हैं। तुम मुझे क्या समझते हो? —ऐसा अभिमान आ जाता है।

3. **कुलमद** :— कुलमद से प्रेरित मनुष्य सोचता है— उच्चकुलीन हूँ और तुम निम्न कुल के हो, ऐसा सोचने से उसके मन में कुल का अभिमान आ जाता है। मरीची भरत चक्रवर्ती का लड़का उच्चकुलीन था, क्षत्रिय था, दादा तीर्थंकर थे, पिता षट्खंडा-धिपति चक्रवर्ती थे, नाना तरह का अपार वैभव और फिर भी वह इस संसार-सागर में कुलमद के कारण भटक गया, अभिमान कर बैठा कि— मैं तीर्थंकर बननेवाला हूँ।

4. **जातिमद** :— जातिमद से प्रेरित मनुष्य सोचता है— मेरी माँ बहुत ही उच्च जाति के घराने से है, मेरे पिताजी भी बहुत ही ऊँची जाति के हैं। —ऐसा विचारकर जो अभिमान के कारण सारे जगत् को तुच्छ समझता है, वह जातिमद का प्रभाव है।

5. **बलमद** :— शारीरिक बल के कारण जो अन्य निर्बल प्राणियों को हीन मानकर अपने बलवान् होने के अहंकार में रहता है, वह बलमद से ग्रस्त है।

6. **ऋद्धिमद** :— मेरे पास किस बात की कमी है ! अधिकार है मुझे, सबको 1 मिनट के अंदर जेल में बंद कर दूँगा। —ऐसा चिंतन ऋद्धिमदवाला व्यक्ति करता है और इसी से उसकी दुर्गति होती है।

7. **तपोमद** :— मैं बहुत बड़ा तपस्वी हूँ— तपोमद से प्रेरित मनुष्य को ऐसा अभिमान हो जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

8. **रूपमद** :— अपने शारीरिक सौंदर्य के कारण जो अन्य सबको निकृष्ट समझता है, यह नहीं जानता कि यह शरीर सप्तधातुमय मल का पिण्ड है, वह रूपमद वाला होकर लोकनिंद्य भी होता है और पापबंध करते हुए परभव को बिगाड़ लेता है।

तीन मूढ़तायें हैं— देवमूढता, गुरुमूढता और लोकमूढता। उन्हीं तीन का छः अनायतनरूप में भी कथन किया गया है। शंकादि आठ दोष इसप्रकार से शास्त्रों में बताये गये हैं कि तत्त्वज्ञान में शंका करते मत बैठ जाना। इस तरह से आठ शंकादि दोष हैं। सातों व्यसनों से बचना कोई मज़ाक का काम नहीं है।

धन-कन-कंचन-राजसुख, सबहि सुलभ कर जान।
दुर्लभ है संसार में, एक जथारथ ज्ञान।।

भले ही अपने में सब प्राप्त कर लिया। राज्य, वैभव, चक्रवर्ती, मंत्री, संत्री कुछ भी बाकी नहीं है। ये सारी चीजें प्राप्त करने में सुलभ हैं, मगर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति अत्यंत ही दुर्लभ है। ज्ञान और चारित्र —ये प्रयत्नसाध्य हैं। कोशिश करो तो थोड़ा चारित्र भी पाल सकते हो, थोड़ा ज्ञान प्राप्त कर सकते हो। पर सम्यग्दर्शन बाह्य प्रयत्नों से नहीं मिलता है, वो काललब्धि से प्राप्त किया जा सकता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि पुरुषार्थ छोड़ दें, परंतु बाहरी संयोगों के मिलने से सम्यग्दर्शन होने वाला नहीं है। सम्यग्दर्शन-प्राप्ति के बाद ज्ञान अपने आप सम्यग्ज्ञान कहलाता है और चारित्रभाव भी उसके साथ रहता है।

सम्यग्दर्शन प्राप्ति के बाद श्रावक को 77 गुण प्राप्त होते हैं। गृहस्थों के 5 अणुव्रत, 3 मद्य-मधु-मांस-त्याग —ये 8 गुण होने चाहिए। साधुओं के 28 गुण होते हैं। महापुराण में भी लिखा है— तीर्थंकर भी 8 वर्ष की उम्र होने के बाद सिद्ध भगवान् को याद करके इन 8 गुणों का पालन करते हैं। व्रती हो जाते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव के 12 उत्तरगुण होते हैं। 7 व्यसनों से रहित, 7 भय से रहित, 25 शंकादि-मदादि दोष से रहित और वैराग्य भाव से युक्त होते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव विरक्त होने लगते हैं। राजमहल में रहो, सारे वैभव में रहो, मगर उससे निर्लिप्त रहो, उसमें आसक्ति नहीं होनी चाहिए। कमल कीचड़ में पैदा होने के बाद भी उससे अनासक्ति रखता है। उसे कीचड़ छू भी नहीं सकता है। इसी तरह से गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी उसमें आसक्ति नहीं होनी चाहिए। कमल का अर्थ है— **क** बोले तो पानी, **मल** बोले तो कीचड़। इसप्रकार कीचड़ और पानी में पैदा होता है, उसका नाम **कमल** है। उसका जन्मनाम रखा कि कीचड़ और पानी है, फिर भी वह उनसे निर्लेप रहता है। इसीप्रकार वैराग्यभाव रखना चाहिए। अतिचार-रहित और विघ्न-रहित भक्ति, अर्थात् कुछ भी विघ्न आ जाये, पर भगवान् की भक्ति नहीं छोड़ता हूँ। जाप जपेगा, भक्ति करेगा। ये 44 गुण सम्यग्दृष्टि श्रावक के गुण होते हैं। यहाँ 'श्रावक' शब्द का प्रयोग किया है।

सम्यग्दृष्टि जीव को मोक्षसुख मिलता है। समुद्र से एक सुई डुबोकर उसको जबान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पर रखो, तो भी उस पानी का स्वाद खारा ही होगा। समुद्र के पानी का स्वाद बताने के लिए पूरा समुद्र का पानी पीने की जरूरत नहीं है। एक सूई के बूँदमात्र से समुद्र के पानी के स्वाद का पता चल जाता है, वैसे ही गृहस्थ में रहते हुए भी यदि सिद्ध भगवान् के एक बूँद का अनुभव होने लगता है, तो वो भी पूर्णता का प्रतीक है। जैनधर्म की विशेषता है— एकदेश निर्जरा। आज भी भाव से एकदेश मोक्ष है। कर्मों से आप पूरे मुक्त नहीं हुए, फिर भी अपनी भावना से मुक्त हैं। अपनी भावना से इस काल में भी मोक्ष का अनुभव यहाँ एकदेश से कर सकते हैं। सम्यग्दृष्टि श्रावक एकदेश जिनेन्द्र है।

चिंताबद्धउ सयलु जग, चिंता किणहुँ ण बद्ध।
जे नर चिंता बस करहिं, ते माणस नहिं सिद्ध।।

सारी दुनिया चिंता में डूबी हुई है, चिंता को किसी ने भी बस में नहीं कर पाया है। जो श्रावक चिंता को जितनी देर के लिए वशीभूत करेगा, वो मनुष्य नहीं, वो उतनी देर के लिए सिद्ध भगवान् हैं। सारी चिंताओं से परे होकर जो श्रावक णमोकार मंत्र का जाप करता है, उतनी देर के लिए उसके मन में चिंता नहीं, उसकी जगह सिद्ध भगवान् आकर विराजते हैं। आप 24 घंटे चिंता से घिरे रहते हैं कि— मेरी बेटी की शादी नहीं हो रही है, मेरे बेटे की शादी अभी तक नहीं हुई। थोड़ी देर तो समय निकालकर मंदिर में या घर में बैठकर मन को सब चिंताओं से दूर करके सिद्ध भगवान् का ध्यान करो।

देव-गुरु-समय-भत्ता, संसार-सरीर-भोग-परिचत्ता।
रयणत्तय-संजुत्ता, ते मणुया सिव-सुहं पत्ता।। —(रयणसार, 9)

अर्थ :– (जो मनुष्य) देव, गुरु और शास्त्र के भक्त होते हैं; संसार, शरीर और भोगों के परित्यागी होते हैं और (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप) रत्नत्रय से संयुक्त होते हैं, वे मोक्ष-सुख को प्राप्त करते हैं।

श्रावक वीतराग देव, निर्ग्रंथ-गुरु, सिद्धांत-शास्त्र की भक्ति करता है और संसार के प्रति थोड़ी देर के लिए विरक्ति रखता है— हे भगवन् ! जब तक मैं मंदिर में रहूँगा, मन-वचन-काय तीनों को घर के ध्यान से हटाकर आपके चरणों की तरफ रखूँगा। श्रावक मंदिर की तीन प्रदक्षिणा करते समय ये प्रतिज्ञा करता है। इसके बावजूद लोग कहते हैं कि महाराज ! मंदिर में ध्यान करते समय भी मन घर की ओर जाता है। तो प्रदक्षिणा करने के बाद और ये प्रतिज्ञा करने के बाद भी आपका मन कैसे दुनियादारी का ध्यान करता है? उतनी देर के लिए भी आप मन से उन झमेलों को भुला नहीं सकते? इसीलिए कहते हैं— शरीर भी नाशवान् है। उससे काम लेना है। उसका उपचार करो, खाना-पानी सब दो, लज्जा के लिए कपड़े पहनाओ, कोई बात नहीं, परन्तु ऐसा नहीं कि दिन-रात इसी की सेवा एवं खाने-पीने में लगे रहो, यह कोई म्युनिसिपैलिटी का डिब्बा थोड़े ही है कि कुछ भी उठाओ और डाल दो। कुछ तो इसमें भक्ष्याभक्ष्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
का विवेक रखो। सम्यग्दृष्टि श्रावक भक्ष्याभक्ष्य का विवेक भी रखता हैं। अभक्ष्य पदार्थ को कभी खाता नहीं है।

जो आत्मा रत्नत्रय से संयुक्त है, वही मोक्षसुख को पाता है—

तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता।
निश्चितं स भवेत् भव्यो भाविनिर्वाणभाजनम्।।

जैसे घड़ीवाला, टेलीविज़नवाला, रेडियोवाला, —ये सब गारंटी देते हैं; तो आचार्य भी गारंटी दे रहे हैं कि चाहे भले ही कुछ आचरण किया धरा न हो, पर श्रद्धापूर्वक कान से भगवान् की वाणी—शास्त्र को नित्य सुनते रहे, तो तुम भव्य हो और भविष्य में तुम्हारा मोक्ष अवश्यंभावी है। यही बात अमृतचन्द्र ने भी कही है— मैं मर-मिट जाऊँगा, मगर जितना भी हो सकेगा, मैं शास्त्र पढ़ूँगा और धर्मध्यान प्रतिदिन करूँगा।

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन,
स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम्।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो,
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धिः। —(समयसार कलश, 34)

तुम 6 महीने तक शास्त्र सुन करके और आँख मींचकर भगवान् का ध्यान करके उन गुणों का चिंतन करो, ये शरीर को थोड़ी देर के लिए पड़ोसी समझो। तो तुम्हें भेदविज्ञान की प्राप्ति होगी। संसार की रुचि कम होगी और मोक्षमार्ग की गति प्रतिनित्य बढ़ती रहेगी। जैसे रेलगाड़ी स्टेशन से चलते-चलते धीरे-धीरे गति पकड़ती है।

सम्यक्चारित्र

आचार्य कुन्दकुन्द देव ने म ात्र बाहरी आचरण को मोक्षमार्ग नहीं कहा है बल्कि सम्यक्दर्शन सहित बाह्य आचरण को ही मोक्षमार्ग माना है। इसमें चरणानुयोग में कहे गये देवदर्शन, पूजन, तीर्थयात्रा, स्वाध्याय एवं दान आदि बाह्य निमित्त ही चारित्र शब्द के द्वारा कहे गये जानना चाहिए। तथा जो अंतरंग में निश्चय सम्यक्चारित्र रूप निर्मल परिणाम होते हैं, उनका कथन करणानुयोग के ग्रंथों में सूक्ष्मता से प्राप्त होता है तथा अध्यात्मशास्त्र भी उनके बारे में विशेष व्याख्यान करते हैं।

दाणं पूया सीलं, उववासं बहुविहं पि खवणं पि।
सम्मजुदं मोंक्खसुहं, सम्मविणा दीहसंसारं।। —(रयणसार, 10)

अर्थ :— सम्यक्दर्शन से युक्त दान, पूजा, शील, अनेक प्रकार के उपवास तथा कर्मक्षय के कारणभूत व्रत आदि मोक्षसुख के कारण हैं और सम्यक्दर्शन के बिना ये ही दीर्घसंसार के कारण हैं।

इसमें वर्णित बिन्दुओं का विवेचन शास्त्रों में इसप्रकार मिलता है।

दान— अपने और दूसरे के अनुग्रह के लिए विधिपूर्वक उपार्जित द्रव्य को देना दान कहलाता है। आचार्य उमास्वामी तत्त्वार्थसूत्र में लिखते हैं— **अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो**

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दानं। यह दान चार प्रकार का माना गया है— ज्ञानदान, अभयदान, औषधिदान एवं आहारदान। इसमें ज्ञानदान एवं अभयदान मुख्यतः मुनिराज देते हैं तथा औषधिदान, आहारदान श्रावक करते हैं। कविवर द्यानतराय जी ने कहा भी है—

धनि साधु शास्त्र अभय दिबैया, त्याग राग विरोध को।
बिन दान श्रावक साधु दोनों, लहे नाहीं बोध को।।

तथा कुछ विद्वानों ने बसतिका दान को भी दान कहा है। इन सभी दानों में ज्ञानदान के अलावा अन्य सभी दान सीमितकाल के लिए होते हैं, किन्तु ज्ञानदान भवभवान्तर तक साथ चलता है। क्योंकि ज्ञानदान से आत्मा पर संस्कार पड़ते हैं जो जन्म-जन्मान्तर तक आत्मा का हित करते हैं।

पूजा— पूजा में चार अंग माने गये हैं— पूज्य, पूजाविधि, पूजक और पूजा का फल। इनमें पूज्य तो वीतरागी देव-गुरु-शास्त्र है, तथा जिसमें जीवों को पीड़ा दिये बिना भावों की शुद्धि निहित होती है वही पूजा की श्रेष्ठ विधि है, और पूजक श्रावक भव्यजीव होता है तथा पूजा का फल परम्परा से स्वर्ग एवं अपवर्ग की प्राप्ति माना गया है। कविवर पंडित बनारसी दास जी लिखते हैं— जो भव्य श्रावक द्रव्य और भाव सहित जिनेन्द्र भगवान् की पूजन करता है उसका घर साक्षात् देवलोक के समान हो जाता है, तथा समस्त ऋद्धियाँ और समृद्धियाँ उसके चरणों की सेवा करती हैं।

शील— पंचेन्द्रिय के विषयों की आसक्ति को छोड़कर अपने परिणामों को अच्छे गुणों और कार्यों में एकाग्र करना शील माना गया है। आचार्य कुन्दकुन्द सीलपाहुड में लिखते हैं— **सीलं विसय विरागो** अर्थात् पंचेन्द्रिय के विषयों से विरक्त होना ही शील है। शील के उत्कृष्ट 18 हजार प्रकार भेद शास्त्रों में कहे गये हैं तथा इन सभी का एक साथ पालन एक मात्र आत्मध्यान की अवस्था में ही संभव है। अतः आत्मध्यान को शील की पराकाष्ठा माना गया है।

उपवास— सामान्य प्राणी भोजन न करने को उपवास मानते हैं किन्तु आचार्यों ने लिखा है कि पहले कषायें छोड़ो फिर पंचेन्द्रिय के विषयों का आकर्षण छोड़ो तथा अंत में भोजन छोड़ने का नाम उपवास है। आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्डश्रावकाचार ग्रन्थ में लिखा है– यदि कषाय और विषय नहीं छोड़े गये तो अकेले भोजन छोड़ने को उपवास नहीं, लंघन जानो—

कषायविषयाहारो त्यागो यत्र विधीयते।
उपवासः स विज्ञेयः शेषं लंघनकं विदुः।।

उपवास तीन प्रकार के होते हैं। एक श्वासोच्छ्वास द्वारा 108 बार **णमोकार मंत्र** बोलते हैं, तो एक उपवास का फल मिलता है। उपवास उसको कहते हैं, जो एक ही दिन किया जाता है और दूसरा अनुपवास कहलाता है, इस उपवास में गरम जल लिया और कुछ नहीं। तीसरा उपवास है प्रोषधोपवास –इस उपवास में पहले दिन एक बार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आहार बाकी पूरा दिन निर्जल और फिर दूसरे दिन एकाशन करते हैं। इसतरह से तीन प्रकार के उपवास बताये। और भी हजारों भेद हैं उन उपवासों के। **उप** और **वास** के विच्छेद से इसकी व्युत्पत्ति अमितगति आचार्य ने दी है अर्थात् आत्मा के समीप **वास** निवास करना, रहना ही **उपवास** है। ये जो ऊपर बताया ये बहिरंग उपवास हैं। तथा अंतरंग में करणानुयोग की अपेक्षा से आत्मा में वास करना ये उपवास है। आत्मचिंतन में सम्मिलित रहना —ये उपवास की व्युत्पत्ति अमितगति आचार्य ने दी है। वैसे तो बहुत ही भेद हैं उपवास के और ये सब कर्मक्षय के कारण हैं, इनसे पाप नष्ट होते हैं।

जलेन जनितं पंकं जलेन परिशुद्ध्यते।
चित्तेन जनितं कर्म चित्तेन परिशुद्ध्यते।।

यदि मिट्टी में पानी गिर जाये, तो कीचड़ हो जायेगा और हाथ-पैर में यदि कीचड़ लग जाये, तो पानी से धोने से ही कीचड़ साफ होता है। इसीतरह से मन से पाप उत्पन्न होता है और मन से ही पाप धोया जा सकता है। जब चित्त शुद्ध रखते हैं, तो असंख्य कर्मों की निर्जरा होती है। सम्यग्दर्शन के साथ ये सब क्रिया होती है, तो मोक्ष का सुख है। और सम्यग्दर्शन नहीं है, तो ये सब बाहरी क्रियाकांड हैं, ये दीर्घ अनंत संसार के कारण हैं। इन्द्रियजन्य मोह भाग का कारण है, मोक्ष का कारण ये नहीं हो सकते हैं। मोक्ष का कारण तभी होगा, जब सम्यग्दृष्टि बनेंगे।

श्रद्धा क्या चीज है? एक साधु ने किसी गृहस्थ से पूछा— ये बताइये कि आपको जीवन में कम से कम कितने साधन चाहिए? उन्होंने कहा— हमें कम से कम तीन साधन चाहिए। कौन-कौन से? उन्होंने कहा— शरीर-पोषण के लिए अन्न, परिवार की रक्षा के लिए एक तलवार, और एक भगवान् के प्रति, आत्मा के प्रति श्रद्धा चाहिए। ये ही तीन साधन हमें कम से कम चाहिए। साधु ने पूछा— यदि इसमें से भी किसी एक को छोड़ना पड़े, तो किसको छोड़ना चाहोगे? गृहस्थ बोला— तलवार को छोड़ सकता हूँ पर अन्न और श्रद्धा नहीं छोड़ सकता। फिर उस साधु ने पूछा— यदि इन दोनों में से भी एक को छोड़ना पड़े, तो किसको छोड़ोगे? तो गृहस्थ बोला— अन्न छोड़ दूँगा पर निष्ठा यानी श्रद्धा भगवान् के प्रति या आत्मा के प्रति श्रद्धा नहीं छोडूँगा। क्योंकि अन्न खाते-खाते भी आदमी मरता है; पर सम्यग्दर्शन, निष्ठा अथवा श्रद्धा —ये भवभवांतर तक साथ चलनेवाले हैं; इसलिए श्रद्धा को नहीं छोड़ सकता। इससे स्पष्ट है कि सम्यग्दर्शन के बिना संसार नहीं चल सकता।

श्रावक और मुनि —इन दोनों का कर्त्तव्य क्या है? इस गाथा में दोनों के कर्त्तव्य बता दिया है।

दाणं पूया-मुक्खं, सावयधम्मे ण सावया तेण विणा।
झाणज्झयणं मुक्खं, जदिधम्मे तं विणा तहा सो वि।। –(रयणसार, 11)

अर्थ :– श्रावकधर्म में दान और पूजा मुख्य (कर्त्तव्य) हैं। उसके (दान और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूजा के) बिना श्रावक नहीं होता। मुनिधर्म में ध्यान और अध्ययन मुख्य (कर्त्तव्य) हैं। उस (ध्यान, अध्ययन) के बिना वह मुनिधर्म भी वैसा ही (व्यर्थ) है।

दान और पूजा से हीन श्रावक को सही मायने में श्रावक नहीं कह सकते हैं। श्रावक चार तरह के होते हैं।

नामधारी श्रावक— जैसेकि ये जन्मा हुआ नामधारी जैन है। ये न तो णमोकार मंत्र बोलता है, न मंदिर जाता है, न स्वाध्याय करता है। मात्र जैनकुल में जनम लिया है, इससे जैन कहलाता है।

स्थापनाधारी श्रावक— जैसे कोई कहे कि— ये देखो जो फोटो में दिखाई दे रहे हैं, ये अमुक श्रावक हैं। यह स्थापना श्रावक है।

द्रव्य श्रावक— जो मंदिर जाते हैं, रोज पूजा करते हैं, स्वाध्याय करते हैं। रात में खाना नहीं खाते, पानी छानकर पीते हैं, अभक्ष्य नहीं खाते हैं। —इसतरह के श्रावक को द्रव्य श्रावक कहते हैं।

भाव श्रावक— जिसकी दृष्टि सम्यग्दृष्टि हो, उसे **भाव श्रावक** कहते हैं। जिसके श्रद्धागुण सतत् जागृत अवस्था में रहता है।

तो इनमें से चारों के चारों भी श्रावक नहीं हैं, यदि उनमें दान और पूजा के भाव अथवा गुण नहीं हैं तो। अब प्रश्न उठता है कि दान क्या चीज होती है?

सत्पात्रदानेन भवेत् धनाढ्यो धनं प्रकर्षेण करोति पुण्यम्।
पुण्यादिकारी दिवि देवराज्यं पुनर्धनाढ्यं पुनरेव पुण्यम्।।

जो सत्पात्र होते हैं, उनको दिया हुआ एक मुट्ठी अन्न जो है, वो सत्पात्र दान कहलाता है।

गजतुरगसहस्रं गोकुलं भूमिदानं, कनकरजतपात्रं मेदिनी सागरांता।
उभयकुलपवित्रं कोटिकन्याप्रदानं न भवति समतुल्यं अन्नदानं समानम्।।

इस उपर्युक्त श्लोक में कहा कि आपने एक हजार हाथी दान कर दिये, कोई कौड़ी कीमत नहीं; हज़ारों घोड़े दान कर दिये, कोई कीमत नहीं; लाखों गायें दान कर दी, उसका भी कोई मूल्य नहीं; हजार एकड़ जमीन दान दी अथवा सोने-चाँदी के बर्तन भेंट में दिये, अपार राज्य भी दे दिया, अनेक कन्यादान दे दिये— इनकी उतनी कीमत नहीं; पर एक मुट्ठी अन्नदान सुपात्र को देने का सुमेरु पर्वत के समान फल है।

और कुपात्र को दान देने से क्या होगा?

कुपात्र-दानेन भवेत् दरिद्री दारिद्र्यदोषेन करोति पापम्।
पापादिकारी नरकं प्रयाति पुनर्दरिद्री नरकं प्रयाति।।

जिसने कुपात्र को दान दिया है, दरिद्र होकर जन्मेगा। और उस दरिद्रता को दूर करने के लिए वह नानातरह की हिंसा, मिथ्याभाषण, देवी-देवताओं की निंदा करके पाप करेगा। और पाप करके नरक में जायेगा। इसलिए कुपात्र को दान नहीं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देना चाहिए। दान के बिना श्रावक श्रावक नहीं है। महर्षि वासुपूज्य का **दानशासन** बहुत सुंदर ग्रंथ है। इसमें विस्तार से चारों दानों का बहुत ही सुंदर ढंग से वर्णन है।

ध्यान और अध्ययन साधु का काम है, और कुछ दुनियादारी की बात साधु का काम नहीं है। मैं मंदिर बना रहा हूँ, मैं पंचकल्याणक करा रहा हूँ, मैं रथ चला रहा हूँ —ये सब श्रावकों का काम है। ज्ञान और ध्यान —ये जैनधर्म के मूल सिद्धांत हैं, कोई अल्पज्ञानी है, कोई बहुत ही बड़ा तपस्वी है, अल्पचारित्र और बहुत बड़े विद्वान् हैं, वो भी पूजनीय हैं। बहुत बड़े ज्ञानी और बहुत बड़े तपस्वी हैं, तो उनकी तो देवता बढ़ानेवाले हैं, सिर्फ कोरम पूरा करते हैं। —ये सिद्धांत नरेंद्रसेन आचार्य के **सिद्धान्तसार** ग्रन्थ में है। अपने समाज का इतिहास पढ़ो। बड़े-बड़े घराने के राजा लोग, श्रेष्ठीवर्ग दीक्षा लेते थे। तब तक जैनधर्म की चंद्रलोक तक ख्याति थी और जब इनकी संख्या घट गई, तो श्रीविहीन हो गये।

अब आगे बहिरात्मा का वर्णन करते हैं—

दाणं ण धम्मं ण चागं ण, भोगं ण बहिरप्प जो पयंगो सो।
लोह-कसायग्गि-मुहे, पडिदो मरिदो ण संदेहो।। –(रयणसार, 12)

अर्थ :– जो श्रावक दान नहीं देता, धर्म का पालन नहीं करता, त्याग नहीं करता, न्यायपूर्वक भोग नहीं करता; वह बहिरात्मा है। वह ऐसा पतंगा है, जो लोभकषायरूपी अग्नि के मुख में पड़ा हुआ मर जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

जो मनुष्य न दान करता है, न धर्मध्यान करता है, न भक्ष्याभक्ष्य का विचार करता है, न अपने पूज्यों के वचनों का पालन करता है और मात्र लोभकषाय के कारण संग्रह करता फिरता है; वही बहिरात्मा आदमी है।

जिणपूया मुणिदाणं, करेदि जो देदि सत्तिरूवेण।
सम्मादिट्ठी सावय-धम्मी सो होदि मोंक्ख-मग्ग-रदो।।–(रयणसार, 13)

अर्थ :– जो जिनदेव की पूजा करता है और शक्ति के अनुसार मुनियों को दान देता है, वह सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा श्रावक है। वह मोक्षमार्ग में रत है।

अर्थात् जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करनी चाहिए और अपने शक्ति के अनुसार दान देना चाहिए। कोई कर्ज़ा निकालकर दान देता है, उससे उसे पुण्य नहीं, पाप लगेगा। यानी यथाशक्ति दान देना चाहिए। और न्यास से कमाया हुआ धन ही दान में देना दान कहलाता है, अन्याय से कमाया हुआ धन दान में देने से वो दान नहीं कहलाता, उससे पाप ही लगता है। यह भी याद रखना। अपनी शक्ति के अनुसार दान करो, भक्ति के अनुसार दान दो। भाव पवित्र होने चाहिए, उससे लाभ अधिक है। जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करनी चाहिए और अपने शक्ति के अनुसार दान देना चाहिए।

पूयफलेण तिलोंक्के सुदपुज्जो हवदि सुद्धमणो।
दाणफलेण तिलोए, सारसुहं भुंजदे णियदं।। –(रयणसार, 14)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ :– शुद्ध मन वाला श्रावक पूजा के फल से तीनों लोकों में देवों से भी पूज्य होता है और दान के फल से तीनों लोकों में सारभूत सुख को भोगता है।

जो व्यक्ति शुद्ध मन से पूजा करता है, वह त्रैलोक्य में पूजनीय होता है। एक मेढ़क मुँह में एक फूल पकड़कर ले जा रहा था, हाथी के नीचे आकर दबकर मर गया। जूठन था, चढ़ा भी नहीं सकता था और चढ़ाया भी नहीं, रास्ते में ही मर गया। समवसरण का पथिक एक जीव रास्ते में ही मर गया। फिर भी धर्मध्यान-पूजा का फल उसे मिला। आप आज जल्दी क्यों उठ गये? ऐसा घरवालों के पूछने पर जब आप ये कहते हैं— अरे भई ! मुझे अभी मंदिर जाना है पूजा के लिए। तो उसी वक्त से आपके धर्मध्यान की शुरुआत हो गयी। —यह **भगवती आराधना** में लिखा है। तो यहाँ पर कहते हैं कि ऐसा आदमी त्रिलोक में पूजनीय होगा, देवताओं द्वारा पूजनीय होगा। और दान का फल स्वर्ग का सुख है।

दाणं भोयणमेत्तं, दिण्णदि धण्णो हवेदि सायारो।
पत्तापत्तविसेसं, सद्दंसणे किं वियारेण।। —(रयणसार, 15)

अर्थ :– (यदि) श्रावक (मुनि को) भोजन-मात्र दान देता है, तो वह धन्य हो जाता है। (एक जिन-लिंग को) देखकर पात्रविशेष या अपात्रविशेष का विचार (विकल्प) करने से क्या (लाभ है)?

जब आप अपने दरवाजे पर पड़गाहने के लिए खड़े हैं, तब आपके दरवाजे के सामने कोई भी क्षुल्लक, ऐलक, मुनिमहाराज आये, तो वहाँ कोई परीक्षा वगैरह मत करो। वो परीक्षा की जगह नहीं है। चरणानुयोग की अपेक्षा से सबको आहारदान दो। बाद में बात करो, आहारदान के बाद। वो भूखे हैं, उस समय परीक्षा करने से धर्म की हानि होगी। वे श्रावक धन्य हैं, जो देखते ही मुनिमहाराज को पड़गाहकर यथाशीघ्र आहारदान देते हैं और बाद में यदि कुछ पूछना होता है, तो आहारदान के बाद विनम्रतापूर्वक पूछते हैं। तो इसतरह से आप लोग पूजा और दान के महत्त्व को समझकर यथाशक्ति पूजा और दान करने की प्रवृत्ति मन में रखिए।

शुभ और अशुभ भाव

संसारी जीवों के जब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता है, तब तक अशुभ और शुभ भावों का क्रम निरन्तर चलता रहता है। आगमग्रंथों का निर्देश है कि प्रत्येक अंतमुहूर्त में शुभ और अशुभ भावों का क्रम बदलता ही है। न तो निरन्तर अशुभ-भाव रह सकते हैं और न ही निरन्तर शुभ-भाव तथा इन्हीं शुभाशुभ भावों का नाम ही संसार है। क्योंकि जीव इन्हीं के चक्कर में फँसकर संसार में परिभ्रमण करता है।

असुहादो णिरयाऊ, सुहभावादो दु सग्गसुहमाओ।
दुह-सुहभावं जाणदु, जं ते रुच्चेद तं कुज्जा।। —(रयणसार, 57)

अर्थ :— अशुभ भावों से नरकायु और शुभ भावों से स्वर्ग-सुख और स्वर्गायु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(मिलती है), अतः दुःख-सुख भावों को जानो और तुम्हें जो अच्छा लगे, उसे करो।

आचार्य ने कितनी अच्छी तरह से कहा है कि मेरे कहे कुछ मत करो, मेरे कहने से मात्र शुभ-अशुभ का फल जान लो और फिर जो रुचे, वही करो। और फिर इन दोनों में से जो तुम्हें अच्छा लगे, उसे आप पर ही छोड़ देते हैं कि चुन लो कि शुभभाव रखने हैं कि अशुभभाव रखने हैं, खुद ही तय कर लो। यह नहीं कहा कि शुभभाव ही रखो और अशुभभाव मत रखो। स्वयं अपने परिणामों को अच्छी तरह से जान लो और जो आपको अच्छा लगे, वही भाव स्वयं अपनाओ।

बंधे विषय-कषाय से, छूटे भक्ति विराग,
इनमें जो अच्छा लगे, ताहि मा रग लाग।

अशुभ से नरकादि गति और शुभ से स्वर्गादि गति मिलती है।

अशुभभाव के कारण क्या हैं? अशुभभाव किन-किन कारणों से होते हैं—

हिंसादिसु कोहादिसु, मिच्छाणाणेसु पक्खवादेसु।
मच्छरिदेसु मदेसु दुरहिणिवेसेसु असुह-लेस्सेसु।। —(रयणसार, 58)
विकहादिसु रुद्दट्टज्झाणेसु असुयगेसु दंडेसु।
सल्लेसु गारवेसु य, जो वट्टदि सो असुहभावो सो।। —(रयणसार, 59)

अर्थ:— हिंसादि (पापों), क्रोधादि (कषायों), मिथ्याज्ञान, पक्षपात, मात्सर्य, मदों, दुरभिनिवेशों, अशुभ लेश्याओं, विकथाओं, आर्त्त-रौद्र ध्यानों, ईर्ष्या, असंयमों, शल्यों और मानबड़ाई में जो वर्तन होता है, वह अशुभ-भाव है।

अनादिकाल से इस संसार में मिथ्यादृष्टि जीव को ऐसी आदत पड़ी है कि उसको संसार की ही बातें अच्छी लगती हैं। धर्म की कोई बात अच्छी नहीं लगती। सम्यग्दर्शन के कितने ही गीत गाओ, वे कभी भी मिथ्यादृष्टि के पल्ले पड़नेवाले नहीं हैं। तो ऐसे मिथ्यात्व की एक बार लत लग गयी, तो उसे सम्यग्दर्शन की रुचि नहीं लगती। यदि सम्यग्दर्शन की रुचि लग जाये, तो फिर कहना ही क्या! इस कलियुग में सम्यग्दर्शन इतना आसान नहीं है। अब शुभ भाव का लक्षण बताते हैं :—

दव्वत्थिकाय छप्पण, तच्च-पयत्थेसु सत्त-णवगेसु।
बंधण-मोंक्खे तक्कारणरूवे बारसणुवेंक्खे।। —(रयणसार, 60)
रयणत्तयस्सरूवे अज्जाकम्मे दयादिसद्धम्मे।
इच्चेव माइगे जो, वट्टदि सो होदि सुहभागो।। —(रयणसार, 61)

अर्थ:— छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व, नौ पदार्थ, बंध और मोक्ष, उसके (मोक्ष के) कारणस्वरूप बारह अनुप्रेक्षा रत्नत्रय स्वरूप, आर्यकर्म दया आदि सद्धर्म इत्यादि में जो वर्तन होता है, वह शुभभाव होता है।

हिंसा और क्रोध दोनों घातक हैं। क्रोध में आकर कोई हिंसा कर बैठे, तो तत्काल उसे सजा होती है, लोकनिंदा होती है। फिर कहते हैं— मिथ्याज्ञान में पक्षपातपूर्वक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जानबूझकर किसी के विपरीत झूठी गवाही दे देना, मत्सर करना, और घमंड में आकर दुरभिमान से अशुभकार्य करना, ईर्ष्या करना, असंयम को पालना, माया, मिथ्या और निदान, —ये सभी बहुत ही खतरनाक होते हैं। **निदान** यानी मन में सोचना कि— इसको मारूँगा जरूर, छोड़ूँगा नहीं, चाहे जो हो जाये।

सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र ने **द्रव्यसंग्रह** नामक ग्रन्थ के शुरू में ही लिखा है– हम जब भगवान् को नमस्कार करते हैं, तो **नमः** करते हैं। जैसे लोकव्यवहार में कोई किसी को सोना-चाँदी, हीरे-जवाहरात देता है, तो उसे हाथ जोड़कर नमस्कार करते हैं कि आपने बहुत बड़ा उपकार किया। तो भगवान् को किसलिए नमस्कार करते हैं? उन्होंने आपको क्या दिया? तो आचार्य नेमिचन्द्र जी ने उसका उत्तर दिया—

जीवमजीवं दव्वं जिणवरवसहेण जेण णिद्दिट्ठं।
देविंदविंद-वंदं वंदे तं सव्वदा सिरसा।।

आज तक मैं दुनिया के साथ एकाकार समझ बैठा था। पर भगवान् ने बताया— तुम्हारा आत्मा स्वतंत्र है और इन बाहर के सारे पदार्थों से पृथक् है; —ऐसा भेदज्ञान कराया, इसलिए मैं उनका ये उपकार कैसे भूल सकता हूँ? इसलिए मैं इनको नमस्कार करता हूँ। सज्जन लोग रास्ता बताते हैं, तो उनका उपकार कैसे भूल सकता हूँ?

समस्त पृथ्वीमंडल के छहों द्रव्य स्वतंत्र हैं और हमारा आत्मा भी समस्त पदार्थों से स्वतंत्र सत्ता है और स्वावलंबी है, —ऐसा जिस किसी को भी विश्वास है, वह घर में रहते हुए भी त्यागी है। यदि मोह के वशीभूत होकर मनुष्य सब पदार्थों को एकाकार मानता है, तो बताते हैं कि वह व्रती होने के बाद भी अपने आत्मा की सही पहचान नहीं कर पा रहा है। फलस्वरूप इस दुनिया के जंजाल में ही भटकता रहेगा। तो इस समस्त सत्ता, उनकी स्वतंत्रता एवं छहों द्रव्यों को जानना बहुत जरूरी है।

मैं जन्मने से पहले कहाँ से आया? मेरे आत्मा में कौन-कौन से गुण हैं? किन कारणों से इस पृथ्वी मंडल में क्या प्राप्त करना है? ये सब बाहरी पदार्थ तो साथ आनेवाले नहीं हैं। किस निमित्त से मेरा उद्धार होगा? कान से धर्म के चार शब्द सुनो, इससे असंख्यात कर्मों की निर्जरा होती है। किया-धरा कुछ नहीं, पर श्रद्धा रखी जिनवाणी पर, उसके कुछ शब्द श्रद्धापूर्वक सुने, तो भी उद्धार हो जाता है—

तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता।
निश्चितं स भवेत् भव्यो, भाविनिर्वाण-कारणम्।।

श्रद्धापूर्वक जिनवाणी को सुना; कुछ विशेष किया नहीं, फिर भी उसका कल्याण होना निश्चित है।

समयसार में कहा है— **विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन, स्वयमपि निभृतः सन् पश्य.....**। अरे भव्य प्राणी, भव्य श्रावक ! मेरे कहने से तुम ये गृहस्थी के जो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दुनियादारी के व्यापारों में चौबीसों घंटे फँसे हुए हो, तो थक जाने के बाद कहते हो कि चलो, थोड़ा देर विश्राम कर लेता हूँ। तो चौबीसों घंटे तुम दुनियादारी के पीछे भाग रहे हो, तो यह क्यों नहीं कहते कि मैं इस दुनियादारी के चक्कर में भाग-भागकर थक गया हूँ, अब थोड़ी देर धर्मध्यान करता हूँ। इसकी भी आदत डालो कि— संसार की बातों से मैं थक गया हूँ, अब मैं थोड़ा धर्मध्यान करूँगा, सत्संग, पूजा करूँगा, अभिषेक करूँगा। आपको क्या बताऊँ। श्रद्धा सबसे बड़ी चीज है। **आसन्नभव्या जिनभक्ति-मुख्या:।** जिनेन्द्र भगवान् की जो भक्ति है, णमोकार मंत्र है, स्तुति है, स्तोत्र है, दर्शनपाठ है, कोई भी है उसको श्रद्धापूर्वक पढ़े, वह आसन्नभव्य जीव है। निकट काल में ही संसार के दु:खों से मुक्त होनेवाला है। एक भगवान् के चरणस्पर्श के गंधोदक की एक बूँद भी यदि अपने मस्तक पर श्रद्धापूर्वक लगाता है, तो वह श्रावक भव्य हो जाता है। **मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्राणि संसारमार्ग:। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग:।** दोनों बाते हैं— अँधेरा है, तो प्रकाश है, और प्रकाश है, तो अँधेरा भी है। तो यहाँ कहते हैं कि संसार का कारण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र है और मोक्ष का कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है। इसकी कारणरूप बारह भावनाएँ हैं।

राजा, राणा, छत्रपति, हाथिन के असवार।
मरना सबको एक दिन, अपनी-अपनी बार।।

ये जो बारह भावनाएँ हैं, इसको भाने से वैराग्य का, असार संसार का ज्ञान होता है। थोड़ा-सा भी हृदय को ये भावना छू लेता, तो क्या बात है? सोचो, चौबीसों घंटे में यदि चौबीस सेकंड भी ये बारह भावनाएँ आपके हृदय को छूती हैं, तो कुन्दकुन्द आचार्य ने लिखा है— जितने भी मोक्ष गये, जा रहे हैं अथवा जायेंगे; वे सब बारह भावना भाने से जा रहे हैं और जायेंगे।

कहते हैं कि इसने मुझे धोखा दिया, भाई ने धोखा दिया, बहन ने धोखा दिया, रिश्तेदार ने धोखा दिया, पड़ोसी ने दिया, मेरे दोस्त ने धोखा दे दिया। आचार्य कहते हैं कि ये क्या बातें कर रहे हो। अरे ! आते समय तो ये शरीर ही सिर्फ तुम्हारे साथ आया और कोई साथ आया नहीं और जाते वक्त तो तुम्हें इस शरीर को भी छोड़कर जाना पड़ेगा। आपका शरीर ही आपको अंत में धोखा देगा, इसका तुम्हें तनिक भी ध्यान नहीं है। इसको खिलाया-पिलाया, नहलाया, गहने-आभूषण, लिपस्टिक आदि क्या-क्या चीजों से सजाया, फिर भी ये धोखा देगा —इसकी बात तो नहीं करते और जो दूर हैं, उनकी धोखा देने की बात करते हैं। जब आपका शरीर ही आपको धोखा दे रहा है, तो दूसरों की बात ही क्या है।

ज्ञान का कोई अन्त नहीं है। बारह भावनाएँ करीब-करीब सभी भाषाओं में हैं— कन्नड़ में, तमिल में, मराठी में, हिन्दी में, संस्कृत में, प्राकृत में, अपभ्रंश में इन सब भाषाओं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में हैं। ये बारह भावनाएँ बहुत ही वैज्ञानिक हैं, इन बारह भावनाओं में द्वादशांग का सार भरा हुआ है। यदि मन लगाकर उसको पढ़ें, तो निश्चित ही आप मोक्षमार्गी हैं।

रत्नत्रय का स्वरूप कहते हैं। **आर्य और म्लेच्छ** —ऐसे दो वर्ग समाज में किये गये हैं। तो कहते हैं— जिसने रत्नत्रय को (यानि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) प्राप्त कर लिया है, वे आर्य हैं। एक बात बताऊँ, आदमी की बुद्धि मोटी है। अमृतचंद्र आचार्य से लोगों ने कहा— भगवन् ! द्वादशांग तो हमारे मस्तिष्क में घुसनेवाला नहीं है, हम तो गृहस्थ आदमी हैं, इसलिए कि दान का क्या भाव, नमक का क्या भाव, कपड़े का क्या भाव है, यही सब दिमाग में घुसता है, आपकी बातें घुसनेवाली नहीं हैं। हमें दो पंक्तियों में जैनधर्म की बातें बताइये। तो उन्होंने दो पंक्तियों में जैनधर्म बताया—

आत्मा प्रभावनीयः रत्नत्रय-तेजसा सततमेव।
दान-तपो-जिनपूजा विद्यातिशयैश्च जिनधर्मः।।

रत्नत्रय से आत्मा को उज्ज्वल करते चले जाओ। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को भूलो नहीं, उनके गुणों को हमेशा याद करते चलो। दान, तप, जिनपूजा इन सब क्रियाओं को करते रहो, इनको भूलो नहीं, इनको हमेशा ही याद रखो जिसके आत्मा में रत्नत्रय है, उसको मोक्षपद मिलता है। दया विशुद्ध मन से होनी चाहिए। कहा भी है—

दया धर्म का मूल है, मन में शुद्ध विचार।
दीन-हीन का दुःख हरै, बनकर परम उदार।।

संसार में जो शुद्धभाव से दयाधर्म द्वारा आचरण करता है, ये सब शुभभाव हैं; शुभभाव ही नहीं प्रशस्तभाव है। प्रशस्त परिणाम है, यानि ये परिणाम भी अच्छी गति में ले जाकर कालांतर से, परंपरा से मोक्षदायी होता है। परंपरा क्या चीज है? जैसे दो आदमी हस्तिनापुर के लिए निकले, तो एक ने कहा— चलो, मैं भी आ रहा हूँ। तो उसमें से एक तो सीधा हस्तिनापुर पहुँच गया। दूसरा रास्ते में आनेवाले सभी तीर्थ के दर्शन करते हुए रुकते हुए फिर जाकर हस्तिनापुर पहुँचा। तो इसी तरह से कोई स्वर्ग गये, सर्वार्थसिद्धि गये, और फिर बाद में मोक्ष गये। और कोई सीधे चले गये। तो ये दो परम्परा अपने यहाँ मानी गयी है। जो भगवान् जिनेन्द्र की स्तुति करता है, पूजापाठ करता है, वह परम्परा से मोक्ष को जाता है। जो बड़ी-बड़ी तपस्या-ध्यान करके जाता है, वो तद्भव में यानी उसी भव में ही मोक्ष को जाता है। परम्परा से उसको कहा— दो-चार भव देने के बाद उसको मोक्ष की प्राप्ति होती है। सम्यग्दर्शन के बिना मुक्ति होनेवाली नहीं। वीतराग जिनेन्द्र भगवान्, सिद्धान्त-शास्त्र इन्हीं से कल्याण होनेवाला है और किसी से होने वाला नहीं है। लकड़ी से बनी नाव से नदी पार कर लेते हैं। तो संसार सागर भी एक सागर है, इसे पार करने के लिए जिनेन्द्र भगवान् की वाणी जो सिद्धान्त साधन है, वही एक साधन है, और दूसरा साधन नहीं है।

सम्मत्तगुणाइ सुगदि, मिच्छादो होदि दुग्गदी णियमा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इदि जाण किमिह बहुणा, जं रुच्चदि तं कुज्जाहो।। —(रयणसार, 62)

अर्थ :— सम्यक्त्वगुण से नियम से सुगति और मिथ्यात्व से दुर्गति होती है— यह जान लो। यहाँ अधिक कहने से क्या लाभ है? जो तुझे अच्छा लगे, वह करो।

निश्चय से सद्गति तथा अज्ञानता एवं मिथ्यादर्शन से दुर्गति की प्राप्ति होती है। कितना कहूँ, हम कह-कहकर थक गये, इसलिए आपको जो रुचिकर लगे, वो करो, हमने तो आपको दोनों के परिणामों के बारे में बता दिया है।

कर्मों का कर्त्ता कौन?

संसारावस्था में द्रव्यकर्म के उदय में भावकर्म और भावकर्म के निमित्त से द्रव्यकर्म के बंध की परम्परा कही जाती है। किन्तु यदि द्रव्यकर्म के उदय में भावकर्म का होना अनिवार्य हो, तो फिर कभी भी कोई जीव पुरुषार्थ करके मोक्ष नहीं जा सकता। अतः आचार्यों ने यही निर्णय दिया कि अपने अज्ञानमय भाव के कारण जीव कर्मोदय का निमित्त पाकर राग-द्वेष-मोह आदि भावकर्मों को करता है। और इन भावकर्मों के निमित्त से आगामी द्रव्यकर्मों का बंध भी होता है। किन्तु इस कर्मबंध की परम्परा का मूलकारण जीव का अज्ञान और मोहरूप परिणाम भी है। ऐसे मोहयुक्त परिणाम के तीन रूप आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार ग्रन्थ के कर्त्ता-कर्म-अधिकार में बताये हैं।

मिथ्यादृष्टि जीव को आत्महित की बात उसी तरह अच्छी नहीं लगती, जैसेकि मलेरिया के रोगी को मिठाई भी कड़वी लगती है। जबकि उसे कड़वी नीम की पत्तियाँ मीठी प्रतीत होती हैं। यही स्थिति मिथ्यादृष्टि जीव की है। मिथ्यात्व के प्रभाव से उसे आत्महित की चर्चा नहीं सुहाती है।

मिथ्यादृष्टि जीव को आतमहित न सुहाय।
कै ऊँघे, कै लड़ मरे, कै उठ घर को जाय।।

मिथ्यादृष्टि जीव को यदि आत्महित की चर्चा भी सुनने को मिल जाये तो वह उसे बिल्कुल भी अच्छी नहीं लगती है। या तो वह उस चर्चा के समय प्रमादयुक्त होकर ऊँघता हुआ किसी प्रकार समय व्यतीत करता है, अथवा आत्महित की चर्चा करनेवाले से व्यर्थ का वाद-विवाद करके झगड़ा करने लगता है; और यदि ये दोनों ही स्थितियाँ नहीं बन पाती हैं, तो वह उठ करके घर चला जाता है। निष्कर्ष यह है कि मिथ्यात्व के प्रभाव के कारण उसे अपने हित की चर्चा पसन्द नहीं आती है। जैसे— पीलिया के रोगी को सारी वस्तुएँ पीली दिखाई देती हैं। ऐसे ही मिथ्यादृष्टि जीव को संसार के समस्त पदार्थ इष्ट या अनिष्ट प्रतीत होते हैं। और इसीकारण वह उनमें राग-द्वेष करता हुआ कर्मबंध करता रहता है।

भगवती आराधना ग्रन्थ में मिथ्यादृष्टि जीव को धर्म-चर्चा सुनाने के प्रभाव के बारे में बहुत सुन्दर दृष्टांत दिया गया है। वहाँ आचार्य लिखते हैं— जैसे कोई महावत हाथी को नदी में ले जाकर खूब अच्छी तरह से नहलाकर साफ-सुथरा करता है, किन्तु वह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हाथी बाहर आते ही अपने शरीर के ऊपर धूल-मिट्टी डालकर उस नहलाने को व्यर्थ सिद्ध कर देता है। उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि जीव शास्त्र-चर्चा सुनकर भी अपने आत्मस्वरूप की रुचि नहीं करता और कषायभाव की गन्दगी से अपने परिणामों को मलिन करता रहता है। इसीलिए आचार्यों ने मिथ्यात्व को सबसे बड़ा पाप और सबसे बड़ा अधर्म बताया है। जबकि सम्यग्दृष्टि जीव अपनी पाप-प्रकृतियों को भी आत्मानुभव के प्रताप से पुण्य-प्रकृतियों में संक्रमित कर देता है, जैसेकि— नींबू खट्टा होते हुए भी चीनी की शिकंजी में उसकी खटास बदल जाती है, और वह रुचिकर पेय बन जाता है। सम्यग्दृष्टि जीव सांसारिक कार्यों में संलग्न रहते हुए भी एक-क्षण मात्र को भी आत्मतत्त्व को विस्मृत नहीं करता है, जैसे कोई बच्चा अपने साथियों के साथ खेल में मग्न होकर भी अपनी माँ को नहीं भूलता है, और उसका ध्यान माँ की ओर लगा रहता है, ज्यों ही माँ उठकर जाना चाहती है; वह तुरन्त खेल छोड़कर माँ के साथ चल देता है। ऐसे ही सम्यग्दृष्टि जीव आत्मतत्त्व को ओझल नहीं होने देता है।

सिनेमा का पर्दा साफ सफेद होने पर भी उस पर अनेक प्रकार के रंग-बिरंगे चित्र दिखाई देते हैं, ऐसी रंग-बिरंगी स्थिति में भी वह पर्दा मलिन नहीं हुआ है, वह श्वेत ही है। ऐसा विश्वास समझदार लोगों को रहता है। नहीं तो एक दृश्य दिखाने के बाद उन्हें पर्दा धोने की चिन्ता हो जाये। इसीप्रकार मिथ्यात्व, अविरति और अज्ञान के भाव होने के बाद भी आत्मा का ज्ञान-स्वभाव नष्ट नहीं हुआ, ऐसा विश्वास ज्ञानी जीव को हमेशा बना रहता है। इसलिए ज्ञान जीव राग-द्वेषादि का कर्त्ता नहीं बनता, अपितु अपने ज्ञान-स्वभाव का ही कर्त्ता रहता है।

जो ज्ञानी होता है, वह अपने अन्दर कर्तृत्वभाव के दुरभिमान को जगाता नहीं है, कि मेरे बिना राज्य नहीं चलेगा। मैं ही इस देश को चला सकता हूँ —इसतरह से नाना तरह के मिथ्यात्व दुनिया में हैं। कहाँ अयोध्या में राम थे! जैसे ही दशरथ ने कहा— हम भरत को राज्य देना चाहते हैं, वैसे ही वल्कल धारण किया और वन की ओर चल दिये। तो लक्ष्मण ने रोक दिया। पूछा— क्या बात है? राम बोले— पिताजी ने भरत को अयोध्या का राज्य दिया है और मुझे दंडकारण्य का इसलिए मैं दंडकारण्य जा रहा हूँ। इस पर लक्ष्मण बोले— भइया, आप भोले हैं, आप जिस दंडकारण्य का राज्य समझ रहे हैं वह वनवास है। मेरे गले में धनुष है आप कहीं मत जाइए। आप चलिए सिंहासन पर बैठिए, देखता हूँ कि कौन आपको रोकता है? इस पर राम बोले, लक्ष्मण! पिताजी मुझे वनवास भेज रहे हैं, ऐसा तुम अपने मुँह से कह रहे हो, यह पिताजी का बहुत बड़ा अपमान है और तुम धनुष उठाकर उसके बल पर मुझे सिंहासन पर बैठाना चाह रहे हो, तो क्या तुम पिताजी के खिलाफ धनुष उठाना चाहते हो? दूसरी बात, क्या यह सिंहासन शाश्वत है? लक्ष्मण बोले— भाई! ये तो शाश्वत नहीं है। इस पर राम बोले— भाई, जो शाश्वत नहीं, उसके लिए हमें धनुष नहीं उठाना है, धनुष पीछे करो। जो हमारे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जीवन के अंतिम क्षण तक शाश्वत है, हमें उसके बारे में चिंतन करना है। कहने का तात्पर्य जो अज्ञानी जीव है, वही कर्तृत्त्वभाव का दुरभिमान करता है। जो पररूप को अपनेरूप करता है और अपने को पररूप कर लेता है, ये अज्ञानी जीव की पहिचान है। और ज्ञानी जीव होता है, वह पररूप को अपने रूप नहीं करता, अपनेरूप को अपने स्वभाव को, जो ज्ञानोपयोग है, दर्शनोपयोग है और मेरा आत्मा-परमात्मा के समान शुद्ध है। आपको कर्तृत्व के दुरभिमान को छोड़कर इस दुनिया के अंदर इतने पृथ्वी-मंडल के अंदर जितने प्राणी पशु, पक्षी हैं, सब किसी बात को लेकर यदि अपने अंदर कर्तृत्वभाव जगाते हैं; तो यह मिथ्यात्व है, इसलिए 'समयसार' में अकर्तृत्त्वभाव का निर्माण किया और अंत में सारे के सारे संसार के दार्शनिकों को कहना ही पड़ा कि भइया कर्तृत्वभाव से हटकर ही रहो।

ज्ञानचेतना का क्रमिक विकास

जीव की तीन प्रकार की चेतना बताई गयी हैं— कर्मफल चेतना, कर्मचेतना और ज्ञानचेतना। इनमें से समस्त संसारी जीव कर्मफलचेतना और कर्मचेतना को भोगते हैं। जो जीव संसार को नष्ट करने के लिए मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ करते हैं, वे ज्ञानचेतना के बल से ही करते हैं। संसार दुःखमय है और मिथ्यात्व, राग-द्वेषादि के परिणाम दुःख के कारण हैं— ऐसी अनुभूति जीव को ज्ञानचेतना के कारण ही होती है। ज्ञानचेतना के बल से ही अनंत संसार का कारण अनादिकालीन मिथ्यात्व भी नष्ट होता है।

जिस ज्ञानचेतना की इतनी महिमा गायी गई है उसकी शुरुआत चौथे गुणस्थान में होती है तथा सिद्ध दशा में जाकर उसकी पूर्णता होती है। ऐसी ज्ञानचेतना वाले जीव यदि वीतराग भगवान् की छत्र-चमर आदि बहिरंग वैभव के आधार पर स्तुति करते हैं तो भी यह समझना चाहिए कि उनकी दृष्टि मात्र बहिरंग पर ही नहीं है। वे छद्मस्थता के प्रभाव से ऐसा कथन कर रहे हैं।

भक्तामर स्तोत्र में आचार्य मानतुंग ने एक पंक्ति कही है—

बालं विहाय जल-संस्थितमिन्दुबिम्ब-
मन्य: क: इच्छति जन: सहसा ग्रहीतुम्।।

जैसे पानी में दिखाई पड़ने वाले चन्द्रमा के बिम्ब को अज्ञानी बालक ही पकड़ना चाहता है, क्योंकि वह प्रतिबिम्ब को ही असली चन्द्रमा समझ बैठा है। इसीप्रकार सामान्य संसारी जीव अज्ञान के कारण छत्र-चमर आदि विभूति में भगवान् की महिमा आँकते हैं। जबकि ज्ञानी जीव ऐसी मोहजनक बातों की अपेक्षा वीतरागता और सर्वज्ञता से भगवान् की महिमा करते हैं। वस्तुतः सांसारिक पदार्थों में रुचि का कारण मोहनीय कर्म है तथा ज्ञानचेतना वाले जीव मोह को जीत लेते हैं।

जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं।
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति।। —(समयसार, 32)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ :– जो (साधु) मोह को जीतकर ज्ञानस्वभाव से अधिक (शुद्धज्ञानचेतना गुण से परिपूर्ण) आत्मा को जानता है (अनुभव करता है), उस साधु को परमार्थ के जानने वाले पूर्वाचार्य मोहविजेता कहते हैं।

महावीराष्टक में मोहकर्म को आतंकवादी कहा गया है। वहाँ कविवर भागचन्द्र जी लिखते हैं— **महामोहातंक**........

इसी मोह के प्रभाव से जीव अपने ज्ञानस्वभाव को भूलकर इन्द्रिय-विषयों में मग्न रहता है, तथा मोह को जीतकर ही जितेन्द्रिय हो पाता है। **क्षीणमोह** नामक बारहवें गुणस्थान में ही पूर्ण वीतराग बनने पर मोह का आतंक समाप्त होता है। यह भी एक सुखद संयोग है कि पहले पूर्ण वीतरागता बारहवें गुणस्थान में प्रकट हो जाती है, तब तेरहवें गुणस्थान में सर्वज्ञता प्रकट होती है। अन्यथा मोह के प्रभाव से यह जीव सर्वज्ञता का दुरुपयोग करने से भी नहीं चूकता।

जैनदर्शन में धर्म परावलम्बन से नहीं होता। धर्म के लिए स्वावलंबन और स्वतंत्रता ये दो मूल मंत्र जैनधर्म में माने गये हैं। जैसे नदी पार करने के लिए नाव में बैठते हैं, किन्तु दूसरे किनारे पर पहुँचने पर नाव का आलम्बन भी छोड़ना पड़ता है। इसीप्रकार संसार से हटकर आत्मा में स्थित होना है, तो समस्त परपदार्थ यहाँ तक कि शास्त्र-मंदिर और धर्मोपदेशक गुरु का विकल्प भी छोड़कर अपने आत्मा का निर्विकल्प ध्यान करना पड़ेगा।

कोई व्यक्ति यदि बंद कमरे में अकेला बैठ जाये, तब भी यदि पर का विकल्प उससे नहीं छूटा है, तो वह आत्मा का ध्यान नहीं कर सकता है। तथा पर का विकल्प होने का मूलकारण मोहकर्म है। इसीलिए मोह को जीतने का और ज्ञानस्वभावी आत्मा का आलंबन लेने का उपदेश आचार्य कुन्दकुन्द ने इस गाथा में दिया है।

कोई कहे कि शास्त्रों में तो आता है कि संसार अवस्था में जीव के साथ कर्म इसीप्रकार मिले हुए हैं, जैसे दूध में पानी; तब हमें मात्र ज्ञानस्वभावी आत्मा का अनुभव कैसे हो सकता है? —इसका उत्तर है कि जैसे फिटकरी डालते ही दूध अलग और पानी अलग हो जाता है अथवा आजकल मशीन में डालने मात्र से दूध और पानी अलग-अलग हो जाते हैं। उसीप्रकार भेदविज्ञान की प्रक्रिया के द्वारा द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से भिन्न ज्ञानस्वभावी आत्मा का अनुभव किया जा सकता है और इसके लिए एकमात्र अनिवार्य तत्त्व है— स्वावलंबन और स्वतंत्रता। परावलंबी जब तक रहेंगे, तब तक ध्यान-साधना नहीं हो सकती है।

जैसे किसी व्यक्ति को लकवा मार जाये और वह असहाय बनकर खटिया पर पड़ा हो, तो वह बहुत दुःखी होता है और कहता है— मैं क्या करूँ? मैं तो हर बात के लिए परावलंबी हो गया हूँ, क्योंकि मुझे दूसरों से सेवा करानी पड़ रही है। यह परावलंबन की भावना उसके मन को कुंठित कर देती है। इसीलिए प्रफुल्लित मन से मोक्षमार्ग की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साधना करने के लिए स्वावलंबन और स्वतंत्रता का मूलमंत्र जैनाचार्यों ने दिया है। यद्यपि प्रारंभिक धर्मध्यान के लिए मंत्र एवं आसन आदि के आलंबन की बात जैनशास्त्रों में भी आई है; परन्तु साधक जीव के लिए इनका भी आलंबन छोड़कर पूर्ण स्वावलंबी होने की प्रेरणा कुन्दकुन्दादि आचार्यों ने दी है। वे स्पष्ट कहते हैं कि किसी भी पर के आश्रय से मोक्ष होने वाला नहीं है, अतः मोक्षमार्ग का संबंध न तो किसी परपदार्थ से है, न ही गृहस्थलिंग या साधु के चिह्न से है। वे लिखते हैं—

पासंडिय लिंगाणि व गिहिलिंगाणि व बहुप्पयाराणि।
घेंत्तुं वदंति मूढा लिंगमिणं मोंक्खमग्गो त्ति।। –(समयसार, 408)

अर्थ :– अनेक प्रकार के साधु-वेष और गृहस्थ-वेष धारण करके अज्ञानी जन यह कहते हैं कि वेष ही मोक्ष का मार्ग है; किन्तु द्रव्यलिंग मोक्ष का मार्ग नहीं हैं; क्योंकि अरिहन्तदेव देह से ममत्वहीन हुए (बाह्य) लिंग को छोड़कर दर्शन, ज्ञान, चारित्र का सेवन करते हैं।

इसमें स्पष्ट कह दिया है कि जो बाहरी लिंग को मोक्षमार्ग मानता है, वह मूढ अर्थात् अज्ञानी है। क्योंकि आत्मा न स्त्री है, न पुरुष है, न श्रावक है, न साधु है। धर्म के जितने भी बाहरी चिह्न हैं, जैसे कि तिलक लगाना, या धोती-दुपट्टे पहनना आदि —इनसे किसी से भी मोक्षमार्ग की गारंटी नहीं है। ये सभी उपाधियाँ हैं तथा आधि-व्याधि और उपाधि —ये तीनों ही संसार के ही कारण हैं, मोक्ष के कारण नहीं। इसीलिए अमृतचंद्राचार्य को लिखना पड़ा— **न लिंगं मोक्षकारणम्।**

आचार्य पद के धारी महापुरुष यदि सल्लेखना लेते हैं, तो वे छह माह पूर्व से ही आचार्य पद छोड़ देते हैं। यदि आचार्य पद के साथ उनकी मृत्यु होती है, तो उपाधि साथ रहने के कारण उस सल्लेखना को **भगवती आराधना** में दोषपूर्ण बताया गया है।

एक बार उज्जैन में विद्वानों के सम्मेलन में कोई कहने लगा— समयसार गृहस्थों के पढ़ने का धर्मग्रंथ नहीं है; तब मैंने बताया कि आचार्य कुन्दकुन्द ने तो स्पष्ट लिखा है— समयसार पढ़ने के लिए गृहस्थ और श्रावक का कोई भेद नहीं किया गया है। तब वे बोले— हमें तो ऐसा किसी ने नहीं बताया; उनकी इस बात पर मैंने कहा— आपने तो लोगों की बातों में आकर इसे पढ़ा ही नहीं। यदि पढ़ते तो स्पष्ट जान जाते। उपाधियों की स्थिति तो छिलके की तरह है, जैसे छिलका उतारने के बाद मूँगफली का सेवन किया जाये, तो उसकी मिठास का अनुभव होता है; इसीप्रकार बाह्य उपाधियों की चिंता छोड़कर ज्ञानस्वभावी आत्मा का ध्यान किया जाये तभी अतीन्द्रिय आनंद की अनुभूति होती है। पर की चिंता छोड़कर जब स्वयं में लीन होते हैं, तभी सच्चा ध्यान होता है। जिसे 'मोक्ष का कारण' कहा गया है— **एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्।**

पर की चिन्ता का निरोध किये बिना आत्मकल्याण संभव नहीं है। चिन्ता बहुत खतरनाक चीज है; क्योंकि ज्ञानियों ने कहा है कि चिता तो मुर्दे को जलाती है, किन्तु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चिन्ता जीवित व्यक्ति को ही जला देती है। तथा पर की चिन्ता ज्ञानस्वभावी आत्मा का आश्रय लेने पर ही मिट सकती है। अतः ज्ञानचेतना प्रकट कर मोह को जीतने की प्रेरणा आचार्य कुन्दकुन्द ने इस समयसार ग्रन्थ में दी है। समयसार को आप जरूर पढ़ें, क्योंकि जिसने समयसार को नहीं पढ़ा, समझा; वह अज्ञानी और मूढ़ व्यक्ति है। उसका मोह कभी दूर नहीं हो सकता है। समयसार के द्वारा ही चैतन्यस्वभावी आत्मा की महिमा जगाकर ज्ञानचेतना को प्रकट कर मोह को जीता जा सकता है।

ज्ञान ही त्याग है

अज्ञानी के गुरु बनने की अपेक्षा ज्ञानी का शिष्य बनना अधिक श्रेयस्कर है। अज्ञानी का गुरु बनने के झगड़े में कभी नहीं पड़ना चाहिए, क्योंकि चार अज्ञानी मिलकर यदि आपको अपना गुरु बना भी लें, तो उनके अज्ञान के कारण कलह ही उत्पन्न होगी, तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होने वाली नहीं है। उन सबको तो **ये पर हैं** — ऐसा जानकर छोड़ देना चाहिए, तभी आत्मध्यान सम्भव होगा।

सव्वे भावे जम्हा पच्चक्खादि परे त्ति णादूण।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेदव्वं।। —(समयसार, 34)

अर्थ :— यति सब भावों को पर हैं यह जानकर त्याग देता है। इस कारण प्रत्याख्यान ज्ञान ही हैं, ऐसा निश्चय से (मननपूर्वक) जानना चाहिए।

जिसने सभी परभावों को 'ये पर हैं', ऐसा जान लिया है (उसके वे परभाव स्वतः ही छूट जाते हैं), इसीलिए नियम से ज्ञान को ही प्रत्याख्यान (त्याग) कहा गया है।

आचार्य अमृतचन्द्रदेव लिखते हैं— **मंतव्यः ज्ञातव्यः**। अर्थात् पहले मनन करो और फिर जानो। यदि बिना मनन, चिंतन किये सामान्य रूप से जान भी लिया तो वह ज्ञान आपकी निधि नहीं बन पायेगा। सम्यग्ज्ञान का कार्य चौकीदार की तरह होता है। जैसे सतर्क चौकीदार कभी भी किसी अवांछित तत्त्व को भीतर नहीं घुसने देता है, उसीप्रकार सम्यग्ज्ञान के प्रभाव से विभावभाव आत्मा में प्रवेश नहीं कर पाते हैं। वह बुरे विचारों को आने से रोकता है। जैसेकि आँधी-तूफान आता है तो हम घर की खिड़कियाँ-दरवाज़े बंद कर लेते हैं; नहीं तो ढेर सारी धूल-मिट्टी घर में भर जाती है। इसीप्रकार सम्यग्ज्ञान के द्वारा दुष्कर्मों के आस्रव को रोका जाता है। फिर भी यदि थोड़े-बहुत कर्म आ जाते हैं, तो उन्हें सम्यक्चारित्ररूपी झाड़ू से बुहारकर दूर कर दिया जाता है। अतः वस्तुतः ज्ञान ही कर्मों के निवारण का सार्थक तरीका है।

यहाँ पर ज्ञान को त्याग कहने का यह अभिप्राय है कि जैसे नाव में छेद हो जाये, तो उससे भीतर आने वाले पानी को रोकने का उपाय किये बिना नाव को भरने से नहीं बचाया जा सकता है; उसीप्रकार कर्मास्रव का कारण पर के प्रति एकत्व-ममत्व के भाव को पररूप जाने बिना आत्मा में कर्मों के आस्रव को नहीं रोका जा सकता है। शास्त्रों में इसीलिए सम्यग्ज्ञान को संवर और त्याग —दोनों कहा गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य कहते हैं— **ज्ञानात् त्यागः**। अर्थात् जो भी त्याग होता है वह ज्ञान से ही होता है, यथार्थ ज्ञान किये बिना अहितकारी का त्याग कभी भी संभव नहीं है।

मातAएँ-बहनें चावल बीनती हैं, तो उनमें से जो चावलरूप नहीं हैं, ऐसे कंकड़ आदि को चावल से भिन्न रूप जानते ही उन्हें निकालकर अलग कर देती हैं। वस्तुतः ज्ञान का ऐसा ही स्वभाव है। यदि चावल और कंकड़ का भेदज्ञान न हो तथा दोनों को एक साथ मिलाकर खिलाया जाये, तो खाने वाले बच्चे के दाँत टूट सकते हैं। इसीप्रकार अहितकारी भावों को अहितकारी जानने मात्र से उनका त्याग ज्ञानीजन कर ही देते हैं। यदि ऐसा न हो तो वे भाव निश्चित रूप से आत्मा का अहित करेंगे। कोई व्यक्ति आपकी दुकान में घुसकर कुछ नुकसान कर दे, तो उसे उपद्रवी जानकर क्या आप दुबारा अपनी दुकान में घुसने देंगे? कदापि नहीं। यदि ऐसा करने दें तो आपका वह ज्ञान निरर्थक कहलायेगा। यदि वह जबरन दुबारा आपकी दुकान में आना चाहता है, तो आप उससे स्पष्ट कह देते हैं कि भाई ! अब आप आगे से मेरी दुकान में मत आना, अन्यथा मुझे चौकीदार से निकलवाना पड़ेगा। इसीप्रकार सम्यग्ज्ञान संवरतत्त्वरूपी चौकीदार के द्वारा दुष्कर्मों के आस्रव का निरोध करता है। किसी पिता का कोई बेटा अपने पिता की आज्ञा नहीं मानता है, तो उसका पिता उसे गुस्से में आकर कहता है— तूं इसी समय मेरे यहाँ से चला जा, तू मेरा बेटा नहीं है। यदि कोई कहे कि यह तो तुम्हारा ही बेटा है, फिर तुम इसे अपना बेटा क्यों नहीं कहते हो? तो वह पिता स्पष्ट करता है कि जब यह मेरी आज्ञा में नहीं रहता है तो फिर मैं इसे अपना बेटा कैसे कह सकता हूँ? इसीप्रकार जो मिथ्याज्ञान आत्मस्वभाव की मर्यादा में नहीं रहता है, ज्ञानी जीव उसे अपना नहीं मानते और पर समझकर उसका त्याग करते हैं। लोक में भी विवेकीजन ऐसा कहते हैं कि पहले चोरों के घर में घुसने का रास्ता बंद करना चाहिए, तभी घर के भीतर होने वाली हानि रुक सकेगी। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन को दृढ़ रखने का कारण है, इतनी सावधानी के बाद भी कोई भूल हो जाती है, तो उसके लिए प्रतिक्रमण का विधान है। जैसे आते-जाते सावधानी रखने पर भी यदि किसी को आपका पैर लग जाता है, तो आप भाईसाहब क्षमा कर देना, कहकर अपनी भूल को सुधार लेते हैं। सावधानी रखने के बाद भी अज्ञान और किंचित् प्रमाद से होने वाले दोषों को प्रतिक्रमण के द्वारा ज्ञानीजन सुधार लेते हैं। अपने उपयोग को नित्य सावधान रखने के लिए ज्ञानीजीव प्रतिदिन वीतराग परमात्मा की पूजन, स्वाध्याय आदि करते हैं। ऐसे कार्यों को आचार्य पूज्यपाद ने **सर्वार्थसिद्धि** तथा आचार्य अकलंकदेव ने **राजवार्तिक** ग्रन्थ में **सम्यक्त्ववर्धिनी क्रिया** कहा है।

जब तक सत्य का बोध नहीं है, तब तक दूसरों के प्रति दुर्भाव रहता है, तथा सत्य का बोध होते ही सारे दुर्भाव निकल जाते हैं। इसीप्रकार सम्यग्ज्ञान के होते ही समस्त विभाव-भाव छूट जाते हैं। ज्ञानदान की बहुत महिमा शास्त्रों में गायी गई

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। शास्त्रों में इसे कल्पवृक्ष एवं चिंतामणि रत्न के समान उपकारक माना गया है। संस्कृत के एक श्लोक में आता है— **किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या।**

ज्ञान से कल्पवृक्ष के समान सभी मनोरथों की पूर्ति होती है। आज विश्व में जितनी भी प्रगति हो रही है, वह ज्ञान का ही परिणाम है किन्तु यदि शिक्षा के साथ नैतिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान भी मिले, तो सच्चा चरित्रनिर्माण होता है, राष्ट्र को सच्चरित्र गुणी नागरिक मिलते हैं; जो अपने ज्ञान का उपयोग कभी भी बुरी बातों में नहीं करते हैं। अतः ज्ञान को निर्दोष एवं सदाचारपूर्वक बनाये रखने के लिए नैतिक एवं आध्यात्मिक शिक्षा का बहुत बड़ा महत्त्व है। **ज्ञानेन हीनः पशुभिः समानः।** ज्ञान से विहीन मनुष्य पशु के समान है। क्योंकि हाथ-पैर, नाक-कान तो पशु के भी होते हैं, देखना, चलना-फिरना, खाना-पीना आदि क्रियाएँ पशु भी कर लेते हैं; यदि मनुष्य भी मात्र यहीं तक सीमित रहता है, तो उसमें और पशु में क्या अंतर रहा? विशेष ज्ञान, संस्कार और सदाचार के कारण ही तो मनुष्य पशुओं से श्रेष्ठ कहा जाता है। इसीलिए देश की आजादी के बाद शिक्षा के प्रसार पर बहुत जोर दिया गया। इस काम में जैन समाज ने भी बहुत योगदान दिया है। उसने भी गाँव-गाँव, शहर-शहर में अनेक विद्यालय, महाविद्यालय आदि खोलकर शिक्षा के प्रसार में महती राष्ट्रसेवा निःस्वार्थभाव से की है। ज्ञान की जीवन में बहुत बड़ी महिमा है।

यदि आप किसी पर उपकार नहीं करते तो मत करो; परन्तु अपकार मत करना। किसी के रास्ते में गुलाब की पंखुडियाँ नहीं डाल सकते, कोई बात नहीं, काँटे मत बिछाना। किसी के सिर पर पट्टी नहीं बाँध सकते, तो लाठी मत मारना। किसी को अमृत नहीं पिला सकते, तो ज़हर मत पिलाना। आप धर्मात्मा हैं, जरा समझो। धनंजय कवि के पास कुछ भी नहीं था। पर अपने ज्ञान के बल से उसने ऊपर आये संकट को दूर कर दिया, नहीं तो उस गरीब को जेल हो जाती, हथकड़ी पड़ जाती, सजा हो जाती। क्या बात है ! जिस धारा नगरी में भक्तामर के प्रभाव से 48 ताले टूटे, उस प्रदेश के अन्दर इस तरह से महान् कवि ने उपकार कर दिया। आप कर सकते हैं, तो उपकार करो, अपकार मत करो। अपकार के जैसा दुनिया में पाप नहीं है।

चतुर्थ गुणस्थानवाला सम्यग्दृष्टि जीव एकदेश भगवान् जिनेन्द्र है। इतना ही नहीं सासादन नामक दूसरे गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक **एकदेशजिन** कहलाता है। एक मिथ्यात्ववाला छोड़कर। फिर कहते हैं— **सप्तप्रकृति-क्षीणकृत-एकदेशजिना सद्दृष्ट्या श्रावकाः।** चौथे गुणस्थानवाला श्रावक एकदेशजिनेन्द्र कहलाता है, जो सात प्रकृतियों को उपशम करता है, क्षय करता है। पाप और पुण्य, शुभ और अशुभ कब आकर भिड़ जाए, इसका कोई ठिकाना नहीं। श्रावकलोग, गृहस्थलोग जब तक अध्यात्म के छहढाला, तत्त्वार्थसूत्र, रत्नकरण्ड-श्रावकाचार, द्रव्यसंग्रह आदि आध्यात्मिक धर्मग्रन्थों का स्वाध्याय नहीं करेंगे, पढ़ेंगे नहीं, तब तक हमारे साधु भी आदर्श नहीं हो सकेंगे। उनमें भीं ज्ञान बढ़ाना है, तो श्रावकों को भी ज्ञानी होना जरूरी है। ❖❖

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समय-सौन्दर्य

अनिल कुमार जैन

सत्य-शील-संयम-तप साधित, मन-वच-तन से भिन्न सार है।
राग-रंग और भेदभाव के, पार सर्व स्व-समयसार है।
परसंबंध सर्व विरहित यह, प्रज्ञ प्रभामण्डल से शोभित।
परमतत्त्व परमागम भाषित, स्वयं देव यह समयसार है।।
चित्रविचित्रावलि विधि रचना, चिन्मय स्वच्छ सदा अस्पर्शी।
स्वानुभूति से दर्शित निर्मल, शुद्ध सुखामृत हृदयाकर्षी।।
देख स्वयं सौन्दर्य समय का, अन्तर्घट चिन्मय का उपवन।
उमड़ रहे हैं मेघ वृष्टि को, हो वर्षा तब समयसार है।।
छाये रहें विभाव मृषा घट, छू न सके चैतन्य दिवाकर।
शुद्ध विलक्षण पुनीत-पावन, एक सुखद गुणगण रत्नाकर।।
चेतन का सर्वस्व ज्ञानमय, ज्ञानधातु से रचित स्वयंभू।
ज्ञान श्वास-प्रश्वास यही, जीवन धारामय समयसार है।।
विविध विधाएँ विविध दृष्टियाँ, आत्मदेव को निरख रही हैं।
एक अभेद अखण्ड निरामय, सुधा-सरित यह समयसार है।।
सत्य अर्थ की अहं भावना, और प्रकाशन इसी तत्त्व का।
रमण निरंतर अविचल थिरता, स्वानुभूति ही समयसार है।। ❖❖

चिन्तन

फटिक मणि-सी निर्मल स्वच्छ। अहो ! चेतना दिखी प्रत्यक्ष।।
पर चेतन में कैसी झाँई?। दिखती है किसकी परछाँई?।।
क्या यह मेरा शुद्ध स्वरूप?। अथवा किसी और का रूप?।।
पुण्य-पाप की दिखती ज्वाला?। या दिखता है ज्ञान उजाला?।।
मैं ज्ञायक हूँ शुद्ध स्वरूप। कैसा मोह महा विद्रूप?।।
कभी देखता हूँ अपने को। या फिर मोहमयी सपने को?।।
चाहे जो भी दिखे वहाँ। पर मैं उस-मय हुआ कहाँ?।।
मैं तो ज्ञान प्रकाश स्वरूप। जाननहार ज्ञान का रूप।।
मैं ही ज्ञाता मैं ही ज्ञेय। मैं गुणमयी अनन्त अमेय।।
अपने में ही करूँ विराम। 'मैं' से भी अब लूँ विश्राम।।

-अभयकुमार शास्त्री ●●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वैदिक व श्रमण साहित्य में न्यास

✍ आचार्य विद्यानन्द मुनि

'न्यास' पद की निष्पत्ति और निरुक्ति :

न्यस्यते, न्यसनं वा न्यासः। नि उपसर्गपूर्वक 'असु' धातु से घञ्-प्रत्यय करने पर 'न्यास' शब्द की निष्पत्ति होती है। 'असु' धातु दो गणों में पठित है, अतः इसके अनेक अर्थ हैं। दिवादि-गणपठित 'असु' धातु का अर्थ है— प्रक्षेपण, अर्थात् फेंकना, छोड़ना, त्याग करना, निशाना लगाना आदि। भ्वादिगण-पठित 'असु' (उभयपदी) धातु के अर्थ हैं— गति, दीप्ति और आदान, अर्थात् जाना, लेना, चमकाना, प्रकाशित होना आदि। जब यह 'असु' धातु 'नि' उपसर्ग के साथ प्रयुक्त होती है, तब इसके विशिष्ट अर्थ भी अभिव्यक्त होते हैं। जैसे— सौंपना, सिपुर्द करना, (सुरक्षित) स्थापित करना, सँभाल कर रखना, त्यागना, फेंकना, आरोपित करना आदि। घञ्-प्रत्यय अनेक अर्थों में होता है— भाव तथा कर्तृभिन्न कारक। इस प्रत्यय को उक्त अर्थों में विधान करने वाले दो सूत्र हैं— (1) भावे[1] तथा (2) अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्[2]।

भाव अर्थ में घञ् प्रत्यय मानने पर 'न्यास' पद के अर्थ होंगे— त्यागना, फेंकना, सौंपना, धरोहर के रूप में रखना, (सुरक्षा व सदुपयोग की दृष्टि से, या प्रयोजन-विशेष से, व्यक्ति-विशेष या व्यक्तिसमूह की देखरेख में, सीमित या असीमित समय के लिए) धरोहर रख छोड़ना[3], आरोपित करना आदि। किन्तु कर्तृभिन्न कारक अर्थों में घञ् मानने पर विविध अर्थों की अभिव्यक्ति सम्भावित है। जैसे, जिसके द्वारा, या जिस साधन से, या जिसके लिए, या जिस स्थान-विशेष आदि में त्यागने, फेंकने, धरोहर रखने आदि की प्रक्रिया सम्पन्न होती है, वह (व्यक्ति, साधन या स्थान, इनमें से कोई भी) 'न्यास' कहा जा सकता है।[4]

संस्कृत कोषों में प्राप्त 'न्यास' शब्द के अर्थ

'न्यास' शब्द के विविध अर्थों को संस्कृत कोषकारों ने सार रूप में इन निम्नलिखित रूपों में समाहित किया है :—

(1) रखना, स्थापित करना, आरोपण करना

(2) चिह्न, छाप, ठप्पा आदि, जो किसी वस्तु पर अंकित किया जाता है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(3) जमा करना, संगृहीत करना
(4) धरोहर, अमानत
(5) सौंपना, वचनबद्ध होना, सिपुर्द करना[5]
(6) चित्रित करना, लिखकर रखना
(7) छोड़ना, उत्सर्ग करना, त्यागना, तिलांजलि देना
(8) सम्मुख रखना, घटाना
(9) खोदकर निकालना, (पंजों आदि से) पकड़ना।[6]

विविध अर्थों में 'न्यास' शब्द का प्रयोग

वैयाकरण शब्द-निष्पत्ति के अनुरूप, 'न्यास' शब्द लौकिक व्यवहार में तथा भारतीय साहित्य में विविध अर्थों में प्रयुक्त हुआ दृष्टिगोचर होता है। जैसे :–

(1) गीता में 'त्याग' अर्थ में न्यास शब्द प्रयुक्त है– 'काम्याणां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदु:।'[7] सम्-उपसर्ग के साथ प्रयुक्त 'न्यास' शब्द अर्थात् 'संन्यास' शब्द समस्त लौकिक अभिलाषाओं का त्याग कर शास्त्रोचित जीवनचर्या अपनाने के अर्थ में स्पष्ट प्रयुक्त है ही। 'न्यस्तचिह्न' का अर्थ है– चिह्नों से मुक्त, अर्थात् धार्मिक दृष्टि से धारण किये जाने वाले चिह्नों को छोड़ देने वाला।[8]

(2) लोक व्यवहार में 'न्यास' का अर्थ धरोहर के रूप में रखी संपत्ति भी होता है[9], और वह संस्था या ट्रस्ट भी होता है, जिसके सदस्यों (ट्रस्टियों) की देखरेख में कोई चल-अचल सम्पत्ति सुरक्षित कर रख दी जाती है।

(3) महाभाष्य आदि ग्रन्थों में किसी अर्थ-विशेष की प्रस्तुति या प्रतिष्ठापना या अर्थयोजना के लिए स्वीकृत व्यवस्था-विशेष के अर्थ में 'न्यास' शब्द प्रयुक्त हुआ दृष्टिगोचर होता है।[10]

(4) न्यास का अर्थ 'स्थापना' भी है। जैसे महाकवि कालिदास ने 'खुरन्यास'[11] शब्द का प्रयोग किया है जिसका अर्थ है– (पाँव के) खुरों को जमीन या घास आदि पर स्थापित करना, रखना। पादन्यास, चरणन्यास शब्द भी इसी भाव को अभिव्यक्त करते हैं। इसी तरह, 'चित्रन्यास' व 'चित्रन्यस्त' शब्द का अर्थ है– चित्र रूप में किसी पदार्थ को स्थापित या प्रतिष्ठित या चित्रित करना और चित्र में उपस्थापित (चित्रित) वस्तु।[12] 'विन्यास' का अर्थ है– क्रमपूर्वक रखना या एकत्रित ग्रन्थ-रचना या अक्षर उत्कीर्ण करना।[13] 'केशविन्यास' शब्द केशों की साज-सज्जा को संकेतित करता है। इसी प्रसंग में 'उपन्यास' शब्द भी उल्लेखनीय है। उपन्यास का अर्थ है– विस्तृत विषयवस्तु के निरूपण में, (उप=यानी) निकटतया, अर्थात् सर्वप्रथम प्रस्तावना या भूमिका के रूप में उपस्थापना या प्रस्तुति, अतः प्रस्तावना, भूमिका, विषय-संकेत, सारप्रस्तुति या प्रस्ताव आदि अर्थों को 'उपन्यास' शब्द स्वयं में सन्निहित किये हुए है।[14]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(5) वैदिक और श्रमण-प्रतिष्ठा पूजासम्बन्धी कृत्यों में 'अगन्यास' शब्द बहुप्रचलित है, जिसका अर्थ है– शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों में भिन्न-भिन्न दैवी शक्तियों का आरोपण कर, उन दैवी शक्तियों का उन-उन अंगों में ध्यान।[15] यहाँ 'न्यास' शब्द 'आरोपण' करने अर्थ को प्रमुखतया अभिव्यक्त कर रहा है।

व्याकरणशास्त्र की विशिष्ट व्याख्यापद्धति 'न्यास'

संस्कृत व्याकरण की परम्परा में 'न्यास' नामान्त कई व्याख्याग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, उदाहरणार्थ– काशिकान्यास, शब्दार्णवन्यास, शिष्यालोक न्यास, बालबोधिनीन्यास, महान्यास आदि। 'न्यास' संज्ञक व्याख्याग्रन्थों की महत्ता को संकेतित करने वाला एक प्रसिद्ध पद्य माघ कवि-कृत शिशुपालवध महाकाव्य में प्राप्त होता है:–

अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना।
शब्दविद्येव नो भाति, राजनीतिरपस्पशा।।[16]

इस पद्य में आलंकारिक रीति से राजनीति को शब्दविद्या अर्थात् व्याकरणशास्त्र के समान बताया गया है। शब्दविद्या 'अनुत्सूत्रपदन्यासा' होती है, अर्थात् वह ऐसे 'न्यास' नामक व्याख्याग्रन्थों से युक्त होती है, जिनमें मूल सूत्र के पदों का उल्लंघन नहीं किया जाता, तात्पर्यतः वह सूत्रानुसारिणी न्यासात्मक व्याख्या से युक्त होती है। दूसरी तरफ राजनीति भी अनुत्सूत्रपदन्यासा होती है, अर्थात् उसमें शास्त्रविरुद्ध 'पद-न्यास' चलना-आचरण नहीं देखा जाता।[17] संक्षेप में महाकवि माघ ने 'राजनीति' की अनाचार-रहितता व सदाचार-संगति के निरूपण के प्रसंग से व्याकरण शास्त्र की परम्परा में 'न्यास' संज्ञक व्याख्या ग्रन्थों की महत्ता को भी रेखांकित किया है। माघ कवि का समय लगभग 7-8वीं ई. शती माना जाता है, अतः उनके समय तक न्यास ग्रन्थों को व्याकरण-परम्परा में पर्याप्त सम्मान व प्रतिष्ठा प्राप्त हो गई थी– ऐसा सिद्ध होता है।

वस्तुतः 'न्यास' एक विशिष्ट व्याख्या-पद्धति का वाचक है। 'भण्डारकर प्राच्य विद्या शोध संस्थान', पूना में उपलब्ध 'शिष्यहितान्यास' (कातन्त्र व्याख्या पर, आचार्य उग्रभूति भट्ट द्वारा रचित व्याख्या-ग्रन्थ) की पाण्डुलिपि पर उल्लिखित एक पद्य में 'न्यास' की शैली की विशेषताओं को निम्नलिखित रूप में निर्दिष्ट किया गया है–

लेशोपदेशनिर्देश-विभागज्ञापकेष्टयः।
निपातो गणसूत्रं चेत्यष्टाङ्गं न्यासलक्षणम्।।

अर्थात् लेश, उपदेश, निर्देश, विभाग, ज्ञापक, इष्टि, निपात और गणसूत्र इन आठ अंगों से युक्त 'न्यास' ग्रन्थ होता है। लेश आदि पदों से क्या अभिप्रेत होता है, उसे 'ए डिक्शनरी ऑफ संस्कृत ग्रामर' के आधार पर निरूपित किया जा रहा है :–

(1) लेश :– अकार से युक्त य् एवं व् का अस्पष्ट उच्चारण एवं अपूर्ण उच्चारण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिसे कि पाणिनि के अनुसार लघु उच्चारण कहते हैं। अर्थात् इन दोनों वर्णों का उच्चारण इस प्रकार किया जाता है कि इन दोनों वर्णों में अकार का सहयोग समाप्तप्राय है। इस तरह की सूक्ष्म भाषाशास्त्र-सम्बन्धी जानकारी, तद्विषयक चर्चा एवं महत्त्वपूर्ण नियमादि का स्पष्टीकरण या निर्देश 'न्यास' ग्रन्थ की विशेषता होती है।

(2) **उपदेश** :– तत्तच्छास्त्रों के तत्तद्विषय के प्रामाणिक आचार्यों द्वारा किया गया 'आदि प्रवचन' ही 'उपदेश' कहलाता है। यथा– उपदेश आद्योच्चारणम् (सिद्धान्त कौमुदी, संज्ञाप्रकरण)। इस विषय से सम्बन्धित अपेक्षित स्पष्टीकरण भी 'न्यास' में किया जाता है।

(3) **निर्देश** :– किसी भी विषय के बारे में किसी आचार्य द्वारा दिया गया साधिकार वक्तव्य ही निर्देश कहलाता है। 'न्यास' में विशिष्ट आचार्यों के मन्तव्यों का भी निर्देश प्राप्त होता है।

(4) **विभाग** :– किसी सूत्र अथवा वाक्य को उसके सार्थक अवयवों में विभक्त करना ही विभाग कहलाता है। उस विभाग से विशिष्ट प्रयोजन की सिद्धि की जाती है। यदि किसी सूत्र आदि का कोई ऐसा योग-विभाग किया गया हो तो उसका भी निर्देश 'न्यास' में होता है।

(5) **ज्ञापक** :– व्याकरण शास्त्र में सूत्र एवं परिभाषा के प्रयोजन-सम्बन्धी विचार के समय, जिन सूत्रों एवं परिभाषाओं के अन्तर्गत किसी पद के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से नहीं, अपितु अप्रत्यक्ष रूप से जिस विशिष्ट नियम के अस्तित्व के बारे में संकेत मिलता है, वह वस्तु ज्ञापक सिद्ध कहलाती है। न्यास ग्रन्थ में उक्त नियमों का तथा वे किस प्रकार ज्ञापित होते हैं, इसका भी निर्देश प्राप्त होता है।

(6) **इष्टि** :– सूत्रों के द्वारा असंगृहीत अर्थ को भी उपलक्षण द्वारा प्रकट किया जाना 'इष्टि' का द्योतक है। अभीप्सितार्थ की सिद्धि के लिए ही ऐसा किया जाता है। इसके द्योतक "एवं वक्तव्यक", "एवमिष्यते", "एवं व्याख्यातव्यम्" आदि वाक्य होते हैं। 'न्यास' ग्रन्थ में, अध्येता की ज्ञान वृद्धि की दृष्टि से उक्त 'इष्टि' का भी निर्देश होता है।

(7) **निपात** :– निपात शब्द यद्यपि यास्क द्वारा शब्द के भेद के रूप में स्वीकार किया गया है, परन्तु व्याकरणशास्त्र में इसका अतिरिक्त अर्थ भी स्वीकार किया जाता है। जिसके द्वारा लक्षण- असाध्य प्रयोगों की तत्तदर्थ-विशेष में साधुता स्वीकार कर ली जाती है।[18] अर्थात् निपातरूप में व्यवहृत शब्दों का भी निरूपण 'न्यास' ग्रन्थ की विशेषता होती है।

(8) **गण सूत्र** :– सूत्र के अन्तर्गत किसी 'गण' का निर्देश किया रहता है तथा वह गण अपने में निहित बहुत से शब्दों का प्रतिनिधित्व करता है। इस तरह एक गण के अन्तर्गत प्रयोगसिद्धि की दृष्टि से निर्दिष्ट सीमित पदावली को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गणपाठ कहते हैं। तथा उस गणवाची सूत्र का निर्देश करने वाले को 'गणसूत्र' कहते हैं। जैसे 'सर्वादीनि सर्वनामानि।'[19] यह एक सूत्र है जिसमें सर्वादिगण का उल्लेख है। यह सर्वादि शब्द व्याकरण शास्त्र में प्रयोग की दृष्टि से सर्व, विश्व, उभ, उभय, डतर, डतम आदि शब्दों का ग्राहक है। ऐसे अनेक सूत्र हैं जिनमें विशेष गणपाठ में पठित शब्द उपादेय होते हैं। सूत्र में मात्र 'गण' का नाम-निर्देश ही कर दिया जाता है। अध्येता की सुविधा हेतु व्याख्याकार के लिए यह आवश्यक होता है कि सूत्रोक्त गण-पाठ को पृथक् रूप में निर्दिष्ट करें। 'न्यास' ग्रन्थ में उक्त आवश्यकता को ध्यान में रखकर, गणपाठों का निर्देश किया जाता है।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार इन आठों प्रकार की नियमविधाओं का उल्लेख जिस व्याख्या प्रणाली में किया जाता हो उस व्याख्या-प्रणाली को 'न्यास' कहा जाना उपयुक्त है।

जैन परम्परा में 'न्यास' का विशिष्ट अर्थ

समस्त लोक-व्यवहार भाषा या वचन-प्रयोग पर आधारित हुआ करता है। वचन-प्रयोग शब्दों पर आधारित होता है और ये शब्द नाम, आख्यात (क्रिया), उपसर्ग व निपात– इन चार वर्गों में से किसी एक से सम्बद्ध होते हैं। इन शब्दों में विशिष्ट अर्थ सन्निहित होते हैं। इनमें 'नाम' (संज्ञा या भाववाचक) शब्दों का विशिष्ट स्थान है। प्रत्येक शब्द का अपना एक विशिष्ट अर्थ होता है, जो प्रकृति-प्रत्ययार्थ पर आधारित या रूढ़ि-परम्परागत होता है। अर्थ का शब्द के साथ वायक-वाचक सम्बन्ध होता है। जैसे, 'राजा' शब्द का (निरुक्तिगत) अर्थ है– नेतृत्व-ऐश्वर्य-शक्तिसम्पन्न व्यक्ति। अतः राजा शब्द नेतृत्व आदिगुणसम्पन्न व्यक्ति अर्थ को अभिहित करता है, या उस अर्थ का बोध कराने में वक्ता द्वारा प्रयुक्त होता है। किन्तु सूक्ष्मता से देखा जाए तो कभी-कभी व्यवहार में 'राजा' शब्द नेतृत्व आदि गुणहीन व्यक्ति अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, जैसे 'राजा' नामवाले व्यक्ति को भी 'राजा' कहा जाता है, राजा की मूर्ति को भी 'राजा' कह कर व्यवहार किया जाता है। यह जो शब्द का अपने मूल-विशिष्ट अर्थ तथा उसे भिन्न अर्थों में प्रयोग हुआ करता है, इस पर जैन आचार्यों ने चिन्तन किया है और इसके स्पष्टीकरण हेतु, वैज्ञानिक या भाषाशास्त्रीय नियमों का निरूपण किया है। ये नियम 'न्यास' या 'निक्षेप' या 'स्थापना' के नाम से जैन शास्त्रों में जाने जाते हैं।[20]

'न्यास' या 'निक्षेप' की चतुर्विधता

प्रत्येक (नाम-संज्ञावाचक) शब्दों का प्रयोग लोक-व्यवहार में अनेक विविध अर्थों का बोध कराने हेतु किया गया दृष्टिगोचर होता है। एक ही शब्द का विभिन्न अर्थों में प्रतिष्ठित होना, वहाँ अध्यारोपित या सम्बन्धित या नियोजित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होना अथवा (शब्दबोध्य) अर्थ–विशेष का विविध वस्तुविशेषों में प्रतिष्ठित, अध्यारोपित, या नियोजित हो जाना यही 'न्यास' या 'निक्षेप' है।[21] इस 'न्यास' से जुड़े हुए बोध्य पदार्थ भी न्यासों में वर्गीकृत होकर जाने जाते हैं। यद्यपि ऐसे 'न्यास' रूप पदार्थों की संख्या अनन्त है, किन्तु उन्हें सम्भावित चार रूपों में वर्गीकृत किया गया है[22]– (1) नाम, (2) स्थापना, (3) द्रव्य और भाव[23]। व्यवहार में इन चारों का अस्तित्व दृष्टिगोचर होता है, अतः किसी एक को भी निकाला नहीं जा सकता। किसी एक को भी निकाल देने से 'समग्र व्यवहार' का निदर्शन नहीं कराया जा सकता।[24]

(1) **नाम-न्यासः**— गुणविशेष से रहित वस्तु में, व्यवहार की सुविधा हेतु, स्वेच्छापूर्वक तद्गुणवाचक 'संज्ञा' रख देना (उक्त गुणविशेष के वाचक शब्द द्वारा पुकारने लगना) नाम-न्यास है।[25] जैसे, एक नौकर का नाम 'राजा' रख देना 'नामन्यास' है और वह नौकर 'नाम-राजा' है। चूँकि उस नौकर में राजा वाले कोई भी गुण नहीं हैं, फिर भी, उसमें गुणों का आरोप या उनका औपचारिक रूप से आक्षेप (निक्षेप) कर दिया जाता है।[26] वैदिक ग्रन्थों में भी इस निक्षेप का व्यावहारिक दृष्टान्त में प्रयोग देखा जाता है। जैसे मनुस्मृति का कथन है– "जो विप्र अध्ययनशील (या ज्ञानवान्) नहीं है, वह तो नाम मात्र का विप्र (ब्राह्मण) है।"[27]

(2) **स्थापना-निक्षेप** :— काष्ठ, पुस्तक, मूर्ति, चित्र या पासे-मोहरे आदि पदार्थों को भी अभिधेय वस्तु के आकार से समानता रखते हैं या नहीं भी रखते, अभिधेय वस्तु रूप में व्यवहृत करना यह स्थापना-न्यास है।[28] जैसे, राजा के चित्र को, उसकी मूर्ति को 'राजा' कहना यह 'स्थापना-न्यास' है, और वह मूर्ति 'स्थापना राजा' कही जाएगी।

(3) **द्रव्य-निक्षेप** :— वर्तमान में गुण-विशेषों, पर्याय/अवस्था विशेषों के न होने पर भी, पूर्व में या भविष्य में उक्त गुण-विशेषों के निर्देशक शब्दों से व्यवहृत करना जैसे, भूतपूर्व राजा को, या भविष्य में राजा बनने वाले को 'राजा' कहना यह 'द्रव्य न्यास'[29] है, और वह व्यक्ति 'द्रव्य राजा' है।

(4) **भाव-निक्षेप** :— वर्तमान में गुणविशेषों या पर्यायविशेषों को प्राप्त कर रहे पदार्थ को उन गुणविशेषों व पर्यायविशेषों का संकेत करने वाले शब्दों से अभिहित करना, जैसे वर्तमान में 'राजा' पद पर समासीन व्यक्ति को राजा कहना, यह 'भावनिक्षेप' है[30] और वह व्यक्ति 'भाव राजा' कहा जाएगा।

चारों न्यासों में अर्थक्रिया

यहाँ यह शंका उठाई गई है कि 'भाव न्यास' में तो अभिधेय व्यक्ति नेतृत्व-ऐश्वर्य-शक्ति सम्पन्नता के साथ अर्थक्रिया करता है, किन्तु अन्य न्यासों में उस रूप में अर्थक्रिया नहीं देखी जाती, अर्थात् नाम का राजा या राजा की मूर्ति शत्रु-नाशादि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रूप अर्थक्रिया नहीं करते, अतः अर्थक्रिया के अभाव में नाम-न्यास आदि वस्तु की किसी विशेष रूप में अर्थक्रिया जरूरी नहीं, अपितु कोई न कोई सामान्य अर्थक्रिया जरूरी है। नाम राजा या स्थापना राजा में भी कोई न कोई अर्थ क्रिया तो होती ही है, भले ही वह नेतृत्व-ऐश्वर्यादिसम्पन्न रूप में न हो।[31]

नाम आदि निक्षेपों में 'न्यास' शब्द की सार्थकता

नि पूर्वक असु धातु से भाव में या कर्म आदि अर्थों में घञ् प्रत्यय करने पर 'न्यास' शब्द निष्पन्न होता है। इसके अर्थ हैं- धरोहर रखना, प्रक्षेपण, प्रतिष्ठित-प्रतिष्ठापित करना आदि, तथा धरोहर रूप में रखे गए, प्रक्षिप्त, प्रतिष्ठित किये गये अर्थ-विशेष।[32] जैसे कोई निधि का स्वामी अपनी निधि को, अपने विविध (अभीष्ट अर्थों-प्रयोजनों की सिद्धि के उद्देश्य से, पृथक्-पृथक् रूप में धरोहर के रूप में प्रतिष्ठित-प्रतिष्ठापित कर देता है ताकि उस निधि (के पृथक्-पृथक् भागों) का अभीष्ट प्रयोजनों में सदुपयोग हो सके, उसी तरह 'राजा' आदिशब्दार्थ, नामधारी राजा, मूर्तिस्थित राजा, भावी या भूत राजा तथा वास्तविक राजा —इन चारों में प्रतिष्ठापित कर दिया जाता है,[33] फलस्वरूप वे पदार्थ 'राजा' शब्द से अभिहित होते हैं।

इसी तरह, जैसे गन्धोदक जैसे पवित्र जल को किसी सामान्य जल के पात्र में निक्षिप्त कर दें तो पात्र का वह जल भी गन्धोदक के रूप में व्यवहृत हो जाता है, वैसे ही, राजा-शब्दार्थ (विशेषकर नाम, स्थापना व द्रव्य न्यासों में) राजकीय गुणरहित वस्तुओं में भी निक्षिप्त होकर, औपचारिक सत्त्व के कारण उन वस्तुओं से जुड़ जाता है, नियोजित हो जाता है[34] और फलस्वरूप व्यवहार में वे पदार्थ 'राजा' नाम से अभिहित कर दिए जाते हैं। लोकव्यवहार को देखकर, एक शब्द कितने पृथक्-पृथक् अर्थों में प्रयुक्त होता है, या हो सकता है, उन-उन अर्थों की प्रकल्पना 'न्यास' विधि का अंग है।[35]

'न्यास' की महती उपयोगिता

उपर्युक्त न्यास-विधि के माध्यम से जीव आदि पदों के विविध व्यापक अर्थों में प्रयोगों की जानकारी प्राप्त होती है अतः तत्त्वज्ञान की दृष्टि से 'न्यास' विधि का महत्त्व सुस्पष्ट है। इसलिए जैन शास्त्रों में कहा गया कि जीवादि पदार्थों को जानने का उपाय 'न्यास' है,[36] और 'न्यास' विधि से जाने गए पदार्थों को ही प्रमाण व नय-विशेष रूप से या विस्तार बोध कराते हैं।[37]

जब प्रयोजन-विशेष या परिस्थितिविशेष में, एक ही शब्द नाम आदि चार पृथक्-पृथक् अर्थों को अभिहित कर सकता है, तब अमुक शब्द प्रकृत में किस निक्षेप के अधीन प्रयुक्त है– इसका स्पष्टीकरण न हो तो व्यवहार में अनेक प्रकार की भ्रान्ति या व्यभिचार अर्थात् अनिष्ट अर्थ का ग्रहण सम्भव है। अतः प्रकृत अर्थ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का बोध तथा अप्रकृत अर्थ का निराकरण करना– यह न्यास-विधि का उद्देश्य या प्रयोजन है, उसकी यह सार्थकता व उपयोगिता है।[38] अर्थात् संशय, विपरीत ज्ञान या अनध्यवसाय (अनिर्णय) की स्थिति से हटाकर निश्चय या सम्यग्ज्ञान में व्यक्ति को प्रतिष्ठित करना यह भी 'निक्षेप' विधि की उपयोगिता है।[39]

निष्कर्ष यह है कि शब्द के अर्थ में भ्रान्ति न हो और वक्ता (व शास्त्र) आदि के अभिप्राय को ठीक से समझा जा सके– इस दृष्टि से 'न्यास' विधि की परम उपयोगिता है, न्यास विधि से शब्द के विविध अर्थों में सम्भावित प्रयोगों को जान कर, **प्रकृत में अभिप्रेत अर्थ का निर्णय करना न्यासविधि के ज्ञान से सम्भव है।** अन्यथा अर्थ-निर्णय में भ्रान्ति हो सकती है और अनुपयुक्त-अनिष्ट अर्थ भी ग्रहण किया जा सकता है। आचार्य अकलंक ने इसी उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए, प्रस्तावना में कहा है– "व्यवहार में निक्षेप-ज्ञान के अभाव से अनुचित अर्थ का ग्रहण करने से व्यभिचार-दोष (अनिष्ट अर्थ-सेवन) की सम्भावना है, उसकी निवृत्ति हेतु न्यास विधि का निरूपण किया जा रहा है।"[40]

नाम आदि न्यासों की 'जिन' व जैन पद में संगति

किसी व्यक्ति का 'जिन' या 'जिनेन्द्र' नाम रख दिया गया है, तो वह जीव 'नाम जिन' है। जिनेन्द्र की प्रतिमा को 'स्थापना-जिन' कहा जाएगा। जो जीव भविष्य में तीर्थंकर या जिनेश्वर स्वरूप को प्राप्त करने वाले हैं, वे 'द्रव्यजिन' कहे जाएँगे, तथा जो वर्तमान में 'जिनत्व' रूप से सम्पन्न होते हुए 'समवसरणस्थ' हैं, उन्हें 'भावजिन' जानना चाहिए। इसी तथ्य को आ. राजमल्लजी ने 'पंचाध्यायी' ग्रन्थ में निम्नलिखित गाथा के माध्यम से स्पष्ट किया है–

णामजिणा जिणणामा, ठवणजिणा जिणिंदपडिमाए।
दव्वजिणा जिणजीवा, भावजिणा समवसरणत्था।।[41]

उपर्युक्त नाम आदि न्यासों में सूक्ष्मता में देखें तो उनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठता है। जैसे, मात्र नामधारी 'जिनेन्द्र' की अपेक्षा 'स्थापना जैन' अर्थात् 'जिनमूर्ति' की श्रेष्ठता है क्योंकि उस प्रतिमा के प्रति जनता के आदर एवं अनुग्रह-आकांक्षा का दर्शन होता है।[42] उस मूर्ति की तुलना में वह सचेतन आत्मा, जो भविष्य में जिनेन्द्र-पद प्राप्त करने वाली है, निश्चय ही आदरणीय व श्रेष्ठ कही जाएगी, और सर्वश्रेष्ठता 'भाव जिन' आत्मा की ही है, क्योंकि वह वर्तमान में जिनेन्द्र रूपता को प्राप्त कर, जन-जन के आदर की पात्र व सर्वपूज्य बन चुकी है।

इसी प्रकार, जैन पद में भी चतुर्विध न्यासों की संगमना-उपपत्ति की जा सकती है। जैनकुलोत्पन्न हर व्यक्ति प्रायः अपने नाम के आगे 'जैन' लिखता है। सब लोगों द्वारा उन्हें 'जैन' नाम से पुकारा जाता है। अतः प्रत्येक जैनकुलोत्पन्न

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्यक्ति 'नाम जैन' है। इसी प्रकार किसी व्यक्ति का नाम ही 'जैन' रख दिया जाय, तो वह भी नाम-जैन कहलाएगा।

जैन यानी रागद्वेषादिरहित वीतराग देव के उपासक। ऐसे किसी उपासक की मूर्ति को 'स्थापना जैन' कहा जाएगा। जो भूत या भविष्य में जिनदेवोपासक या जिन-श्रद्धावान् हुए या होंगे, वे 'द्रव्य जैन' हैं, किन्तु जो वर्तमान में वीतराग में सम्यत्व-श्रद्धान रखकर उनके उपदेश पर चलने की इच्छा, कर्मठता से युक्त हैं, वे 'भावजैन' कहे जाएँगे। इन चारों को पूज्य पं. आशाधर जी ने 'सागारधर्मामृत' में इस प्रकार व्यक्त किया है:–

नामतः स्थापनातोऽपि, जैनः पात्रायतेतराम्।
स लभ्यो द्रव्यतो धन्यैः, भावतस्तु महात्मभिः।।[43]

इस पद्य के हार्द को इस प्रकार समझना चाहिए :– 'भाव जैन' तो अपेक्षाकृत सर्वश्रेष्ठ हैं ही, और यह 'भावजैनता' महान् आत्माओं को ही प्राप्त होती है। किन्तु जो इस भावजैनता को अनन्त जीवन-पथ पर किसी भी समय, भूत या भविष्य में प्राप्त करने वाले 'द्रव्यजैन' हैं, वे भी 'धन्य' हैं, आदरणीय हैं। शेष जो दो 'नामजैन' और 'स्थापनाजैन' हैं, उन्हें भी, हम 'उपेक्षणीय' न मानें, क्योंकि अजैनों की तुलना में, ये भी प्रशस्त सम्मान के पात्र हैं। किसी जिन-भक्त जैनव्रती श्रावक व श्रमण आदि की मूर्तियाँ भी द्रष्टा को जैनत्व की ओर अभिमुख कर सकती हैं और सन्मार्ग-आचरण में निमित्त व प्रेरक हो सकती हैं। इसी प्रकार, जैन नामधारी सामान्य जन भी, अपने नाम के विषय में चिन्तन करता हुआ, उसके गुणों के प्रति भी जिज्ञासु बने और अपने जीवन में उन्हें उतारने का इच्छुक हो– ऐसा होना प्रायः सम्भव है। इन सब दृष्टियों से, 'नाम जैन' भी कभी आदरणीय हो सकता है, अतः वह भी 'सत्पात्र' की श्रेणी में रखा जा सकता है।

अकारादिक्षकारान्तं, वर्णाः प्रोक्तास्तु मातृका।
सृष्टिन्यास-स्थितिन्यास-संहतिन्यासतस्त्रिधा।।

–(आचार्य जयसेन, प्रतिष्ठा पाठ, 377)

अकारों से लेकर क्षकार {क्+ष+अ} पर्यन्त मातृका वर्ण कहलाते हैं। इनका तीन प्रकार का न्यास (क्रम) है– सृष्टि न्यास, स्थिति न्यास और संहार न्यास (क्रम)।

इस विषय पर बहुत कुछ लिखा जा सकता है। अतः वैदिक व श्रमण साहित्य में न्यास-सम्बन्धी जो निरूपण प्राप्त है, उसे संक्षिप्त रूप में, परिचयात्मक स्वरूप में, उपस्थापित कर दिया गया है। विद्वानों व अध्येताओं के लिए इस विषय पर और अधिक अध्ययन व अनुसन्धान की आवश्यकता है, ताकि ज्ञान-विज्ञान की प्राचीन निधि से सभी सुपरिचित हो सकें और स्वयं को गौरवान्वित अनुभव कर सकें।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सन्दर्भ

1. द्र. पाणिनि-सूत्रः 3/3/18, कातंत्र-सूत्रः 4/5/3
2. द्र. पाणिनि-सूत्रः 3/3/19, कातंत्र सूत्रः 4/5/4
3. राजचोरातिभयाद् दायादानां च वंचनात्। स्थाप्यतेऽन्यगृहे द्रव्यं न्यासस्तत् परिकीर्तितम् (बृहस्पति-वचन), द्र. भीमाचार्य-रचित 'न्यायकोश', पृष्ठ 451
4. न्यस्यते येन, यस्मै यत्र वा इति न्यासः।
5. गृहस्वामिनः परोक्षमेव गृहजनहस्ते प्रक्षेपो गृहस्वामिने समर्पणीयम् इति (मिताक्षरा-टीका, मनुस्मृति 2/67)। द्र. भीमाचार्य-रचित 'न्यायकोश', पृष्ठ 451
6. द्र. संस्कृत-हिन्दी कोश– आप्टे, पृष्ठ 559
7. गीता 18/2
8. द्र. संस्कृत-हिन्दी कोश– आप्टे, पृष्ठ 1290
9. चारुदत्तः– अयोग्यमिदं न्यासस्य गृहम्। बसन्तसेना– पुरुषेषु न्यासा निक्षिप्यन्ते, न पुनर्गेहादिषु (मृच्छकटिक नाटक, प्रथमांक, पृष्ठ 88-89)।
10. क्रियते न्यास एव... तच्चापि क्रियते न्यास एव (महाभाष्य 6/1/13), यथान्यासमेवास्तु (महाभाष्य. 5/3/17)।
11. रघुवंश, 2/2
12. द्र. संस्कृत-हिन्दी कोश (आप्टे), पृष्ठ 382
13. द्र. वही, पृष्ठ 940
14. द्र. वही, पृष्ठ 207
    उपन्यासः=उपक्रमः, वाक्यप्रयोगः, विचारः, विश्वासेन अन्यसमीपे द्रव्यन्यासः (उपनिधिः) –न्यायकोश, पृष्ठ 163
15. द्र. संस्कृत-हिन्दी कोश (आप्टे), पृष्ठ 10, 559
16. शिशुपालवधमहाकाव्य (माघ), 2/112
17. उत्सूत्र उच्छास्त्रो नीतिशास्त्रविरुद्धः पदन्यासः एकपदप्रक्षेपोऽपि। स्वल्पव्यवहारोऽपि इति यावत्। स नास्ति यस्यां सा अनुत्सूत्रपदन्यासा। नीतिपूर्वक-सर्वव्यवहारा इत्यर्थः। अन्यत्र, अनुत्सूत्रपदन्यासा अनुत्सृष्टसूत्राक्षरः इष्टि-उपसंख्यान-नैरपेक्ष्येण सूत्राक्षरैरेव सर्वार्थप्रतिपादको न्यासः वृत्तिव्याख्यान-ग्रन्थविशेषः यस्यां सा तथोक्ता (मल्लिनाथ-टीका, माघ– 2/112)।
18. निपतन्त्यन्येषु अर्थाः इति निपाताः (शिष्यहितान्यास, 1/3/1 कातंत्रव्याकरण)।
19. पाणिनि सूत्र. 1/1/27, द्र. सिद्धान्तकौमुदी, अजन्तपुंलिंग प्रकरण।
20. न्यासो निक्षेपः इत्यर्थः- (राजवार्तिक, 1/5/1)। निक्षेपो न्यासः स्थापना इति पर्यायाः (जंबूद्वीवप्रज्ञप्ति-वृत्ति, पृष्ठ 5)।
21. निक्षेपणं, योजनम्, अध्यारोपणं निक्षेपः (सिद्धिविनिश्चयवृत्ति)।
22. ननु अनन्तः पदार्थानां निक्षेपो वाच्य इत्यसत्।
    नामादिष्वेव तस्यान्तर्भावात् संक्षेपरूपतः।। (तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, 2/1/5)
23. निक्षेपः स चतुर्धा नाम स्थापना ततो द्रव्यम्। भावः (पंचाध्यायी, 1/741)। नामस्थापनाद्रव्य-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावतस्तन्न्यासः (तत्त्वार्थसूत्र 1/5)।

24. तदन्यतमापाये सकलसंव्यवहारानुपपत्तेश्च युक्तः सर्वपदार्थानां नामादिभिः न्यासः (तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक 1/5, पृष्ठ 117)। लोके हि सर्वैः नामादिभिः दृष्टः संव्यवहारः (तत्त्वार्थराजवार्तिक 1/5/19-30)।

25. अतद्गुणे वस्तुनि संव्यवहारार्थं पुरुषकारात् नियुज्यमानं संज्ञाकर्म नाम (सर्वार्थसिद्धि-1/5/22)। निमित्तान्तरानपेक्षं संज्ञाकर्म नाम (तत्त्वार्थराजवार्तिक- 1/5/1)।

26. इह गुणाक्षेपः स्यादुपचरितः केवलं स निक्षेपः (पंचाध्यायी, 1/740)।

27. यश्च विप्रोऽनधीयानः, त्रयस्ते नाम बिभ्रति। (मनुस्मृति 2/157)

28. काष्ठपुस्तचित्रकर्माक्षनिक्षेपादिषु सोऽयमिति स्थाप्यमाना स्थापना (सर्वार्थसिद्धि, 1/5/22)। सोऽयं तत्समरूपे बुद्धिः स्थापना यथा प्रतिमा (पंचाध्यायी, 1/742), सोऽयमित्यभिसम्बन्धेन अन्यस्य व्यवस्थापनामात्रं स्थापना (तत्त्वार्थराजवार्तिक 1/5/2)।

29. गुणैः गुणान् वा द्रुतं गतं, गुणैः द्रोष्यते गुणान् द्रोष्यति इति वा द्रव्यम् (सर्वार्थसिद्धि, 1/5/22)। अनागतपरिणामविशेषं प्रति गृहीताभिमुख्यं द्रव्यं नाम.. अतद्भावं वा (तत्त्वार्थराजवार्तिक 1/5/3-4)।

30. वर्तमानतत्पर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भावः (सर्वार्थसिद्धि 1/5/22, राजवार्तिक 1/5/8)। तत्पर्यायो भावः (पंचाध्यायी 1/744)।

31. नामादिअर्थक्रियायाः तर्हि भावेन अकरणात्, तस्य अनर्थक्रियाकारित्वमस्तु, कांचिदपि अर्थक्रियां न नामादयः कुर्वन्ति– इत्ययुक्तं तेषामवस्तुत्वप्रसंगात्। न चैतदुपपन्नं भाववत् नामादीनाम् अबाधितप्रतीत्या वस्तुत्व-सिद्धेः (तत्त्वार्थश्लोक-वार्तिक, 1/5, पृष्ठ 117)।

32. न्यसनं (न्यासः), न्यस्यते इति न्यासः (तत्त्वार्थराजवार्तिक 1/5/1)।

33. एकस्य अर्थस्य नामस्थापनाद्रव्यभावैर्न्यासः– इति आचक्ष्महे (तत्त्वार्थराजवार्तिक, 1/5/21)।

34. निक्षेपणं योजनम् अध्यारोपणं निक्षेपः (सिद्धिविनिश्चयवृत्ति, 12/1)। इह गुणाक्षेपः स्यादुपचरितः केवलं स निक्षेपः (पंचाध्यायी, 1/740)।

35. अथवा बाह्यार्थविकल्पो निक्षेपः (धवला 4/1, 3, 1/2/6)।

36. उपायो न्यास इष्यते (धवला, पु. 1, पु. 17, पु. III, पृष्ठ 18, प्रमाणसंग्रह 86, लघीयस्त्रय 52)।

37. जीवादीनां तत्त्वानां यथोद्दिष्टानां नाम-आदिभिः न्यस्तानां प्रमाणनयैः विस्तराधिगमो भवति (तत्त्वार्थसूत्र-भाष्य 1/6)।

38. अप्रकृतनिराकरणाय प्रकृतनिरूपणाय च निक्षेपविधिना शब्दार्थः प्रस्तीर्यते (सर्वार्थसिद्धि, 1/5/22)। अप्रकृतनिराकरणकारेण प्रकृतप्ररूपको वा (धवला 4/1, 3, 1/2/6)।

39. संशये विपर्यये अनध्यवसाये वा स्थितः, तेभ्योऽपसार्य निश्चये क्षिपति– इति निक्षेपः (धवला 4/1, 3, 1/2/6)।

40. द्र.तत्त्वार्थराजवार्तिक 1/5 की उत्थानिका (संव्यभिचारविशेषव्यभिचारनिवृत्त्यर्थम्)।

41. पंचाध्यायी, 1/744

42. आदरानुग्रहाकांक्षित्वात् स्थापनायाः (तत्त्वार्थराजवार्तिक, 1/5/12)।

43. सागारधर्मामृत, 2/54

❖❖

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समयसार की रचना में आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि

✍ पं. बंशीधर व्याकरणाचार्य

आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार की रचना इस दृष्टि से की है कि सम्पूर्ण मानवसमष्टि उसे पढ़कर उसके अभिप्राय को समझे और उस अभिप्राय के अनुसार अपनी जीवन-प्रवृत्तियों को नैतिक रूप देने का दृढ़ संकल्प करे, जिससे वह जीवन भर सुखपूर्वक जिन्दा रह सके। इसप्रकार अपनी जीवन प्रवृत्तियों को नैतिकरूप देनेवाली मानव समष्टि में से जो मानव जितने परिमाण में अपनी मानसिक, वाचिक और कायिक स्वावलम्बनता का अपने में विकास कर ले, उसके अनुसार वही आध्यात्मिक (आत्मस्वातंत्र्य के) मार्ग का पथिक बन सकता है।

जीवों के प्रकार

जैन शासन में जीवों के संसारी और मुक्त दो प्रकार बतलाये गये हैं।

—(देखो– तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 2 का संसारिणो मुक्ताश्च, सूत्र 10)

इस सूत्र से यह भी ज्ञात होता है कि संसार की समाप्ति का नाम मुक्ति है और जो जीव संसार से मुक्त हो जाते हैं, वे ही सिद्ध कहलाते हैं। जैनशासन के अनुसार कोई भी जीव अनादिसिद्ध नहीं है जैसा कि अजैन दार्शनिकों ने माना है।

संसारी जीवों के भेद

जैनशासन के अनुसार संसारी जीव भी भव्य और अभव्य दो प्रकार के हैं। उनमें से भव्य जीव वे हैं जिनमें उस स्वभावसिद्ध योग्यता का सर्वथा अभाव हो।

भव्य और अभव्य जीवों में विद्यमान समानता

भव्य और अभव्य दोनों ही प्रकार के जीव पौद्गलिक कर्मों से बद्ध होने के कारण कर्मों के प्रभाव से अनादिकाल से यथायोग्य नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव इन चार गतियों में परिभ्रमण करते आये हैं और अपनी स्वावलम्बन शक्ति को नष्ट कर यथासम्भव मानसिक, वाचनिक और कायिक परावलम्बनता की स्थिति में भी रहते आये हैं। तथा मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय के प्रभाव में मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में रहते हुए सतत यथायोग्य मन, वचन और काय के अवलम्बन पर मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानपूर्वक अनैतिक (मिथ्या) आचरण करते आये हैं। ऐसे जीवों को समयसार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गाथा 19 से लेकर गाथा 23 तक अपने से भिन्न पदार्थों में अहंबुद्धि और ममबुद्धि होने के कारण अप्रतिबद्ध प्रतिपादित किया गया है। वे जीव अप्रतिबद्ध क्यों हैं? इसे समयसार गाथा 24 और 25 में आगम और तर्क के आधार पर सिद्ध किया गया है।

समयसार का विवेचन मनुष्यगति की अपेक्षा

यद्यपि नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव इन सभी गतियों के जीव इसप्रकार से अप्रतिबद्ध हो रहे हैं और सभी गतियो के बहुत से जीव उस अप्रतिबद्धता को समाप्त कर प्रतिबद्ध भी हो सकते हैं परन्तु जीवों को मुक्ति की प्राप्ति मनुष्य गति से ही हो सकती है, इसलिए समयसार में जो विवेचन किया गया है, उसे मानव समष्टि की अपेक्षा ही समझना चाहिए।

भव्य और अभव्य जीवों में विद्यमान अन्तर

जैनशासन के अनुसार भव्य और अभव्य दोनों ही प्रकार के मिथ्यादृष्टि जीव मुक्ति मार्ग में प्रवेश कर सकते हैं, क्योंकि न तो भव्य जीव अपनी भव्यता की पहिचान कर सकते हैं और न अभव्य जीव अपनी अभव्यता की पहिचान कर सकते हैं। इसलिए भव्य जीव के समान अभव्य जीव भी अपने को भव्य समझकर मुक्ति के मार्ग में प्रवृत्त होते हैं। समयसार गाथा 275 में बतलाया गया है कि अभव्य जीव भी भव्य जीव के समान मोक्ष के मार्गभूत धर्म (व्यवहारधर्म) में आस्था रखता है, उसको समझता है, उसमें रुचि रखता है और उसमें प्रवृत्त भी होता है। इतनी बात अवश्य है कि उसका वह धर्माचरण मुक्ति का कारण न होकर यथायोग्य सांसारिक सुख की वृद्धि का ही कारण होता है। समयसार में वह गाथा इस रूप में निबद्ध है—

सद्दहदि य पत्तेदि य रोचदि य तह पुणो य फासेदि।
धम्मं भोगणिमित्तं ण दु कम्मक्खयणिमित्तं।। 275।।

इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि भव्य और अभव्य दोनों ही प्रकार के जीव मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय के प्रभाव से मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में रहते हुए यथायोग्य चतुर्थगुणस्थानवर्ती, पंचमगुणस्थानवर्ती और षष्ठ गुणस्थानवर्ती जीवों के समान धर्माचरण कर सकते हैं और इसप्रकार धर्माचरण करते हुए अभव्य जीव भी भव्य जीवों के समान अपने में क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियों का विकास कर लेते हैं, जिनके प्रभाव से वे नवम ग्रैवेयक तक स्वर्ग में भी उत्पन्न हो जाते हैं परन्तु वे भव्य जीवों के समान आत्मविशुद्धि को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र नहीं बना सकते हैं, क्योंकि जैनशासन में बतलाया गया है कि उसी जीव की आत्मविशुद्धि सम्यग्दर्शनरूप होती है जिसने दर्शनमोहनीयकर्म की तीन और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभरूप चार इन— सात प्रकृतियों का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम किया हो। इसी प्रकार आत्मविशुद्धि देशव्रत रूप उसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जीव की होती है जिसने उक्त दर्शनमोहनीयकर्म की तीन और अनन्तानुबन्धी कषाय की चार— इन सात प्रवृत्तियों के उपशम क्षय अथवा क्षयोपशम के साथ अप्रत्याख्यानावरण कषाय की चार प्रकृतियों का भी क्षयोपशम किया हो तथा आत्मा की विशुद्धि सर्वव्रतरूप उसी जीव की होती है जिसने उक्त दर्शनमोहनीयकर्म की तीन और अनन्तानुबन्धी कषाय की चार— इन सात प्रकृतियों के उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम और अप्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम के साथ प्रत्याख्यानावरण कषाय भी क्षयोपशम किया हो। इसका भाव यह है कि मोहनीयकर्म की उक्त प्रकृतियों का यथासम्भव उपशम, क्षय व क्षयोपशम मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती उसी जीव में होता है जो भव्य है। तथा उस जीव में उन प्रकृतियों का वह उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम तभी होता है जब वह सातिशय मिथ्यादृष्टि हो जाता है। वह सातिशय मिथ्यादृष्टि तभी कहा जाता है जब वह करणलब्धि को प्राप्त करता है अर्थात् क्रमशः अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण परिणामों को प्राप्त होकर मोहनीय कर्म की उक्त प्रकृतियों का यथायोग्य उपशम, क्षय और क्षयोपशम करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। उसे इस करणलब्धि की प्राप्ति तभी होती है जब वह समयसार में प्रतिपादित भेदविज्ञान को प्राप्त कर लेता है। वह उक्त भेदविज्ञान को तब प्राप्त होता है जब वह क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य— इन चार लब्धियों को प्राप्त कर लेता है। वह इन चार लब्धियों को तब प्राप्त करता है जब वह नैतिक आचरण के रूप में अथवा नैतिक आचरण के साथ देशव्रतरूप में अथवा नैतिक आचरण के साथ सर्वव्रत रूप में मन, वचन, काय के समन्वयपूर्वक आगम में वर्णित उक्त प्रकार के व्यवहार धर्म को यथायोग्य रूप में अंगीकार करता है। अभव्य जीव भी उक्त प्रकार के व्यवहार धर्म को अंगीकार करके क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य— इन लब्धियों को प्राप्त कर लेता है, परन्तु वह अपनी अभव्यता के कारण उक्त भेदविज्ञान को प्राप्त नहीं होता। समयसार गाथा 275 का यही अभिप्राय है। उन भव्य और अभव्य जीवों को उक्त चार लब्धियों की प्राप्ति नहीं होती है जो उक्त प्रकार के व्यवहार धर्मों को अंगीकार तो करते हैं, परन्तु मन, वचन और काय के समन्वयपूर्वक नहीं अंगीकार करते हैं। मिथ्यादृष्टि गुणस्थानवर्ती भव्य जीवों को ही उपर्युक्त क्रम से भेदविज्ञान की प्राप्ति होती है, अभव्य जीवों को नहीं।

समयसार की बेजोड़ व्याख्या करने वाले आचार्य अमृतचन्द्र ने कलश पद्य 128, 129, 130, 131 और 132 से यही निर्णीत होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार की रचना में मुमुक्षु जीव के लिए मुक्ति-प्राप्ति में भेदविज्ञान को प्रमुख स्थान दिया है। यहाँ उन पद्यों को उद्धृत किया जाता है—

निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या,
भवति नियतमेषां शुद्धतत्त्वोपलम्भः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरेस्थितानां,
भवति सति च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः।। 128।।

अर्थ :– जो जीव निजमहिमा में रत हैं अर्थात् उसकी महिमा के जानकर हैं (भेदज्ञानी हो गये हैं), उन जीवों को उस भेद विज्ञान के आधार पर नियम से अपने शुद्ध अर्थात् स्वतंत्र स्वरूप का उपलम्भ (ज्ञान) होता है। ऐसे जीवों को अन्य द्रव्यों से सर्वथा दूर हो जाने पर अर्थात् पर पदार्थों में अहं बुद्धि और ममबुद्धि की समाप्ति हो जाने पर कर्मों का स्थायी क्षय होता है।

सम्पद्यते संवर एष साक्षाच्छुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलम्भात्।
स भेदविज्ञानत एव तस्मात्, तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यम्।। 129।।

अर्थ :– शुद्ध आत्मतत्त्व का ज्ञान हो जाने पर साक्षात् संवर का सम्पादन होता है। वह शुद्ध आत्मतत्त्व का ज्ञान भेदविज्ञान के आधार पर होता है। इसलिए जीवों को भेद विज्ञान की प्राप्ति का अभ्यास करना चाहिए।

भावयेद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठिते।। 130।।

अर्थ :– उस भेदविज्ञान का अच्छिन्न धारा से तब तक अभ्यास करना चाहिए जब तक वह जीव पर से च्युत होकर अर्थात् पर में अहंकार और ममकार समाप्त करके ज्ञान में प्रतिष्ठित होता है अर्थात् भेदविज्ञानी होता है।

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन।। 131।।

अर्थ :– जो कोई जीव सिद्ध हुए हैं वे भेदविज्ञान से ही सिद्ध हुए हैं और जो कोई जीव बद्ध हैं वे भेदविज्ञान के अभाव के कारण ही बद्ध हैं।

भेदज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्त्वोपलम्भा–
द्रागग्रामप्रलयकरणात्कर्मणां संवरेण।
बिभ्रत्तोषं परममलालोकमम्लानमेकं,
ज्ञानं ज्ञाने नियतमुदितं शाश्वतोद्योतमेतत्।। 132।।

अर्थ :– जीव को भेदविज्ञान की प्राप्ति होने पर शुद्धतत्त्व का उपलम्भ अर्थात् ज्ञान होता है और इसप्रकार राग-समूह का विनाश हो जाने से कर्मों का संवर होने पर तोष को प्राप्त उत्कृष्ट अमल प्रकाश वाला निर्दोष अद्वितीय ज्ञान नियम से उदित होकर ज्ञान रूप में शाश्वत प्रकाशमान होता है।

समयसार की रचना में जो क्रम पाया जाता है, उससे भी यही भाव प्रकट होता है– प्रथम गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द ने जो सिद्धों को नमस्कार किया है, उससे मुमुक्षु जीव के लक्षण का निर्धारण होता है। दूसरी गाथा में यह बतलाया गया है कि जो जीव अभेद दृष्टि से अपने अखण्ड स्वभावभूत ज्ञान में और भेददृष्टि से दर्शन, ज्ञान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और चारित्र में स्थिर रहें, उन्हें स्वसमय कहा जाता है। तथा जो जीव पुद्गल कर्म प्रदेशों में स्थित अर्थात् पुद्गल कर्मों से बद्ध होने के कारण पर पदार्थों में अहंबुद्धि और ममबुद्धि करते हैं वे परसमय कहलाते हैं। तीसरी गाथा में यह शंका उठाई गयी है कि लोक में जितने पदार्थ हैं वे सब अपने अखण्ड एक स्वभाव में रहकर ही सर्वदा सुन्दरता को प्राप्त हो रहे हैं, इसलिए जीव के विषय में बन्ध की कथा विसंवादपूर्ण हो जाती है। चतुर्थ गाथा में इस शंका का इसप्रकार समाधान किया गया है कि अनादिकाल से प्रत्येक जीव को काम, भोग और बन्ध की कथा ही सुनने में आई है, देखने में आई है और अनुभूत होती आई है, अतः उसके अखण्ड एक स्वरूप का ज्ञान होना उसे सुलभ नहीं है। इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने पाँचवीं गाथा में आत्मा के उस अखण्ड एक स्वरूप को समयसार में स्पष्ट करने की प्रतिज्ञा की है। और छठी गाथा में आत्मा के उस अखण्ड एक स्वरूप को स्पष्ट भी कर दिया गया है। इसके पश्चात् गाथा 13 में आचार्यश्री ने आध्यात्मिक मार्ग में उपयोगी, जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष इनको (जैसे हैं उसी रूप में) जिस जीव ने जाना है, उसे सम्यग्दृष्टि बतलाया है। इससे निर्णीत होता है कि उक्त पदार्थों को उनके पृथक्-पृथक् स्वरूप के आधार पर जानकर परपदार्थों में अहं बुद्धि और ममबुद्धि का त्याग करना ही भेदविज्ञान है। इसके आगे आचार्य कुन्दकुन्द ने जीवाधिकार में जीव के स्वरूप का अजीवाधिकार में अजीव के स्वरूप का, कर्तृकर्माधिकार में जीव और अजीव के विषय में वास्तविक कर्ता और कर्म की व्यवस्था के निषेध का, पुण्यपापाधिकार में पुण्य और पाप का, आस्रवाधिकार में आस्रव का, संवराधिकार में संवर का, निर्जराधिकार में निर्जरा का, बंन्धाधिकार में बन्ध का और मोक्षाधिकार में मोक्ष का जो पृथक्–पृथक् स्वरूप विवेचन किया है, वह भेदविज्ञान के पोषण के लिए किया है और अन्त में सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार में आत्मा के स्वतन्त्र स्वरूप का विशेष विवेचन किया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार की रचना में मुमुक्षु जीवों को प्रथमतः भेदविज्ञानी बनने का उपदेश मुख्यतः से दिया है।

निष्कर्ष :— भव्य और अभव्य के भेद से संसारी जीवों के जो दो प्रकार आगम में निश्चित किये गये हैं, वे दोनों ही एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञीपंचेंद्रिय और संज्ञीपंचेंद्रिय तक के जीवों में केवल कर्मफल चेतना पायी जाती है अर्थात् वे सब जीव कर्मफल का मात्र सुख-दुःख रूप अनुभव ही कर सकते हैं। इनके अतिरिक्त जो संज्ञीपंचेंद्रिय भव्य और अभव्य जीव हैं वे सतत् अपने अभिलषित की सम्पन्नता के लिए संकल्प और बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ करते हैं। उनका वह पुरुषार्थ असीमित भोग और संग्रह का होता है और उनकी प्राप्ति के लिए वे हिंसा असत्य भाषण और चोरी का भी पुरुषार्थ करते हैं। तथा ऐसे पुरुषार्थ में उन्हें हमेशा हर्ष होता है, ग्लानि कभी नहीं होती। इसलिए उनका यह पुरुषार्थ अनैतिक आचरण के रूप

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में संकल्पी पाप माना गया है। इस संकल्पी पाप का सद्भाव उन जीवों में जब तक रहता है तब तक वे मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञानी और मिथ्याचारित्री ही होते हैं। इनमें से जो जीव इन संकल्पी पापो का सर्वथा त्याग कर अशक्ति या आवश्यकता के आधार पर इनमें प्रवृत्त होते हैं, उनकी वे प्रवृत्तियाँ अशक्ति और आवश्यकतावश होने के कारण आरम्भी पाप कहलाते हैं। तथा इन आरम्भी पापों में प्रवृत्त वे भव्य और अभव्य जीव अविरत कहलाते हैं और जो भव्य और अभव्य जीव इस अविरति का एकदेश त्याग कर देते हैं, वे देशवत हो जाते हैं। जो भव्य और अभव्य जीव उसका यथायोग्य सम्पूर्ण रूप से त्याग कर देते हैं वे सर्वव्रत हो जाते हैं। इसप्रकार भव्य और अभव्य दोनों ही जीव अविरत, देशव्रत या सर्वव्रत होकर क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य इन चार लब्धियों को भी प्राप्त कर लेते हैं। इतनी बात अवश्य है कि अभव्य जीव उक्त लब्धियों को प्राप्त करके अपनी अभव्यता के कारण भेदविज्ञानी नहीं बन सकते हैं, भव्य जीव ही अपनी भव्यता के आधार पर भेदविज्ञानी बन सकते हैं।

जो भव्यजीव क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियों को प्राप्त कर भेदविज्ञानी बनने का अभ्यास करता है, उसे भेदविज्ञान की प्राप्ति होती है तथा अभव्य जीव क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियों को प्राप्त कर भेदविज्ञानी बनने का अभ्यास करता भी है, तो भी उसे उसकी अभव्यता के कारण भेदविज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है। ❖❖

तिनिकी संगति ही स्व-पर घातक है ऐसा जानना

"बहुरि श्लोकवार्तिक में ऐसैं कह्या है– जो एवंभूत नय तौ निश्चय है। जातैं जिसकी जो संज्ञा होय तिस ही क्रियारूप परिणमता पदार्थ होय सो याका विषय है। जैसे चैतन्य अपना चैतन्य भावरूप परिणमै ताकूं चैतन्य ही कहै। क्रोधी कूं क्रोधी ही कहै इत्यादि। बहुरि व्यवहार अशुद्ध द्रव्यार्थिक कूँ कहा है। जातैं दोय भाव तथा द्रव्य मिले बिना व्यवहार चलै नाहीं। दोय मिलै तब अशुद्धता भई। सो यह निर्देशादिक अधिकार में लिखी ही है। इहाँ प्रश्न, जो निश्चयनय तौ सत्यार्थ है व्यवहार असत्यार्थ है– त्याजने योग्य है, सो यहु उपदेश कैसे है?

ताका उत्तर–जो, उपदेश दोय प्रकार प्रवर्तै है। तहाँ तक तौ आगम। तामैं तो निश्चय द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक दोऊ ही नय परमार्थ रूप सत्यार्थ कहे हैं। अर प्रयोजन अर निमित्त के वश तैं अन्य द्रव्य गुणपर्यायनि का अन्य द्रव्यगुण पर्यायनि विषैं आरोपण करना, सो उपचार है। याकूँ व्यवहार कहिये असत्यार्थ भी कहिये, गौण भी कहिये। बहुरि दूसरा अध्यात्म उपदेश। तामैं अध्यात्म ग्रन्थ का आशय यह है, जो आत्मा, अपना एक अभेद नित्य शुद्ध असाधारण चैतन्य मात्र शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय–भूत है। सो तौ उपादेय है। बहुरि अवशेष भेद पर्याय अनित्य अशुद्ध तथा साधारण गुण तथा अन्य द्रव्य ए सर्व पर्यायनय के विषय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ते सर्व हेय हैं। काहे तैं? जातैं यह आत्मा अनादितैं कर्मबंध पर्याय मैं मग्न है। क्रमरूप ज्ञान तैं पर्यायनि कूं ही जाणै है। अनादि अनंत अपना द्रव्यत्व भाव का याकै अनुभव नाहीं। तातैं पर्याय मात्र मैं आपा जानै है। तातैं ताकूँ द्रव्यदृष्टि करावने के अर्थि पर्यायदृष्टि कूं गौणकरि असत्यार्थ कहि करि एकांत पक्ष छुड़ावने के अर्थि झूठा कह्या है। ऐसा तौ नाहीं, जो, ए पर्याय सर्वथा ही झूठे हैं कछु वस्तु नाहीं आकाश के फूलवत् हैं। जो अध्यात्मशास्त्र का वचन कूँ सर्वथा एकांत पकड़ि पर्यायनि कू सर्वथा झूठा मानै तौ वेदान्ती तथा सांख्यमती की ज्यौं मिथ्या दृष्टि ठहरै है। पहलैं तौ पर्यायबुद्धि एकांत मिथ्यात्व था। अब ताकूँ सर्वथा छोड़ि द्रव्यनय का एकांत मिथ्या दृष्टि होगा, तब गृहीत मिथ्यात्व का सद्भाव आयेगा। बहुरि उपनय के भेदनि विषैं सद्भूत असद्भूत उपचार कहै हैं। ते कथंचित् असत्य भी मानने। जातैं ऐसा कह्या है, जो, प्रयोजन तथा निमित्त के वश तैं प्रवर्तै अन्य कूँ अन्य कहनाँ तहाँ उपचार है सो परस्पर द्रव्यनि कैं निमित्त नैमित्तिक भाव है। सो तो सत्यार्थ है ही। तातैं संसार मोक्ष आदि तत्त्वनि की प्रवृत्ति है। जो निमित्त-नैमित्तिक भाव झूठा होय तौ संसार-मोक्ष आकाश के फूल ज्यौं ठहरै। बहुरि तैसे ही जहाँ पुरुष का प्रयोजन है ताकै अर्थि जो प्रवृत्ति है, सो भी कथंचित् सत्यार्थ है। जो प्रयोजन तथा प्रयोजन का विषय पदार्थ सर्वथा असत्यार्थ होय तो आकाश के फूल की ज्यौं झूंठा ठहरै। तथा एकेन्द्रियादिक जीव कूँ व्यवहार करि जीव कह्या है। सो व्यवहार सर्वथा झूठा ही होय तौ जीव हिंसादिक का कहना झूठा ठहरै। परमार्थ तैं जीव तौ नित्य है अमर है। एकेंद्रियादिक जीव कहनां झूंठ है झूंठा के घात विषैं काहे की हिंसा? तथा याका विस्तार कहाँ ताई कहिये? जे व्यवहार कूं सर्वथा असत्यार्थ कहै हैं ते तौ सर्व व्यवहार के लोप करने वाले तीव्र मिथ्यात्व के उदय तैं गाढ़े मिथ्यादृष्टि हैं—जिनमत तैं प्रतिकूल है, तिनिकी संगति ही स्व–पर ही घातक है ऐसा जानना।"

—पं. जयचन्द छाबड़ा ❖❖

मंगल-भावना

यथा नाम तथा गुण— इस प्राचीन सूक्त का साक्षात् करना हो तो आचार्य विद्यानन्द जी का साक्षात् करें। उन्होंने चरित्राराधना के साथ जो ज्ञानाराधना की है वह अद्भुत है, जैन शासन की श्रीवृद्धि करनेवाली है।

ज्ञात हुआ है कि आचार्य विद्यानन्द जी उपाध्याय श्रुतसागर जी को एलाचार्य पद पर अभिसिक्त कर रहे हैं। हमारी मंगल भावना है, शुभाशंसा है कि उपाध्याय श्रुतसागरजी एलाचार्य बनने के साथ–साथ आचार्य विद्यानन्द जी जैसी श्रुताराधना का संकल्प लें। इससे ज्ञान की परम्परा अविच्छिन्न होगी और साथ–साथ जैन शासन की प्रभावना भी होगी। —आचार्य महाप्रज्ञ ●●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समयसार का दार्शनिक पृष्ठ

✍ डॉ. दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य

प्राथमिक

समयसार आचार्य कुन्दकुन्द की जिन्हें शिलालेखों में कौण्डकुन्द के नाम से उल्लेखित किया गया है,[1] एक उच्च कोटि की आध्यात्मिक रचना है। यों उन्होंने अनुश्रुति के अनुसार 84 पाहुडो (प्राभृतों-उपहार स्वरूप प्रकरण ग्रन्थों) तथा आचार्य पुष्पदन्त-भूतबली द्वारा रचित षट्खण्डागम मूलागम की विशाल टीका की भी रचना की थी। पर आज वह समग्र ग्रन्थ-राशि उपलब्ध नहीं है। फिर भी उनके जो और जितने ग्रन्थ प्राप्त हैं, वे इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि उनसे समग्र जैन वाङ्मय समृद्ध एवं देदीप्यमान है। उनके इन ग्रन्थों का, जिनकी संख्या 21 है, परिचय अन्यत्र दिया गया है।

कुन्दकुन्द ने अपने तमाम ग्रन्थ उस समय की प्रचलित प्राकृत, पाली और संस्कृत— इन तीन भारतीय प्रमुख भाषाओं में से प्राकृत में रचे हैं। प्रश्न हो सकता है कि कुन्दकुन्द ने अपनी ग्रन्थ-रचना के लिए प्राकृत को ही क्यों चुना? पाली या संस्कृत को क्यों नहीं चुना? इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि प्राकृत साधारणजन की भाषा थी – उसके बोलने वाले सामान्य जन अधिक थे और कुन्दकुन्द तीर्थंकर महावीर के उपदेश को जन-साधारण तक पहुँचाना चाहते थे। दूसरे, षट्खण्डागम, कषायपाहुड जैसे दिगम्बर आगम-ग्रन्थों के प्राकृत (शौरसेनी) में निबद्ध होने से उसकी सुदीर्घ परंपरा भी उन्हें प्राप्त थी। अतएव उन्होंने अपनी ग्रन्थ-रचना के लिए भी प्राकृत को ही अपनाना उपयुक्त समझा। उनकी यह प्राकृत शौरसेनी प्राकृत है। यद्यपि कुन्दकुन्द की मातृभाषा तमिल थी और वे तमिल-भाषी थे। किन्तु अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के नेतृत्व में उत्तर भारत से दक्षिण-भारत में जो विशाल मुनि-श्रावक संघ गया था वह शौरसेनी प्राकृत का पूरा अभ्यासी था, उससे कुन्दकुन्द बहुत प्रभावित और उस भाषा के प्रकाण्ड पण्डित बने होंगे, तभी उन्होंने शौरसेनी-प्राकृत में विपुल ग्रन्थ रचे। उनका तमिल भाषा में रचा कुरलकाव्य ग्रन्थ है, जिसे तमिल-भाषी पंचमवेद के रूप में मानते हैं। कुन्दकुन्द के उत्तरवर्ती शतशः आचार्यों ने भी शौरसेनी प्राकृत में प्रचुर ग्रन्थों की रचना की है। शौरसेनी-प्राकृत साहित्य के निर्माताओं में आचार्य कुन्दकुन्द का निस्सन्देह मूर्धन्य स्थान है। वे यशस्वी प्राकृत-साहित्यकार के अतिरिक्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मूल-संघ के गठन-कर्ता के रूप में भी इतने प्रभावशाली रहे हैं कि शिलालेखों एवं मूर्ति-लेखों के सिवा शास्त्र-प्रवचन के आरम्भ और मंगल-क्रियाओं के अवसर पर **मंगलं भगवान् वीरो** आदि पद्य द्वारा तीर्थंकर महावीर और उनके प्रथम गणधर गौतम इन्द्रभूति के पश्चात् उनका भी बड़ी श्रद्धा के साथ स्मरण किया जाता है।[3] इससे आचार्य कुन्दकुन्द का एक महान् एवं प्रामाणिक आचार्य के रूप में सर्वाधिक महत्त्व प्रकट होता है तथा उनके धवल यश की प्रचुरता ख्यापित होती है।

समयसार : समयपाहुड

इतना प्राथमिक कहने के बाद हम कुन्दकुन्द की प्रस्तुत विषय में विचारणीय कृति के नाम के सम्बन्ध में कुछ विचार करेंगे।

उनकी इस महत्त्वपूर्ण कृति का मूल नाम समयसार है या समयपाहुड है? मूल ग्रन्थ का आलोडन करने पर विदित होता है कि इसका मूल नाम समयपाहुड है। कुन्दकुन्द ने स्वयं ग्रन्थ के आरम्भ में मंगलाचरण एवं ग्रन्थ-प्रतिज्ञा गाथा में समस्त सिद्धों की वन्दना करके समयपाहुड ग्रन्थ के कथन करने का निर्देश किया है[4] और ग्रन्थ का समापन करते समय भी उसका इसी नाम से समुल्लेख किया है।[5] इससे अवगत होता है कि ग्रन्थकार को इसका मूल नाम समयपाहुड (समय प्राभृत) अभिप्रेत है। चूँकि इसमें उन्होंने समय—आत्मा के सार शुद्ध रूप का कथन किया है, इससे उसे समयसार भी कहा जा सकता है। कुन्दकुन्द ने गाथा 413 में इसका भी उल्लेख किया है।[6] किन्तु यहाँ उन्होंने समयपाहुड के वाच्य शुद्ध आत्मा के अर्थ में समयसार पद का प्रयोग किया है। उत्तरकाल में तो समयपाहुड के प्रथम व्याख्याकार आचार्य अमृतचन्द्र (10वीं शताब्दी) ने वाच्य और वाचक दोनों में अभेद-विवक्षा (एक मान) करके समयपाहुड (वाचक) को ही समयसार (वाच्य) कहा है और इसी आधार पर उन्होंने अपनी व्याख्या के आद्य मंगलाचरण में **नमः समयसाराय** आदि पद्य द्वारा समयसार का उल्लेख करके उसे नमस्कार किया है[7] और उसे सर्वपदार्थों से भिन्न चित्स्वभावरूप भाव (पदार्थ) निरूपित किया है तथा वे यह मानकर चले हैं कि **समयसार, समयपाहुड** है। तभी वे यह कहते हैं[8] कि 'समयसार की व्याख्या के द्वारा ही मेरी अनुभूति की परम विशुद्धि हो।' ऐसा भी नहीं कि अमृतचन्द्र समयपाहुड नाम से अरुचि रखते हों, क्योंकि पहली गाथा की व्याख्या में न केवल उसका उन्होंने उल्लेख किया है, अपितु उसे **अर्हत्प्रवचनावयव** कहकर उसका महत्त्व भी प्रकट किया है।[9] वास्तव में उनकी दृष्टि नाम की अपेक्षा उसके अर्थ की ओर अधिक है, क्योंकि नाम तो पौद्गलिक (शब्दात्मक) है और अर्थ चित्स्वभाव शुद्ध आत्मा है। इसी कारण उन्हें इस ग्रन्थ को 'समयसार' कहने और उसकी महिमा गाने में अपरिमित आनन्द आता है। आगे भी उन्होंने गाथाओं पर रचे कलशों और उनकी व्याख्या में समयसार नाम का ही निर्देश किया है।[10] आचार्य अमृतचन्द्र के बाद तो आचार्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जयसेन ने भी अपनी तात्पर्यवृत्ति (व्याख्या) में समयसार नाम ही दिया है[11] और प्राभृत का अर्थ सार करके उससे उन्होंने **शुद्धावस्था** का ग्रहण किया है।[12] पं. बनारसीदास, पं. जयचन्द आदि हिन्दी टीकाकारों ने भी समयसार नाम को ही ज्यादा अपनाया है। यह नाम इतना लोकप्रिय हुआ कि आज भी जन-जन के कण्ठ पर यही नाम विद्यमान है, समयपाहुड नाम कम। किन्तु ग्रन्थ का मूल नाम समयपाहुड ही है, जो ग्रन्थकर्त्ता आचार्य कुन्दकुन्द को अतिशय अभीष्ट है।

समयसार में दार्शनिक दृष्टि

यद्यपि समयपाहुड अथवा समयसार मूलतः आध्यात्मिक कृति है। इसमें आचार्य कुन्दकुन्द ने आरम्भ से लेकर अन्त तक शुद्ध आत्मा का ही प्रतिपादन किया है और उसी का श्रद्धान, उसी का ज्ञान और उसी को प्राप्त कर उसी में स्थिर होने—रमने पर पूरा बल दिया है।[13] यही कारण है कि उन्होने मंगलाचरण में अरहन्तों को नमस्कार न करके पूर्ण शुद्ध, अबद्ध और प्रबुद्ध समस्त सिद्धों की वन्दना की है।[14] तथापि उसे (शुद्धात्मा को) उन्होंने दर्शन के द्वारा ही प्रदर्शित किया है। दर्शन का प्रयोजन है कि किसी भी वस्तु की सिद्धि प्रमाण से करना और कुन्दकुन्द ने इसमें उस एकत्व-विभक्त शुद्धात्म तत्त्व की सिद्धि स्पष्टतया स्वविभव (युक्ति, अनुभव और आगम से प्राप्त ज्ञान) द्वारा करने की घोषणा की है।[15] स्वविभव को स्पष्ट करते हुए व्याख्याकारों ने कहा है[16] कि कुन्दकुन्द का वह विभव आगम, तर्क, परमगुरूपदेश और स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है। इनके द्वारा ही उस शुद्ध आत्मा को इस समयसार में सिद्ध किया गया है। आत्मा द्वैतवादी उपनिषदों एवं वेदान्तदर्शन[17] ने भी आत्मा को सुनने के लिए श्रुति वाक्यों, मनन (अनुमान) करने के लिए उपपत्तियों (युक्तियों) और स्वयं अनुभव करने के लिए स्वानुभव प्रत्यक्ष (निदिध्यासन)— इन तीन प्रमाणों को स्वीकार किया है। उस प्राचीन समय में किसी भी वस्तु की सिद्धि इन प्रमाणों से ही की जाती थी। सांख्यदर्शन ने भी अपने तत्त्वों की सिद्धि के लिए यही तीन प्रमाण माने हैं।[18] अतः कुन्दकुन्द के द्वारा दर्शन के अंगभूत इन तीन प्रमाणों से उस शुद्ध आत्मा को सिद्ध करना स्वाभाविक है।

समयपाहुड स्वरुचि विरचित नहीं : आगम और युक्ति का प्रस्तुतीकरण

कुन्दकुन्द स्पष्ट करते हैं कि मैं उस समयपाहुड को कहूँगा, जिसका प्रतिपादन आगम, श्रुतकेवली और केवली द्वारा किया गया है। इससे वे अपने समयपाहुड को स्वरुचि विरचित न होने तथा श्रुतकेवलीकथित होने से प्रमाण सिद्ध करते हैं। इसके अतिरिक्त **सुयकेवलीभणियं** (श्रुतकेवलीकथित) यह पद प्रथमा विभक्ति का होते हुए भी हेतुपरक है। यहाँ वह समयपाहुड की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए हेतु रूप में प्रयुक्त किया गया है। न्यायशास्त्र में प्रथमा विभक्ति वाला पद भी हेतु रूप में स्वीकार किया गया है।[19] अतः इस हेतु रूप पद के द्वारा कुन्दकुन्द ने अपने समयपाहुड को प्रामाणिक सिद्ध किया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समयसार में दर्शन

समयसार में आचार्य कुन्दकुन्द ने अनेक स्थलों पर दर्शन के माध्यम से शुद्धात्मा को प्रदर्शित किया है। वे इस प्रकार हैं—

1. समयसार गाथा 5 में आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि मैं अनुभव, युक्ति और आगम रूप अपने वैभव से उस एकत्व-विभक्त शुद्धात्मा को दिखाऊँगा। यदि दिखाऊँ तो उसे प्रमाण (सत्य) स्वीकार करना और कहीं चूक जाऊँ तो छल नहीं समझना। यहाँ उन्होंने शुद्धात्मा को दिखाने के लिए अनुभव (प्रत्यक्ष), युक्ति (अनुमान) और आगम इन तीन प्रमाणों को स्पष्ट स्वीकार किया है। उनके कुछ ही उत्तरवर्ती आचार्य गृद्धपिच्छ[20] और स्वामी समन्तभद्र[21] जैसे दार्शनिकों ने भी इन्हीं तीन प्रमाणों से अर्थ (वस्तु) का प्ररूपण माना है और उसे भगवान् महावीर का उपदेश कहा है। कुन्दकुन्द ने उक्त कथन में स्पष्ट तथा दर्शन की पुट समाविष्ट है और यह तथ्य है कि दर्शन बिना प्रमाण के आगे नहीं बढ़ता।

2. आचार्य कुन्दकुन्द गाथा 3 में बतलाते हैं[22] कि प्रत्येक पदार्थ अपने एकपने में सुन्दर, स्वच्छ, अच्छा-भला है और इसलिए लोक में सभी पदार्थ सब जगह अपने एकपने को प्राप्त होकर सुन्दर बने हुए हैं। किन्तु उस एकपने के साथ दूसरे का बन्ध होने पर झगड़े होते हैं और उसकी वह सुन्दरता (स्वच्छपना-एकपना) नष्ट हो जाती है। वास्तव में मिलावट असुन्दर होती है, जिसे लोक भी पसन्द नहीं करते और अमिलावट (निखालिस-एकपना) सुन्दर होती है, जिसे सभी पसन्द करते हैं। यह सभी के अनुभव सिद्ध है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि जब सब पदार्थों का एकत्व ही सुन्दर है तो एकत्व-विभक्त आत्मा सुन्दर क्यों नहीं होगा?

3. जब कुन्दकुन्द से किसी शिष्य ने प्रश्न किया कि वह एकत्व-विभक्त शुद्ध आत्मा क्या है? तो वे उसका उत्तर देते हुए कहते हैं[23] कि जो न अप्रमत्त है — अप्रमत्त आदि अयोगी पर्यंत गुणस्थानों वाला है और न प्रमत्त है— मिथ्यादृष्टि आदि प्रमत्त पर्यंत गुणस्थानों वाला है, मात्र ज्ञायक स्वभाव पदार्थ है, वही एकत्व-विभक्त शुद्धात्मा है। उसके ज्ञान, दर्शन और चारित्र का भी उपदेश व्यवहारनय से है, निश्चयनय से न ज्ञान है, न चारित्र है और न दर्शन है। वह तो एक शुद्ध ज्ञायक ही है। कुन्दकुन्द का यह गुणस्थान-विभाग और नय-विभाग से कथन आगम प्रमाण पर आधारित है।

4. वह शिष्य पुनः प्रश्न करता है कि हमें एक मात्र परमार्थ (निश्चयनय) का ही उपदेश दीजिए, व्यवहारनय की चर्चा यहाँ (एकत्व-विभक्त शुद्ध आत्मा के प्रदर्शन में) अनावश्यक है, क्योंकि वह परमार्थ का दिग्दर्शक नहीं है? इसका उत्तर आचा॰ कुन्दकुन्द एक उदाहरणपूर्वक देते हुए व्यवहारनय की आवश्यकता प्रकट करते हैं[24]- जैसे अनार्य (म्लेच्छ) को उसकी म्लेच्छ भाषा के बिना वस्तु (अनेकान्तादि) का स्वरू॰ समझाना अशक्य है और उसकी भाषा बोलकर उसे उसका स्वरूप समझाना शक॰

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। उसी प्रकार संसारी जीवों को व्यवहारनय के बिना एकत्व-विभक्त शुद्धात्मा का स्वरूप समझाना भी अशक्य है, इसलिए उसकी आवश्यकता है। सर्वविदित है कि पानी पीने के लिंए लोटा, गिलास, कटोरी आदि पात्रों की आवश्यकता रहती है और पानी पी लेने के बाद उनकी आवश्यकता नहीं रहती। यहाँ कुन्दकुन्द ने अनुमान के एक अवयव उदाहरण को स्वीकार कर स्पष्टतया दर्शन का समावेश किया है।

5. यों तो अध्यात्म में निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों को यथास्थान महत्त्व प्राप्त है किन्तु अमुक अवस्था तक व्यवहार ग्राह्य होते हुए भी उसके बाद वह छूट जाता है या छोड़ दिया जाता है। निश्चयनय उपादेय है। व्यवहार जहाँ अभूतार्थ है वहाँ निश्चयनय भूतार्थ है। इस भूतार्थ का आश्रय लेने से वस्तुतः जीव सम्यग्दृष्टि होता है।[25] आचार्य कुन्दकुन्द ने गाथा 11 व 12 में यही सब प्रतिपादन किया है। यहाँ भी उनका स्याद्वाद समाहित है, जो तीर्थंकरों का उपदेश है। यहाँ हम आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा व्याख्या (गाथा 12) में उद्धृत एक प्राचीन गाथा को देने का लोभ संवरण नहीं कर सकते। वह इस प्रकार है :–

जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहार-णिच्छए मुयह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं।।

यदि जिनमत की प्रवृत्ति चाहते हो, तो व्यवहार और निश्चय दोनों को मत छोड़ो। व्यवहार को छोड़ देने पर तीर्थ का उच्छेद हो जायेगा और निश्चय को छोड़ देने पर तत्त्व (स्वरूप) का नाश हो जायेगा। अतः दोनों नय सम्यक् हैं और ग्राह्य हैं।

6. यथार्थ में नयों के द्वारा वस्तु को समझना और समझाना भी दर्शनशास्त्र का विषय है। आचार्य गृद्धपिच्छ ने **प्रमाणनयैरधिगमः** (तत्त्वार्थसूत्र 1-6) द्वारा स्पष्ट बतलाया है कि जहाँ प्रमाण वस्तु को जानने का साधन है वहाँ नय भी उसे जानने का साधन है और इसलिए प्रमाण और नय दोनों को न्याय कहा गया है।[26] दोनों में अन्तर यही है कि प्रमाण अखण्ड वस्तु (धर्मी) को ग्रहण करता है और नय उसके अंशों (धर्मो) को विषय करता है। अतः कुन्दकुन्द का निश्चय और व्यवहारनयों द्वारा विवेचन दार्शनिक दृष्टि को प्रदर्शित करता है। वे कहते हैं कि व्यवहारनय तो जीव और देह को एक कहता है, पर निश्चयनय कहता है कि जीव और देह ये दोनों कभी एक पदार्थ नहीं हो सकते।[27]

7. शिष्य पूछता है कि आत्मा में कर्म बद्धस्पृष्ट है या अबद्धस्पृष्ट? इसका कुन्दकुन्द नय-विभाग से उत्तर देते हैं[28] कि जीव में कर्मबद्ध (जीव के प्रदेशों के साथ बँधा हुआ) है और संयोग होने से लगा हुआ है, ऐसा व्यवहारनय कहता है तथा जीव में कर्म न बँधा हुआ है और न लगा हुआ है, ऐसा शुद्धनय बतलाता है। यहाँ भी आचार्य कुन्दकुन्द शिष्य के प्रश्न का समाधान नयविभाग (स्याद्वादसरणि) से देते हैं। इससे उनकी यहाँ भी दार्शनिकता स्पष्ट विदित होती है। इसके सिवा एक महत्त्वपूर्ण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बात वे यह कहते हैं[29] कि जीव में कर्म बँधे हुए हैं और नहीं बँधे हुए हैं, ये दोनों एक-एक पक्ष (नय दृष्टियाँ) हैं, किन्तु जो इन दोनो पक्षों से अतीत (रहित) है, वही समयसार (शुद्ध आत्मतत्त्व) है।

8. आचार्य कुन्दकुन्द भेदविज्ञान की सिद्धि करते हुए कहते हैं[30] कि उपयोग में उपयोग है, क्रोधादिक में उपयोग नहीं है, वास्तव में क्रोध में ही क्रोध है, उपयोग में क्रोध नहीं है, आठ प्रकार के कर्मों में तथा शरीर आदि नोकर्मों में भी उपयोग नहीं है और उपयोग में कर्म तथा नोकर्म भी नहीं हैं। जिस काल में ऐसा यथार्थ ज्ञान होता है उस काल में उपयोग स्वरूप शुद्धात्मा उपयोग के सिवा अन्य कुछ भी भाव नहीं करता। ऐसा भेदविज्ञान ही अभिनन्दनीय है और इस भेदविज्ञान से ही उसी प्रकार शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है जिस प्रकार अग्नि से तपा हुआ भी सोना अपने स्वर्ण स्वभाव को नहीं छोड़ता। ज्ञानी जीव भी कर्मोदय से तप्त होने पर भी अपने ज्ञान स्वभाव को नहीं छोड़ता। सच तो यह है कि जीव शुद्ध को जानेगा तो शुद्ध की ही उपलब्धि होगी और यदि वह अशुद्ध को जानता है तो उसे अशुद्ध आत्मा की ही प्राप्ति होगी। यह और आगे जितना और जो भी कुन्दकुन्द का चिन्तन है वह सब दर्शन है– दर्शनशास्त्र है।

9. शिष्य प्रश्न करता है कि बन्ध कैसे टूटता है? आचार्य कुन्दकुन्द उसका उत्तर देते हुए कहते हैं[31] कि बन्ध न तो उसके स्वरूपज्ञान से टूटता है और न उसकी चिन्ता करने से वह नष्ट होता है। अपितु जैसे बन्धन में बँधा हुआ पुरुष उस बन्धन को तोड़ कर ही मुक्त होता है, उसी प्रकार जीव भी कर्म के बन्धन को छेदकर ही मुक्ति प्राप्त करता है। यहाँ उन्होंने आचरण पर पूरा बल दिया है।

10. आत्मा के कर्तृत्व को लेकर श्रमणों में अनेक मत प्रचलित थे। उन सबकी समालोचना कुन्दकुन्द ने गाथा 321, 322 और 323 में की है और कहा है कि ऐसा मानने पर लोक और श्रमणों के कथन में क्या भेद रहेगा? लोक विष्णु को कर्ता मानते हैं और श्रमण आत्मा को। और इस प्रकार दोनों को ही मोक्ष संभव नहीं। कर्म में कर्तृत्व मानने पर सांख्य मत के प्रसंग का दोष देकर सांख्य मत को भी उन्होंने प्रदर्शित किया है।[32] कहा है कि– **तेसिं पयडी कुव्वइ अप्पा य अकारया सव्वे।** प्रकृतिःकर्त्री पुरुषस्तु अकर्ता– प्रकृति कर्त्री है और पुरुष (आत्मा) अकर्त्ता है। कई मतों का और भी कुन्दकुन्द ने दिग्दर्शन कराया है। इसी प्रकरण में वे पुनः सांख्यमत को दिखाते हुए कहते हैं[33] कि जो करता है वह वेदन नहीं करता– भोक्ता नहीं है। क्षणिकवादी बौद्धों का भी मत देते हैं।[34] 'अन्य (क्षण) करता है और अन्य (क्षण) भोगता है, ऐसे लोगों को क्या कहा जाय? उन्हें सत्य के परे ही जानना चाहिए।

इस प्रकार समयसार में जहाँ एक अध्यात्म पृष्ठ है वहाँ हम दूसरा दार्शनिक पृष्ठ भी देखते हैं। वस्तुतः बिना दर्शन के अध्यात्म को न समझा जा सकता है और न उसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राप्त किया जा सकता है। कुन्दकुन्द का चिन्तन समयसार में इतना गाढ़ा हो गया है और लगता है कि इसे उन्होंने जीवन के अन्त में तब बनाया है जब वे इसके पूर्व कई ग्रन्थ रच चुके थे और समकालीन दार्शनिक मान्यताओं को अच्छी तरह अभ्यस्त कर चुके थे। तभी वे इसमें अपने समग्र मुनि-जीवन और आगमाभ्यास से अर्जित अनुभव को अस्खलित भाव से विन्यास कर सके। यह निःसन्देह अमृत-कलश है।

सन्दर्भ

1. वन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्दः कुन्दप्रभा-प्रणयि-कीर्ति-विभूषिनाशः।
यश्चारुचारण-कराम्बुज-चंचरीकश्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम्।।
—श्रवणबेलगोला, चन्द्रगिरि-शिलालेख

................कोण्डकुन्दो यतीन्द्रः।।
रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्तर्बाह्येऽपि संव्यंजयितुं यतीशः।
रजः पदं भूमितलं विहाय चचार मन्ये चतुरंगुलं सः।।
—श्रवणबेलगोला, विन्ध्यगिरि-शिलालेख

2. डॉ. दरबारीलाल कोठिया, 'आचार्य कुन्दकुन्द का प्राकृत वाङ्मय और उनकी देन शीर्षक लेख, जैन दर्शन और प्रमाण शास्त्र परिशीलन, पृष्ठ 24 से 30; वी.से.म. ट्रस्ट
3. मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्।। —शास्त्र प्रवचन का मंगलाचरण पद्य
4. वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गदिं पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवलीभणिदं।। —समयपाहुड, गाथा 1
5. जो समयपाहुडमिणं पढिदूण य अत्थतच्चदो णादुं।
अत्थे ठाहिदि चेदा सो होहिदि उत्तमं सौक्खं।। —वही, गाथा 415
6. पासंडिय लिंगेसु व गिहिलिंगेसु व बहुप्पयारेसु।
कुव्वंति जे ममत्तं तेहि ण णादं समयसारं।। —वही, गाथा 413
7. नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे।।—अमृतचन्द्र, आत्मख्याति, मंगलाचरण, पद्य 1
8. वही, मंगलाचरण, पद्य 3
9. .....समयप्रकाशकस्य प्राभृताह्वयस्यार्हत्प्रवचनावयवस्य स्वपरयोरनादिमोहप्रहाणाय भाववाचा द्रव्यवाचा च परिभाषणमुपक्रम्यते। —वही, गाथा 2 की व्याख्या।
10. .....न खलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति।
—वही, कलश 244, समयपाहुड गाथा 413, 414 की आत्मख्याति।
11. वीतरागं जिनं नत्वा ज्ञानानन्दैकसम्पदम्।
वक्ष्ये समयसारस्य वृत्तिं तात्पर्यसंज्ञिकाम्।। —जयसेन, तात्पर्यवृत्ति, गाथा 1, मंगलाचरण
12. प्राभृतं सारं सारः शुद्धावस्था, समयस्यात्मनः प्राभृतं समय प्राभृत।
—वही, तात्पर्यवृत्ति, गाथा 1, व्याख्या
13. समयपाहुड गाथा 410, 411

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

14. वही, गाथा 1
15. वही, गाथा 5
16. जयसेन, तात्पर्यवृत्ति, गाथा 5
17. श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येयं एते दर्शनहेतवः।।
आत्मा वाऽरे श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। —उप. वाक्य
18. दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि।। —ईश्वरकृष्ण, सांख्य कारिका 4
19. अनन्तवीर्य, प्रमेयरत्नमाला 1-1।
20. मतिश्रुतावधिमनःपर्यय केवलानि ज्ञानम्, तत्प्रमाणे, आद्ये परोक्षम्, प्रत्यक्षमन्यत्, श्रुतंमतिपूर्वं।
—तत्त्वार्थसूत्र 1/11-20
21. दृष्टाऽऽगमाभ्यामविरुद्धमर्थप्ररूपणं युक्त्यनुशासनं ते। —युक्त्यनुशासन कारिका, 48
22. एयत्तणिच्छयगओ समओ सव्वत्थ सुंदरो लोए।
बंधकहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होई।। 3।।
23. ण वि होदि अपमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव।। 6।।
ववहारेणु वदिस्सइ णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं।
ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो।। 7।।
24. जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेउं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं।। 8।।
25. ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो।। 11।।
26. प्रमाणनयात्मको न्यायः। —धर्मभूषण, न्यायदीपिका, पृष्ठ 5
27. ववहारणओ भासदि जीवो देहो य हवदि खलु एक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एक्कट्ठो।। —समयपाहुड, गाथा 27
28. जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवदि कम्मं।। —वही, गाथा 141
29. कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एदं तु जाण णयपक्खं।
णयपक्खातिक्कंतो भण्णदि जो सो समयसारो।। —वही, गाथा 142
30. वही, गाथा 181, 182, 183, 184, 186
31. वही, गाथा 288, 289, 290, 291, 292
32. वही, गाथा 340 एवं संखुवदेसं जेउ परूविंति एरिसं समणा।
33. वही, गाथा 347
34. वही, गाथा 348

❖❖

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समयसार में नय व्यवस्था

✍ पं. जगन्मोहनलाल शास्त्री

आचार्यों ने 'वस्तु स्वभावो धर्मः' वस्तु के स्वभाव को धर्म कहा है। अतः आत्म स्वभाव ही आत्म धर्म है। धर्म का मूल आत्मदर्शन या स्वभाव संवेदन स्वरूप सम्यग्दर्शन है। इसके बिना ज्ञान को अज्ञान कहा है। जिसे यह पता नहीं कि– मैं कौन हूँ; मेरा स्वरूप क्या है, व उद्देश्य भी क्या है? तथा सुख क्या है; दुःख क्या है, इन दोनों के कारण क्या हैं; मैं कहाँ से आया हूँ और कहाँ जाना है– वह जीव न तो धर्मात्मा बन सकता और न आत्म कल्याण ही कर सकता। वस्तुतः आत्मदृष्टा ही सम्यग्दृष्टि है। जब कोई सम्यग्दृष्टि योगी अपनी विकल्परहित समाधि में शुद्धात्मा का अनुभव करता है तब उसे एकमात्र आत्मदर्शन ही होता है जिसे अमृतचन्द्राचार्य ने– 'भाति न द्वैतमेव' शब्दों द्वारा व्यक्त किया है। कहा जा सकता है कि यह तो वेदांतियों की तरह अद्वैतवाद हुआ। दोनों में क्या अन्तर हैं? समाधान यह है कि वेदांती सब पदार्थों को स्वीकार कर भी उनका अस्तित्व स्वतन्त्र नहीं मानता; किन्तु ब्रह्म (आत्मा) की सत्ता में ही इनको समाहित करता है? उनका सिद्धान्त इस श्लोक में निबद्ध है–

सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन।
आरामं तस्य पश्यंति न तं पश्यति कश्चन।।

भावार्थ— ब्रह्म (आत्मा) ही एक अद्वितीय तत्त्व है। उससे भिन्न अन्य पदार्थ नहीं है। लोग उसके इन (पर्यायों) अंशों को देखते हैं पर उसे कोई नहीं देखता।

यदि जैन प्रक्रिया को देखें तो उसका अद्वैत आत्मा तो एकत्व विभक्त है अर्थात् आत्मा तो स्वयं एक (अद्वैत) है किन्तु वह स्वभिन्न सम्पूर्ण जगत से विभक्त (भिन्न) है। जैन-प्रक्रिया में पर के अस्तित्व का निषेध नहीं है; किन्तु सम्पूर्ण पर जड़चेतन पदार्थों से भिन्न आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकृत है। अतः वह एक (अद्वैत) दूसरों से भिन्न सत्तात्मक वस्तु है। विभक्त शब्द ही अन्य द्रव्यों की आत्मभिन्न सत्ता को स्वीकार करता है। जैन सिद्धान्त आत्म सत्ता में नाना सत्ताएँ नहीं मानता; किन्तु पर पदार्थों की सत्ता आत्मा की सत्ता से भिन्न है– ऐसा स्वीकार करता है। अतः वेदान्त के अद्वैत और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समयसार में वर्णित आत्मा के अद्वैत में सर्वथा भेद है। दोनों एक रूप नहीं हैं।

समयसार में कुछ स्थल ऐसे हैं जिनमें अनेक पाठक संशय में पड़ जाते हैं। उनका स्पष्टीकरण आवश्यक है।

(1) प्रथम जीवाजीवाधिकार में जैसे पर्याप्त-अपर्याप्त, द्वीन्द्रियादि, कर्मोदय जन्य पर्यायों को जीव नहीं कहा। इसी प्रकार गुणस्थानों को भी शुद्ध चैतन्य से भिन्न अचेतन कहा। यहाँ यह शंका होती है कि गुणस्थानों में सयोग केवली (अरिहन्त) परमात्मा भी हैं, तो क्या वे अचेतन हैं?

समाधान— मोह और योग ये दो कारण गुणस्थानों के दर्शाये गये हैं। इनमें प्रारम्भ के 10 गुणस्थान तो मोह के अंशांश उदय रूप हैं। 11वाँ उपशम व 12वाँ क्षय रूप है।13वाँ, 14वाँ घातिया कर्मों के क्षय रूप हैं तथा चार अघातियों के उदयरूप भी हैं। इन सब अवस्थाओं में वे योग रूप प्रत्यय को प्राप्त हैं तथा अघातियों के उदय रूप अवस्था को भी प्राप्त हैं। शेष अवस्था में कर्म की किसी भी अवस्था का संबंध चल रहा है। यह गुणस्थान आत्मा के परम पारिणामिक भाव स्वरूप विशुद्ध चैतन्य से भिन्न है जो शुद्ध चैतन्य नहीं है वह उसकी दृष्टि में अचेतन है किन्तु व्यवहार से सभी गुणस्थान चेतन (जीव) के ही हैं। रागादि भावों को भी इसी दृष्टि से अचेतन लिखा तथा उन्हें जड़ श्रेणी में डाला है। यद्यपि रागादि पुद्गलोपादान नहीं हैं– जीवोपादान हैं; परन्तु उनको यहाँ निमित्त भूत कर्म की अपेक्षा तथा शुद्ध चैतन्य से सर्वथा भिन्न होने की अपेक्षा (इन दो हेतुओं से) पुद्गल से गिनाया है। इसका यह अर्थ नहीं कि उन रागादि में रूप, रस, गंध स्पर्शादि गुण हैं– अतः वे पुद्गल द्रव्य हैं। मात्र शुद्ध निश्चय से जीव स्वभाव को देखें तो शुद्ध चैतन्य से भिन्न होने से अचेतन कहे गये हैं। इस प्रकार विषय को समझकर उक्त प्रसंग का परिज्ञान करना चाहिए।

(2) व्यवहार नय अभूतार्थ और निश्चयनय भूतार्थ है। इस कथन को लेकर भी विसंवाद होता है। भूतार्थ अर्थात् सत्यार्थ और अभूतार्थ अर्थात् असत्यार्थ कहने से व्यवहार असत्यार्थ (झूठा) है तब मार्गणा, गुणस्थान, जीवसमासादि संसारी जीव का सब वर्णन असत्यार्थ माना जाएगा और इनके प्रतिपादक करणानुयोग के सभी शास्त्र भी मिथ्या ठहरेंगे।

समाधान— भूत शब्द के अर्थों में अनेकता है। 'भूतं हितं सत्य च' अर्थात् हितार्थ भी भूतार्थ है और सत्यार्थ भी भूतार्थ है। यहाँ निश्चय का विषय शुद्धात्मा का परिज्ञान और परिग्रहण जीव के हित में है। कारण यह जीव का त्रिकालस्वरूप है जबकि व्यवहार नय से कथित सब पर्यायाश्रित होने से नाशवान् है। उसमें ओत-प्रोत जो विशुद्ध आत्मा उसका दर्शन ही उपादेय है– आत्मार्थ है। संसारी जीव की पर्यायें कर्मनिमित्तिक पर्यायें हैं। वे छोड़नी हैं, अनुपादेय हैं। अतः इनको अहितार्थ होने से अभूतार्थ कहा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दूसरी दृष्टि से विचार करें तो व्यवहार स्वाश्रित परनिरपेक्ष शुद्ध पदार्थ को विषय नहीं करता अतः वह असत्यार्थ, अभूतार्थ, अयथार्थ व अपरमार्थ है। जिस कर्म के संबंध से जीव की संसारी अवस्थाएँ हैं, वे सब शुद्ध जीव की सत्ता से भिन्न हैं अतः सत्ता से युक्त सत्यार्थ और जीव की सत्ता से भिन्न होने से असत्यार्थ हैं। न वे परमार्थ हैं और न यथार्थ हैं। परम अर्थ तो शुद्ध चैतन्य है। देहादि व रागादि परम अर्थ रूप शुद्ध जीव से भिन्न होने से अपरमार्थ हैं इसलिये इनको असत्यार्थ कहा गया है। यथा– जैसा, अर्थ-पदार्थ, वैसा न कहने का नाम अयथार्थ है।

तीसरी दृष्टि से विचार करें तो निश्चय व्यवहार का लक्षण निम्न प्रकार भी है– 'स्वाश्रितो निश्चयः पराश्रितो व्यवहारः' अर्थात् स्वाश्रित वस्तु का कथन निश्चय नय है और पराश्रित कथन अर्थात् उसी वस्तु का (जीव का) पराश्रित (देहाश्रित या कर्माश्रित) वर्णन व्यवहार है।

जीव मोक्ष प्राप्त करना, छूटना चाहता है तब यह स्वयं सिद्ध है कि देहादि नोकर्म और कर्म जन्य अवस्थाएँ उसके लिए हेय हैं। फलतः उनके (देहादि के) आश्रित वर्णन करने वाला व्यवहार भी निश्चय दृष्टि में हेय है। तथापि जब तक उक्त परमार्थ को पूर्णतया नहीं समझा जाता है, तब तक निश्चय के विषय भूत परमार्थ की प्राप्ति के लिए व्यवहार का आश्रय लेना भी आवश्यक है। अतः कहा जा सकता है कि निश्चय का विषय भूत, शुद्धात्मा सर्वथा उपादेय है और व्यवहार का विषय अवस्था विशेष में (प्राथमिक अवस्था में) परमार्थ को समझने के लिए कथंचित् उपादेय है। वही निश्चय तत्त्व की दृष्टि प्राप्त होने पर हेय है।

(3) पुण्य पापाधिकार में दोनों बंध की दृष्टि से समान हैं। तथापि– पाप सर्वथा हेय है। पुण्य यदि आत्म विशुद्धि में साधन बना लिया जाए तो वह परम्परा परमार्थ का साधक माना जाता है। पर है वह साक्षात बंध रूप ही। कुछ परिग्रही परिग्रह को अपने पुण्य का फल मानकर उन्मत्त हो जाते हैं। उन्हें पता नहीं कि उस पुण्य फल को रत होकर भोगने में पाप का ही बंध है। यदि पुण्योदय से मानव पर्याय, जैनधर्म, सुबुद्धि, निरोगतादि पाई है तो उसका उपयोग विषय भोगों को त्याग कर आत्मशुद्धि हेतु धर्माराधन में करें– वही उसका सदुपयोग है, अन्यथा दुरुपयोग करने में तो पाप बंध का हेतु ही सिद्ध होगा। पुण्य मोक्ष का कारण है– यह मान्यता गलत है। भगवान् अरिहन्त तेरहवें गुणस्थान को प्राप्त होकर भी सातिशय पुण्योदय के कारण तब तक मुक्ति की प्राप्त नहीं होते तब तक कि वे उन पुण्य प्रकृतियों की निर्जरा नहीं कर देते। इसलिए पुण्य विषयक यथार्थ स्थिति समझना योग्य है।

(4) 'सम्यक्त्वी के भोग निर्जरा हेतु हैं।' यह वाक्य एक हिन्दी कविता में आया है और वह समयसार की गाथा 193-194 के आधार पर है पर वहाँ भोग का अर्थ इन्द्रिय-विषय भोग न होकर कर्मदण्ड (कर्मफल) का भोग है। सम्यक्त्वी पुण्योदय के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भोगों को कर्म दण्ड मान कर उसे मोक्ष प्राप्ति में बाधक ही मानता है, जब तक कोई कर्मफल भोगों में मग्न रहेगा, मोक्ष उससे दूर ही रहेगा। पूजाओं में, भजनों में, जकड़ी में, स्तुतियों में, छहढाला व अन्य ग्रन्थों में भी पुण्य-पाप को आत्मा के लिए संसार का कारण माना व दर्शाया है।

(5) सम्यक्त्वी (सम्यग्दृष्टि) का ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। अपार जिनागम का पठन-पाठन करने वाला गृहस्थ हो या साधु; किन्तु सम्यग्दर्शन के बिना वह अज्ञानी ही माना जाएगा—ज्ञानी नहीं। सम्यग्दृष्टि उदयागत कर्मदण्ड को चूँकि सम भावों से भोगता है— कर्मोदय में तन्मय होकर उसमें रस नहीं लेता अतः उसके भोग (कर्म के भोग) निर्जरा के हेतु होते हैं जब कि मिथ्यादृष्टि अज्ञानी पुण्य फल में राग और पाप फल में द्वेष कर संक्लेश भावों के द्वारा नवीन कर्म का बंध कर लेता है। वस्तुतः सम्यग्दृष्टि मोक्ष के सुखों का बाधक होने से संसार के सुख के कारण वैभव व उसके कारण पुण्य बंध की इच्छा नहीं करता। वह तो बंधन मुक्त होना चाहता है। गाथा 209-210 में (निर्जराधिकार में) स्पष्ट निर्देश है।

(6) ग्रन्थ में जितना महत्त्व सम्यक्त्व का दर्शाया है उससे अधिक सम्यक्त्व पूर्वक चारित्र का प्रतिपादित है; क्योंकि सम्यग्दृष्टि को वस्तु तत्त्व की यथार्थता ज्ञात है; किन्तु यदि वह तदनुसार आचरण नहीं करेगा तो बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। इसलिए केवल सम्यक्त्व की महिमा जानकर अपने को सम्यक्त्वी मानने वाले को मोक्षमार्गी नहीं माना जा सकता। न ही मात्र शास्त्र पठन-पाठन की विशेषता से सम्यग्ज्ञानी माना और न मिथ्यादृष्टि एवं अभव्य को केवल महाव्रतादि के पालन से सम्यक्चारित्री माना है। (गाथा 273) सम्यक् रत्नत्रय की एकता ही मोक्ष की साधक है।

(7) सम्यग्दृष्टि को आस्रव बंध नहीं होता—संवरपूर्वक निर्जरा कही गई है। यह कथन पूर्ण वीतराग सम्यग्दृष्टि को ही लागू होता है। उससे निचली अवस्था में चतुर्थ गुण स्थान तक के सभी जीव यद्यपि सम्यग्दृष्टि हैं और उन्हें संवर निर्जरा भी होती है परन्तु जिसके जितनी-जितनी कषायों व मोह का अभाव है उसके उतनी ही परिणामों की विशुद्धि है उसी से आंशिक संवर निर्जरा भी है और जितने अंशों में जिसके जितनी कषायें हैं उसके उसी मात्रा में बन्ध भी होता है। अतः आगम द्वारा वस्तु स्वरूप एवं कथन की गहराई को समझना और तदनुसार श्रद्धान करना उचित है। अन्यथा भ्रम में पड़ जाने से अपना अहित ही होगा। मुक्ति मार्ग में पथिक को सम्यग्दर्शन होना आवश्यक है और सम्यक्चारित्र भी। पर इनका जिसको अहंकार है उनको न सम्यक्त्व है और न चारित्र है। अतः मिथ्या अहंकार अकल्याणकारक है।

(8) इस ग्रन्थ में एक प्रकरण (गाथा 306-307) प्रतिक्रमण के संबंध में आया है— जहाँ प्रतिक्रमण को विष कुम्भ एवं अप्रतिक्रमण को अमृतकुंभ कहा है। इसे देख कर एक बार ऐसा लगता है कि यह कथन सिद्धान्त के विपरीत है। प्रतिक्रमण तो मुनियों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को करना ही चाहिए। मुनि-धर्म प्रतिपादक सभी ग्रन्थों में मुनि के षड्आवश्यक कर्मों में इसकी गणना है। तब यहाँ उसे विष कुंभ क्यों लिखा? प्रतिक्रमण न करने वाले साधु का मुनिधर्म सदोष माना गया है जब कि यहाँ अप्रतिक्रमण को अमृतकुंभ लिखा है।

समाधान– अप्रतिक्रमण दो अवस्थाओं में होता है। (1) प्रथम दोष करै और प्रतिक्रमण न करै, इस सदोष अवस्था में अप्रतिक्रमण तो विष कुंभ ही है। (2) दूसरा अप्रतिक्रमण वह है जहाँ कोई दोष ही नहीं करै। जिसने दोष ही नहीं किया वह मुनि निर्दोष है, वह प्रतिक्रमण क्यों और किसका करेगा? दोषों का ही तो प्रतिक्रमण होता है। निर्दोष वर्तन करने वाला साध प्रतिक्रमण नहीं करता। यह दूसरे प्रकार का अप्रतिक्रमण तो सचमुच अमृत कुंभ है। इसका विस्तृत विवेचन श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्य ने अपनी टीका के काव्य 188 में भली भाँति किया है तो वहाँ से जाना जा सकता है।

समयसार एक सर्वोच्च कोटि का आध्यात्मिक ग्रन्थ है। आत्मा के उत्थान के लिए आध्यात्मिक ग्रन्थों का पठन-पाठन करना अत्यन्त आवश्यक है। आज इनके अध्ययन के अभाव में उनका रहस्य छिपा हुआ है। इस सन्दर्भ में सैद्धान्तिक रहस्य समझने के लिए नयों का ज्ञान होना भी अनिवार्य है, क्योंकि जैन शास्त्रों में विषय का प्रतिपादन किसी नय की मुख्यता एवं अन्य नयों की गौणता से किया गया है। कौन सी बात किस नय की मुख्यता से कही गई है– इस बात को नयज्ञान के अभाव में न समझ पाने के कारण पाठक भ्रमित हो जाते हैं।

अनेक सुज्ञ पाठकों को अन्य अनुयोगों से अध्यात्म-विषयक वर्णन (द्रव्यानुयोग) विपरीत सा लगता है। इसका कारण यह है कि अन्य अनुयोगों में अध्यात्म का वर्णन गौण है और कर्मों के उदय से होने वाली जीवों की विविध अवस्थाओं का कथन मुख्य है। अतः वे व्यवहार नय की मुख्यता से लिखे गये हैं। जबकि अध्यात्म ग्रन्थों में निश्चय नय की दृष्टि प्रधान कथन है, अतः व्यवहार नय के कथन प्रधान ग्रन्थों को इनमें अभूतार्थ भी कहा गया है।

अतः यदि नय विवक्षा को समझ कर सभी ग्रन्थ पढ़े जावें तो परस्पर कोई विरोध नहीं है। अन्य अनुयोग जीव की संसारी दशा का ही तो वर्णन करते हैं, इसी अभिप्राय से कि जीव इन्हें समझकर इनसे विरक्त हो और आत्मकल्याण करने में प्रवृत्त हों। आध्यात्म-शास्त्र उन्हीं संसारी अवस्थाओं को एवं उनके नयों को हेय बताकर ऊपर उठने की बात कहते हैं व आत्मकल्याण करने की प्रेरणा देते हैं। इस प्रकार सभी अनुयोगों के शास्त्र अपनी-अपनी दृष्टि से आत्मोद्धार करने की प्रेरणा देने के कारण उपादेय है। अनुयोगों के उद्देश्य को समझ कर आत्महित के लिए सभी अनुयोगों का अध्ययन उपादेय है। केवल पक्षपात करते हुए दूसरों को उपदेश देने के लिए किसी भी अनुयोग का अध्ययन उपादेय नहीं है जैसा कि आज एकान्त ग्रहण हो रहा है।

❖❖

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रमाण और नय

✍ पं. नाथूराम डोंगरीय

स्वरूप से अनेकान्तात्मक (द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक) या सामान्य विशेषात्मक वस्तु के सर्वांगीण ज्ञान को प्रमाण कहते है तथा वस्तु के एकांगी (एकांशी) ज्ञान को नय कहते हैं। प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से प्रमाण के दो भेद हैं। बिना इन्द्रयों और मन की सहायता के आत्मिक शक्ति से होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है और इन्द्रियों व मन की सहयता से होने वाला ज्ञान परोक्ष कहा गया है। नय के भी दो भेद है– द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। जो परिणमनशील द्रव्य की पर्यायों को गौण कर अभेद रूप में एक अखंड द्रव्य की मुख्यता से वस्तु को ग्रहण करता है उसे द्रव्यार्थिक नय कहते हैं और पर्याय की मुख्यता से जो वस्तु को ग्रहण करता है उसे पर्यायार्थिक नय कहा जाता है। तात्पर्य यह कि एक ही वस्तु की नयों द्वारा द्रव्य और पर्याय रूप में जानकारी प्राप्त की जाती है जैसाकि वस्तु का स्वरूप है।

आगम ग्रन्थों में जिन्हें द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों के नाम से कहा गया है। उन्हीं नयों को समयसार व अन्य आध्यात्मिक ग्रन्थों में द्रव्यार्थिक नय को निश्चय तथा पर्यायार्थिक नय को व्यवहार के नाम से व्यवहृत किया गया है। यतः द्रव्य पर्याय सापेक्ष होता है (बिना पर्याय के द्रव्य नहीं रहता) और पर्याय द्रव्य सापेक्ष होती हैं (बिना द्रव्य के पर्यायें नहीं होती) अतः इनको ग्रहण करने या जताने वाले नय भी परस्पर में सापेक्ष रहकर ही श्रुतज्ञान प्रमाण के सत्यांश माने गये हैं– जैसा कि स्वामी समन्त भद्र ने कहा है–

'निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तुतेऽर्थकृत' अर्थात् यदि अन्य नय निरपेक्ष कोई नय है तो वह मिथ्या है और अन्य नय सापेक्ष वही नय कार्यकारी होने से सम्यक् है।

समयसार ग्रन्थ में निश्चय को भूतार्थ और व्यवहार को अभूतार्थ कहकर यह बताया गया है कि प्रायः सब संसार भूतार्थ (मूलवस्तु) के बोध से विमुख होकर अभूतार्थ दृष्टि (पर्याय विमूढ़) बना हुआ है (भूतार्थ शब्द दो शब्दों के योग से निष्पन्न होता है।– भूत–अर्थ। इनमें भूत शब्द के अनेक अर्थ हैं– द्रव्य, सत्य, हित, जीव, प्रेतयोनि, मूलतत्त्व, अतीतकाल आदि। इसी प्रकार अर्थ शब्द भी अनेक अर्थों में प्रयुक्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होता है– प्रयोजन, अभिप्राय, धन, हेतु, विषय आदि। इस ग्रन्थ में भूतार्थ शब्द का प्रयोग निश्चय नय के विशेषण के रूप में किस अभिप्राय से किया गया है? इस पर गंभीरता से विचार करने पर ऐसा स्पष्ट ज्ञात होता है कि भूत-द्रव्य है प्रयोजन जिसका वह भूतार्थ निश्चयनय है और अभूत पर्याय है प्रयोजन जिसका वह अभूतार्थ (व्यवहार) नय है। यतः द्रव्य ध्रुवरूप में सदा स्थिर रहता है (जीव-जीव के रूप में सदा बना रहता है) अतः वह निश्चय नय का विषय है। निश्-चय अर्थात् 'चयान्निष्क्रांतो इति निश्चयः' जिसका चय-नाश न हो वह निश्चय। इसके सिवाय पर्यायें सदा ही अभूत पूर्व होकर नई-नई उत्पन्न होती हैं। अतः वे अभूतपूर्व उत्पाद व्ययात्मक पर्यायें हैं विषय जिसका वह अभूतार्थ व्यवहार नय है। 'व्यवहरणं व्यवहारः' अर्थात् वस्तु की क्रियाशीलता की अभिव्यक्ति स्वरूप परिवर्तन का होना व्यवहार है। यह व्यवहार ही है विषय जिसका वह व्यवहार नय है। ये दोनों नय परस्पर सापेक्ष रहकर श्रुत प्रमाण के अंश हैं।

इस संसार में आत्मा बहुरूपिये की भाँति मनुष्य देव नारकी आदि अनेक रूपों (संयोगी पर्यायों) को धारण करता हुआ रागादि भावरूप परिणमन कर परिभ्रमण करता चला आ रहा है और इन्हीं संयोगी पर्यायों में आत्म भ्रान्तिवश अपने शुद्ध चित् स्वरूप (ज्ञायक भाव) को अनदेखा कर संयोगी पर्यायदृष्टि बना हुआ दुखी हो रहा है अतः उसे अपने शुद्ध ज्ञानमयी चित् स्वरूप का ज्ञान कराने के उद्देश्य से आचार्यश्री ने इस ग्रन्थ की रचना की है। जबकि अन्य आगम ग्रन्थों (गोम्मटसारादि तथा धवल, महाधवल, जयधवलादि) में जीव के ही शुभाशुभभावों एवं देवनारकादि संयोगी पर्यायों का व्यवहार नय प्रधान कथन कर आत्मा का ही बोध कराया गया है। दोनों नय परस्पर सापेक्ष रह कर एक ही वस्तु का द्रव्य और पर्याय के द्वारा उसका यथार्थ ज्ञान कराते हैं इसलिये वे श्रुतज्ञान के अंग हैं।

जैसे बहुरूपिया जब स्त्री वेश धारण कर आवे तब उसे स्त्री ही मान लेने वाला या सिपाही (सैनिक) के वेश में आने पर उसे सिपाही ही मान लेने वाला भ्रम में है तथा बहुरुपया भी यदि स्त्री वेश धारण कर स्वयं को स्त्री ही मान ले तो वह भी भ्रमित ही कहलायेगा–उसी प्रकार यह जीव भी अपने ज्ञानानंदमयी शुद्ध चित् स्वरूप को भूलकर स्वयं को क्रोधी, मानी या देव, नारकी आदि मानकर भ्रमित हो रहा है। अतः इस ग्रन्थ में आचार्यश्री ने शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से (भूतार्थनिश्चय से) आत्मा की ही जीवाजीवास्रवबंध, संवर निर्जरा मोक्ष पुण्य-पाप भावमयी नाना पर्यायों में आत्मद्रव्य की व्यापकता का अनुभव कर लेने को सम्यक्त्व निरूपित कर निश्चय व्यवहार का सुन्दर समन्वय करते हुए भगवान महावीर ने अनेकान्तात्मक सिद्धान्त को अभिव्यक्त किया है।

भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोंक्खो य सम्मत्तं।। –समयसार, 13

अर्थ :– शुद्ध निश्चयनय से जाने हुए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये नवतत्त्व सम्यक्त्व हैं (अभेदोपचार से सम्यक्त्व का विषय और कारण होने से सम्यक्त्व हैं अथवा शुद्धनय से नवतत्त्वों को जानने से आत्मा की अनुभूति होती है, अतः सम्यक्त्व हैं)।

इसके सिवाय इस ग्रन्थ में उक्त अभिप्राय से ही जीवाजीवाधिकार, कर्त्ता-कर्माधिकार, पुण्य-पापाधिकार आस्रव संवर निर्जरा बंध मोक्ष तथा सर्व विशुद्धि अधिकार नाम के अधिकारों की रचना कर उनमें अपनी पैनी दृष्टि से आत्मकल्याण करने के लिए आत्मा का संसार से मुक्ति पाने का तत्त्वज्ञान द्वारा सम्यक् उपाय दर्शाया है क्योंकि आत्मा का द्रव्य पर्यायमयी स्वरूप समझे बिना सम्यक्ज्ञान नहीं हो सकता।

भूत शब्द का अर्थ द्रव्य के अतिरिक्त सत्य भी है। तदनुसार निश्चय को सत्यार्थ एवं व्यवहार को असत्यार्थ के रूप में भी इसी समयसार की 11वीं गाथा की टीका में आचार्यश्री जयसेन ने उल्लेख किया है किन्तु आगे इसी गाथा की टीका में उक्त आचार्य ने ही गाथा का द्वितीय रूप में व्याख्यान करते हुए व्यवहार नय को भी भूतार्थ और अभूतार्थ के भेद से दो भागों में विभक्त किया है। वे लिखते हैं व्यवहार नय भी भूतार्थ (सद्भूत) और अभूतार्थ (असद्भूत) के भेद से दो भेद रूप है। उसी प्रकार निश्चयनय भी भूतार्थ (शुद्ध निश्चय) और अभूतार्थ (अशुद्ध निश्चय) के भेद से दो भागों में विभक्त है—उसके शब्द हैं—

'द्वितीय व्याख्यानेने पुनः ववहारो अभूदत्थो—व्यवहारोऽभूतार्थो भूदत्थो भूतार्थश्च देसिदा देशितः कथितः, न केवलं व्यवहारो देशितः शुद्धनिश्चयनयोऽपि। दुशब्दादयं शुद्धनिश्चयनयोऽपि द्विधा शुद्धनिश्चयाशुद्धनिश्चयभेदेन निश्चयनयोऽपि द्विधा इति नय चतुष्टयं।'
—समयसार, रायचन्द्र शास्त्रमाला, पृष्ठ 54

श्रीमदमृतचन्द्र स्वामी ने भी समयसार की 14वीं गाथा की टीका में व्यवहारनय के दृष्टि प्रधान कथन को कथंचित् भूतार्थ कहा है और शुद्ध निश्चय नय के दृष्टि प्रधान कथन को भी कथंचित् ही भूतार्थ कहा है। वे लिखते है— आत्मा का अबद्ध अस्पृष्ट, अनन्य, नियत अविशेष और असंयुक्तपना शुद्ध निश्चय की दृष्टि से विचारने पर भूतार्थ है और व्यवहार नय की दृष्टि से देखने पर बद्ध, स्पृष्ट, अन्य, अनियत, सविशेष और संयुक्तपना भी भूतार्थ है। क्योंकि वस्तु स्थिति ऐसी ही हैं।

यतः दोनों नयों के विषय भिन्न-भिन्न हैं, जो आत्मा के द्रव्य गुण पर्यायात्मक स्वरूप का ही अपनी-अपनी दृष्टि से मुख्य गौण कर आत्मा के अनेकातात्मक स्वरूप का प्रतिपादन करतें हैं (शुद्ध नय का विषय गुण पर्यायों को गौण कर एक अखंड नित्य चैतन्य स्वभावी आत्मा है—जबकि व्यवहार नय द्वारा द्रव्य दृष्टि को गौणकर पर्यायों और गुणों की मुख्यता से संसार दशा में आत्मा को बद्ध स्पर्श अनियतादि रूप में देखा और कहा जाता है) अतः अपने-अपने विषय को प्रतिपादक सापेक्ष उभय नय सत्यार्थ है।

एक सविशेष बात यह है कि प्रत्येक सुनय अपने विषय को मुख्य एवं अन्य के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषय को अंतरंग में सत्य स्वीकार करते हुए उसे गौण कर ही उसके प्रतिपादन करने का अधिकारी होता है। अन्य नय तथा उसके विषय के निषेध करने की न उसे कोई आवश्यकता होती है और न अधिकार ही होता है। जैन दर्शन के अनेकान्त सिद्धान्तानुसार सभी नयों में मैत्री भाव और परस्पर सापेक्षता स्वीकार की गई है। यदि कोई नय दूसरे नय का या उसके विषय का अहंकार या दुराग्रह वश निषेध करेगा या झुठलायेगा तो फिर वही नय सुनय न रहकर एकान्त मिथ्यात्व कहा जाएगा।

भूत शब्द का अर्थ हित भी है, अतः इस दृष्टि से कोई-कोई मनीषी केवल निश्चय नय को ही आत्महित कारक और व्यवहार को सर्वथा अहितकारक व हेय मानते देखे जाते हैं किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि अज्ञानियों को ज्ञानी बनाने हेतु प्रारम्भिक दशा में व्यवहार नय द्वारा ही तत्त्व का बोध दिया जाता और दिया जा सकता है तथा परमार्थ का प्रतिपादन भी व्यवहार नय द्वारा ही किया जाता है अतः प्रयोजनवान होने से सभी जीवों का (साधक दशा में) हितकारी भी वह स्वयं सिद्ध हो जाता है। यदि व्यवहार सर्वथा झूठा हो तो उसके द्वारा किया गया परमार्थ का प्रतिपादन भी असत्य ही ठहरेगा।

इसके सिवाय आचार्यश्री ने इसी ग्रन्थ की निम्नलिखित गाथा में निश्चय और व्यवहार के उपदेश के कौन पात्र हैं यह भी स्पष्ट कर दिया है– जिसकी आज के प्रवचनकार सर्वथा उपेक्षा कर रहे हैं।

सुद्धो सुद्धादेसो णादव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ठिदा भावे।। –समयसार, 12

अर्थ :– शुद्धात्मभाव के दर्शियों के द्वारा शुद्ध द्रव्य का कथन करने वाला शुद्धनय-निश्चयनय जानने योग्य है और जो जीव अशुद्ध भाव में (श्रावक की अपेक्षा शुभोपयोग में एवं प्रमत्त-अप्रमत्त की अपेक्षा भेदरत्नत्रय में) स्थित हैं, उनके लिए व्यवहारनय का उपदेश किया गया है।

अर्थात् परमभावदर्शियों को जो श्रद्धा ज्ञान चारित्र के धनी हैं व स्वानुभूति संप्राप्त है उन्हें शुद्ध का उपदेश करने वाला शुद्ध नय जानने योग्य है और शेष जो अपरमभाव स्थित प्रारम्भिक साधक दशा को प्राप्त हैं– पूर्ण श्रद्धाज्ञान चारित्र के धनी नहीं हैं उन्हें व्यवहार से उपदेश करना योग्य है।

आचार्यश्री के उक्त कथन से व्यवहार नय की हितकारिता भी सभी जीवों के हित में स्वयं सिद्ध हो जाती है; क्योंकि प्रारंभिक दशा में सभी जीव अपरमभावदर्शी ही रहा करते हैं तब उन्हें व्यवहार नय द्वारा उपदेश देकर परमार्थ सिखाया जाता है और इसी से धर्म तीर्थ की प्रवृत्ति भी लोक में हुआ करती है।

समयसार के टीकाकार आचार्य जिनसेन ने निश्चय और व्यवहार नयों को दो नेत्रों की उपमा दी है। जैसे एक नेत्र को बंद कर देखने से नाक की दूसरी ओर वाली

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वस्तु दिखाई नहीं देती–जिसका कि अस्तित्व है–उसी प्रकार एक नय से वस्तु का एक अंश ही ग्रहण करने में आता है–अन्य नहीं। जीवों का त्रिकाली जीवत्व सामान्य निश्चय का विषय है और उसमें गुणों के भेद एवं शुद्धाशुद्ध पर्यायें व्यवहार नय के विषय हैं। दोनों नयों से आत्मा और उसके गुण पर्यायों का स्वरूप जानना यथार्थ ज्ञान के लिये अनिवार्य है।

अनेक बंधु नयों के पक्षपातवश निश्चय निरपेक्ष व्यवहार या व्यवहार निरपेक्ष निश्चय के द्वारा ही आत्मानुभूति कर लेने का भ्रम पालते देखे जाते हैं; किन्तु निरपेक्ष उभय नयों द्वारा तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान और तत्पूर्वक आत्मानुभूति प्राप्त कर लेना संभव नहीं है।

इस सन्दर्भ में पंचाध्यायीकार ने शंका समाधान द्वारा ग्रन्थ में जो कथन किया है वह बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है–

ननु केवलमिह निश्चयनयपक्षो यदि विवक्षितो भवति।
व्यवहारान्निरपेक्षो भवति तदात्मानुभूतिः सः ।। 645 ।।
नैवमसंभवदोषाद्यतो न कश्चिन्नयोऽस्ति निरपेक्षः।
सति च विधौ प्रतिषेधेः प्रतिषेधः सति विधेः प्रसिद्धत्वात् ।। 655 ।।

अर्थात् (शंका) प्रश्न – यदि यहाँ केवल व्यवहार निरपेक्ष निश्चय नय का पक्ष ही विवक्षित हो तब आत्मानुभूति हो जाएगी क्या? (समाधान) उत्तर–असंभव दोष आने से ऐसा नहीं हो सकता; क्योंकि कोई सुनय निरपेक्ष नहीं होता। विधि रूप प्रधान कथन करने पर प्रतिषेध और प्रतिषेध करने पर विधि का होना निश्चित है।

प्रत्येक वस्तु के अनेकान्तात्मक होने से द्रव्य प्रधान अभेद कथन में गुण पर्यायें गौण हो जाती हैं और गुण पर्याय रूप भेद कथन में द्रव्य गौण हो जाता है। इसका यह अर्थ नहीं कि उसका या उनका सर्वथा अभाव हो जाता है– अन्य पक्ष की अविवक्षा होने से उसका विषय केवल गौण ही होता है। यतःसमग्र जैनदर्शन अनेकान्त और उसके स्याद्वाद रूप कथन से ओत–प्रोत है। अतः आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में ही किसी नय विशेष का पक्ष न लेकर उभय नयों से वस्तु का स्वरूप समझने का निर्देश देते हुए समयसार को नय पक्षातिक्रांत घोषित किया है। लिखते हैं–

दोण्ह वि णयाण भणिदं जाणदि णवरिं तु समयपडिबद्धो।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचि वि णयपक्खपरिहीणो ।। –समयसार, 143

अर्थ :– (श्रुतज्ञानी आत्मा) दोनों ही नयों के कथन को केवलमात्र जानता है। वह (सहज परमानन्दैक स्वभाव) आत्मा का अनुभव करता हुआ और समस्त नय पक्ष के विकल्पों से रहित हुआ किसी भी नयपक्ष को किंचिन्मात्र भी ग्रहण नहीं करता (आत्मानुभव के समय नयों के विकल्प दूर हो जाते हैं)।

अर्थात् आत्मोन्मुख साधक दोनों नयों से प्रतिपादित आत्मा के स्वरूप को जानता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है; किन्तु किसी नय का पक्षपात किंचित् भी नहीं करता; क्योंकि वह नयों के पक्षपात से रहित होता है; जबकि किसी भी नय का सर्वथा पक्ष लेना ही एकान्त मिथ्यात्व है।

इस सन्दर्भ में यह जिज्ञासा होना सम्भव है कि समयसार गाथा क्रमांक 273 में निश्चयनय द्वारा व्यवहार नय को प्रतिषिद्ध बताया गया है–

वदसमिदी गुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहि पण्णत्तं।
कुव्वंतो वि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु।।

अर्थ :– जिनेन्द्रदेव के द्वारा कथित व्रत, समिति, गुप्ति, शील और तप को करता हुआ भी अभव्य जीव अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ही है।

निश्चय नय के आश्रित मुनियों को निर्वाण का पात्र माना है और समयसार कलश टीका में अमृतचन्द्राचार्य ने श्लोक क्रमांक 173 में अन्याश्रित समस्त व्यवहार को त्याज्य बताकर संतों को निश्चय का आश्रय लेने की प्रेरणा की है।

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनै-
स्तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः।
सम्यङ्निश्चयमेकमेव तदमी निष्कंपमाक्रम्य किं
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नन्ति सन्तो धृतिम्।।

ऐसा क्यों? समाधान यह है कि किसको क्या त्याज्य (हेय) और किसको क्या उपादेय है–यह व्यक्ति की तत्कालीन योग्यता एवं परिस्थिति पर निर्भर है। उल्लिखित गाथा और कलश समयसार के बंध अधिकार में स्थित है। बंध से मुक्ति पाने के लिए मुनियों को शुद्धोपयोग की प्राप्ति हेतु पराश्रित शुभाशुभ विकल्पों (अध्यवसानों) को हेय जान त्याग करना जो कि व्यवहार नय के विषय है– आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है, अतः आचार्यश्री ने उनको त्याग करके शुद्धोपयोगी बनने की प्रेरणा की है। दूसरे शब्दों में पराश्रित समस्त विकल्पों को छोड़ स्वाश्रित निश्चय धर्म (ज्ञायक स्वभाव) का आश्रय लेकर निर्वाण प्राप्त करने की शिक्षा दी है।

उन्होंने यह नहीं कहा कि– व्यवहार नय के विषय भूत अध्यवसानों का अस्तित्व नहीं है वा व्यवहार नय मिथ्या है। नीचे (शुभोपयोग) की भूमिका से ऊपर उठकर मुनियों को शुद्धोपयोगी बनने और निर्वाण प्राप्त करने को प्रेरित किया है।

तात्पर्य यह कि वस्तु का यथार्थ एवं पूर्ण रूप जानने के लिए दोनों नयों का उपयोग करना चाहिए– जिससे उसका द्रव्य पर्यायमयी शुद्धाशुद्ध रूप जाना जा सके; किन्तु ज्ञान होने के पश्चात क्या हेय और क्या उपादेय है– इसका स्वविवेक से निर्णय कर आचरण करना ही श्रेयस्कर है। समयसार में प्रायः मुनियों को लक्ष्य कर ही कथन किया गया है इसलिये उन्हें शुद्धोपयोग साक्षात उपादेय है और गृहस्थों को शुद्धोपयोग का लक्ष्य बनाए रखकर अशुभ के त्यागपूर्वक शुभोपयोग रूप प्रवत्ति करते हुए शुद्धोपयोग को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिए। ❖❖

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मोक्षमार्ग में निश्चय-व्यवहार का परस्पर समन्वयवाद

✍ पं. नरेन्द्र कुमार भिसीकर

आचार्य कुन्दकुन्ददेव के अनुशासन काल के संबंध में यद्यपि इतिहासकार सुनिश्चित निर्णय नहीं दे सकते हैं, तथापि उनके बोधपाहुड ग्रन्थ के आधार से विक्रमाब्दी का प्रथम शतक का प्रारम्भ काल अनुमानित है।

सद्दवियारो भूदो भासा सुत्तेसु जं जिणे कहिदं।
सो वह कहिदं णायं सिस्सेण य भद्दबाहुस्स।।
बारस अंगवियाणं चउदस पुव्वंग विउलवित्थरणं।
सुदणाणि भद्दबाहु गमयगुरु भगवओ जयदु।।

अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी ने दिव्यध्वनि द्वारा जो मोक्षमार्गोपदेश दिया– उसी का अन्तिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु स्वामी ने द्वादशांग जिनवाणी रूप से विस्तृत शब्द-रचना की है। उनसे ज्ञान प्राप्त कर आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने भाषासूत्र रूप से बोधपाहुड ग्रन्थ की रचना की है। वे ज्ञान गुरु भगवान् भद्रबाहु स्वामी जयवंत हों। इसप्रकार आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने अपने विद्यागुरु का इष्ट देव स्तवन रूप मंगल किया है। प्राचीन आचार्य परम्परा में आचार्य श्री कुन्दकुन्दाम्नाय लोक प्रसिद्ध है। अनेक प्राचीन आचार्य अपने को कुन्दकुन्दान्वय अन्तर्गत मानने में अपना भूषण समझते है। अनेक आचार्यों ने आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव का अनेक नामों द्वारा स्मरण किया है।

आचार्यः कुंदकुंदाख्यो वक्रग्रीवो महामुनिः।
एलाचार्यो गृध्रपिच्छः पद्मनंदीति नामभिः।।

आचार्यश्री कुन्दकुन्द देव विरचित प्राचीन जैन साहित्य सम्पदा में प्रमुखता से 1. पंचास्तिकाय समयसार, 2. प्रवचनसार, 3. समयपाहुड, 4. नियमसार, 5. अष्टपाहुड आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। यद्यपि आचार्यश्री कुन्दकुन्ददेव के प्रायः सभी ग्रन्थ द्रव्यानुयोग प्रधान अध्यात्म ग्रन्थ माने जाते हैं, तथापि आचार्यश्री कुन्दकुन्ददेव ने व्यवहार निरपेक्ष निश्चय तथा निश्चय निरपेक्ष व्यवहार एकांतवाद को निश्चयाभासी तथा व्यवहाराभासी कहकर उनका निषेध कर मोक्षमार्ग में व्यवहार सापेक्ष निश्चय तथा निश्चय सापेक्ष व्यवहार इनका स्याद्वाद अलंकृत अनेकान्त दृष्टि से समन्वयवाद स्थापित किया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आप्त-आगम-पदार्थ इनके यथार्थ श्रद्धान को व्यवहारनय से सम्यग्दर्शन कहा है। निश्चयनय ध्रुवज्ञायक स्वभाव रूप आत्मदर्शन को शुद्धात्मोपलब्धि को सम्यग्दर्शन कहता है। यद्यपि इन दोनों कथनों में स्थूल दृष्टि से शब्द-भेद दिखाई देता है, तथापि इन दोनों कथनों का अभिप्राय एक ही है। यह व्यवहारनय प्रधान आगम शास्त्र का गूढ़ रहस्य आचार्यश्री कुन्दकुन्द देव ने बतलाते हुए कहा है–

जो जाणदि अरिहंतं दव्वत्त गुणत्त पज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं।।

जो वीतराग सर्वज्ञ अरिहंत भगवान को द्रव्य-गुण-पर्यायों द्वारा जानता है वह अपनी आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्यायों को जान सकता है। जो भगवान् अरिहंत परमात्मा का दर्शन-चिंतन-मनन-ध्यान करता है वही अपने भगवान् आत्मदेव को जान सकता है। उसी का दर्शनमोह कर्म स्वयं क्षीण होता है। बिना देवदर्शन के आत्मदर्शन होना प्रायः असंभव है। परन्तु देवदर्शन रूप दर्पण में आत्मदर्शन करना यह देवदर्शन का मुख्य प्रयोजन है। **तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं** जीव-अजीव आदि सात तत्त्वों के यथार्थ श्रद्धान को व्यवहारनय से सम्यग्दर्शन कहा है। निश्चय से भूतार्थनय से –इन जीव-अजीव आदि नव तत्त्वों को तीर्थ प्रवृत्ति निमित्त अभूतार्थ नय से कहे जाने के कारण अभूतार्थ पर्याय तत्त्व समझकर, इन सात तत्त्वों में सदा मूक अन्वयरूप रहनेवाला जो परम पारिणामिक भाव रूप कारण परमात्मा तत्त्व है, उसी को भूतार्थ-परमार्थ अतएव उपादेय-आश्रय करने योग्य मानना इसी का नाम सम्यग्दर्शन कहा है।

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः,
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक्।
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमान् आत्मा च तावानयं,
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसंततिमिमां आत्माऽयमेकोऽस्तु नः।।

शुद्धनय से अपने एकत्वविभक्त स्वभाव में सदा नियत सुव्यवस्थित अपनी नवतत्त्व रूप पर्यायों में सदा एक अन्वय रूप से व्यापक रूप से रहने वाला पूर्णज्ञान ध्यान जो कारण परमात्मा, उसी के दर्शन को सम्यग्दर्शन कहते हैं। आत्मानुभूति लक्षण सम्यग्दर्शन में जो कारण परमात्मा प्रगट होता है वही निज तत्त्व है। अन्य नवतत्त्व रूप पर्याय तत्त्व सब परद्रव्य-परभाव है। नवतत्त्व संतति रूप पर्याय दृष्टि को हटाकर एक निज शुद्ध आत्मतत्त्व की ही उपलब्धि हो, ऐसी भावना आचार्य देव ने प्रकट की है।

जो निश्चय एकांत पक्षवादी व्रत-संयम-तपरूप व्यवहार धर्म की साधना बंध का ही कारण है, ऐसा समझकर प्रमादी-स्वच्छंदी असंयमी जीवन प्रवृत्ति करते हैं।

णिच्छयमालंबतां णिच्छयदो णिच्छयं अजाणंता।
णासंति चरण-करणं बाहिर चरणालसा केई।।

जो निश्चयपक्ष का आलंबन लेना चाहते हैं, परन्तु निश्चय धर्म की साधना,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
व्यवहार धर्म की साधना के अभ्यास बिना नहीं बन सकती। यह निश्चयनय का गूढ रहस्य जिन्हें ज्ञान नहीं है, वे व्रत-संयम का पालन बंध का कारण समझकर प्रमादी-स्वच्छंदी असंयम प्रवृत्ति जीवन व्यतीत करते हैं। वे करणानुयोग-चरणानुयोग कार्यण तीर्थ प्रवृत्ति रूप व्यवहार मोक्षमार्ग का लोप करते हैं, उनको निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि कहा है। तथा जो व्यवहार एकांत पक्षवादी प्रशस्त रागरूप शुभोपयोग ही परमार्थ मोक्षमार्ग समझकर उसी को संवर-निर्जरा-मोक्ष का कारण समझते हैं।

चरण-करणपधाना ससमय परमत्थ मुक्कवावारा।
चरण-करणस्स सारं णिच्छय सुद्धं ण जाणंति।।

जो केवल चरणानुयोग, करणानुयोग के अनुसार बाह्य दर्शनाचार-ज्ञानाचार-चारित्राचार तपाचार इनका निर्दोष पालन करते हैं, परन्तु व्यवहार धर्म का सारभूत प्रयोजन भूत प्राणभूत जो परमार्थ निश्चय धर्म आत्मधर्म उसको जिन्हें पाना नहीं, जो आत्मदर्शन-आत्मानुभूति से पराङ्मुख हैं, उनको व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि कहा है।

परमट्ठम्मि दु अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धायदि।
तं सव्वं बालतवं बालवदं विंति सव्वण्हू।। 152।।

उसी प्रकार जो कोई केवल व्रत-संयम रूप बाह्य क्रियाकांड करने में ही धर्म मोक्षमार्ग समझते हैं, उनको व्यवहाराभासी कहा है।

चरणकरणपहाणा स्वसमय परमत्थ मुक्क वावारा।
चरण-करणस्स सारं णिच्छय सुद्धं ण जाणंति।।
परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।
संसारगमणहेदुं वि मोंक्खहेदुं अयाणंता।।

परमार्थ आत्मस्वभाव में जो स्थिर न रहते हुए केवल बाह्य व्रत-तप-मिथ्यात्व कहा जाता है, जो परमार्थ मोक्ष हेतु को न जानते हुए अज्ञान से जो संसार गमन का कारण है, बंध का कारण है, ऐसे पुण्य की ही इच्छा करते हैं, पुण्य का फल संसार सुख-वैभव की इच्छा करते हैं, उनको व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि कहा है।

सामान्य मुमुक्षु भव्यजनों के लिए आचार्य देव ने मोक्षमार्ग का मार्गदर्शन करते हुए कहा है— **जदि जिणमयं पडिज्जह ता मा ववहार णिच्छये मुयह।**
एक्केण विणा छिज्जदि तित्थं, अण्णेण उण सव्वं।।

यदि अनेकान्त जिनशासन के अनुसार मोक्षमार्ग प्रवृत्ति करना चाहते हो, तो व्यवहार और निश्चय इनमें से किसी का त्याग न करते हुए निश्चय सापेक्ष व्यवहार तथा व्यवहार सापेक्ष निश्चय इसप्रकार दोनों का परस्पर सापेक्ष-समन्वयवाद स्वीकार कर मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति साधना करनी चाहिए। यदि निश्चय एकांत पक्ष का अवलंबन केवल कथन मात्र लेकर व्यवहार धर्मानुकूल व्रत-संयमरूप आचरण प्रवृत्ति नहीं की जाये तो जगत में तीर्थ धर्म प्रवृत्ति का लोप होकर सर्वत्र असंयम प्रवृत्ति बढ़ती रहेगी,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो कि संसार भ्रमण दुःख का ही कारण बनेगी। तथा यदि व्यवहारधर्म का सारभूत-मूल प्रयोजनभूत निश्चयधर्म की आत्मधर्म की साधना न की जाये तो मोक्षमार्ग के मूल तत्त्व का उच्छेद होने के कारण इस जीव को अनन्त काल तक संसार भ्रमण दुःख ही भोगना पड़ेगा। रत्नत्रयात्मक शुद्ध आत्मा की साधना ही साक्षात् मोक्षमार्ग है।

रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुयदु अण्णदवियम्मि।
तम्हा तत्तिय णिरदो होदि हु मोक्खस्स कारणं आदा।।

रत्नत्रयात्मक परिणत आत्मा ही मोक्षमार्ग है वही साक्षात् मोक्ष स्वरूप है। आत्मा का आत्मा रूप रहना ही साक्षात् मोक्ष है। सभी व्यवहार शास्त्र व्यवहार धर्म का पालन करने का ही उपदेश देते हैं तथा सभी अध्यात्मशास्त्र भी व्यवहार धर्म का पालन करते हुए निश्चय धर्म की समन्वयदृष्टि भावना रखने का ही उपदेश देते हैं। ❖❖

जिनवाणी में नय अपेक्षा

जिनवाणी विषैं तो नाना नय अपेक्षा कहीं कैसा, कहीं कैसा निरूपण किया है। यह (निश्चयाभासी-निश्चयैकांती) अपने अभिप्राय तैं निश्चयनय की प्रधानता करि जैसा कथन किया होय ताही को ग्रहण कर मिथ्यादृष्टित्व को धारै है। बहुरि जिनवाणी विषैं तो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की एकता भयें मोक्षमार्ग कह्या है। सो याकें सम्यग्दर्शन ज्ञान विषैं सप्त तत्वनि का श्रद्धान-ज्ञान भया चाहिए। सो तिनका विचार नाहीं अर चारित्रविषैं रागादिक दूर किया चाहिए–ताका उद्यम नाहीं। एक अपने को शुद्ध अनुभवना–इसी को मोक्षमार्ग मान संतुष्ट भया है। ताका अभ्यास करने को अंतरंग विषैं ऐसा चिंतवन किया चाहे है– मैं सिद्ध भगवान् समान शुद्ध हों–केवलज्ञानादि सहित हों–परमानन्दमय हों–जन्म मरणादि दुख मेरे नाहीं (दूसरे शब्दों में शरीर के या पर्याय के हैं) इत्यादि चिंतवन करै है। सो तहाँ पूछिये है–यह चिंतवन तुम द्रव्यदृष्टि से करो हो तो द्रव्य तो शुद्ध अशुद्ध सर्व पर्यायानि का समूह है–तुम शुद्ध ही अनुभव काहे को करो हो? अर पर्याय दृष्टि करि करो हो तो तुम्हारे तो वर्तमान में अशुद्ध पर्याय है, तुम आत्मा को शुद्ध कैसे मानो हो? बहुरि जो शक्ति अपेक्षा शुद्ध मानो हो तो मैं ऐसा (शुद्ध) होने योग्य हूँ–ऐसा मानो। मैं ऐसा (शुद्ध) हूँ – ऐसा काहे को मानों हो? तातैं अपने को शुद्ध चिंतवन करना भ्रम है। काहे तैं? अर तुम्हारे केवलज्ञानादिक है तो मतिज्ञानादिक कौन के हैं? अर द्रव्यकर्म नोकर्म रहित हो तो ज्ञानादिक (गुणों) की व्यक्तता क्यों नहीं? परमानन्दमय हो तो अब कर्त्तव्य क्या रहा? जन्म मरणादिक दुख तुम्हारे नाहीं तो दुखी कैसे होते हो? तातैं अन्य अवस्था विषें अन्य अवस्था मानना भ्रम है।

—मोक्षमार्ग प्रकाशक, पं. टोडरमल, अध्याय 7 ●●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निश्चयनय और व्यवहारनय

✍ डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

नयचक्र के संचार में जो चतुर हैं, प्रतिबुद्ध हैं।
भवचक्र के संहार में जो प्रतिसमय सन्नद्ध हैं।।
निज आत्मा की साधना में निरत तन मन मगन हैं।
भव्यजन के शरण जिनके चरण उनको नमन है।।

जिनागम के मर्म को समझने के लिए नयों का स्वरूप समझना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है; क्योंकि समस्त जिनागम नयों की भाषा में ही निबद्ध है। नयों को समझे बिना जिनागम का मर्म जान पाना तो बहुत दूर, उसमें प्रवेश भी संभव नहीं है।

द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र में भी कहा है :—

जे णयदिट्ठिविहीणा ताण ण वत्थूसहावउवलद्धी।
वत्थुसहावविहूणा सम्मादिट्ठी कहं हुंति।। 181।।

जो व्यक्ति नयदृष्टि से विहीन हैं, उन्हें वस्तुस्वरूप का सही ज्ञान नहीं हो सकता और वस्तु के स्वरूप को नहीं जाननेवाले सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकते हैं?

जिनागम में विभिन्न स्थानों पर विभिन्न अपेक्षाओं को ध्यान में रखकर नयों के भेद-प्रभेदों का वर्गीकरण विभिन्न रूपों में किया गया है। यदि एक स्थान पर दो नयों की चर्चा है तो दूसरी जगह तीन प्रकार के नयों का उल्लेख मिलता है। इसीप्रकार यदि तत्त्वार्थसूत्र में सात नयों की बात आती है तो प्रवचनसार में 47 नय बताये गए हैं।

गोम्मटसार व **सन्मतितर्क** में तो यहाँ तक लिखा है— जितने वचन-विकल्प हैं, उतने ही नयवाद हैं अर्थात् नय के भेद हैं।

श्लोकवार्तिक के **नयविवरण** में श्लोक 17 से 19 तक आचार्य विद्यानन्द लिखते हैं कि नय सामान्य से एक, विशेष में— संक्षेप में दो, विस्तार से सात और अति विस्तार से असंख्यात भेदवाले हैं।

धवलाकार कहते हैं कि अवान्तर भेदों की अपेक्षा नय असंख्य प्रकार के हैं। **सर्वार्थसिद्धि** के अनुसार नय अनन्त भी हो सकते हैं, क्योंकि प्रत्येक वस्तु की शक्तियाँ अनन्त हैं; अतः प्रत्येक शक्ति की अपेक्षा भेद को प्राप्त होकर नय अनन्त-विकल्परूप हो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाते हैं। प्रवचनसार में भी अनन्त नयों की चर्चा है। आलापपद्धति में मूलनयों की चर्चा करते हुए द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक और निश्चय-व्यवहारनयों को मूलनय कहा गया है।

मूलनयों में द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनय आगम के नय हैं और निश्चय-व्यवहारनय अध्यात्म के नय हैं। आगम के नय सभी द्रव्यों पर समानरूप से घटित होते हैं, पर अध्यात्म के नय मात्र आत्मा पर घटित होते हैं; क्योंकि मुख्यरूप से आत्मा का प्रतिपादन करना ही उनका प्रयोजन है।

निश्चयनय का कार्य पर से भिन्नत्व और निज में अभिन्नत्व स्थापित करना है तथा व्यवहार का कार्य अभेदवस्तु को भेद करके समझाने के साथ-साथ भिन्न-भिन्न वस्तुओं के संयोग व तन्निमित्तक संयोग भावों का ज्ञान कराना है।

यही कारण है कि निश्चयनय का कथन स्वाश्रित और व्यवहारनय का कथन पराश्रित होता है तथा निश्चयनय के कथन को सत्यार्थ सच्चा और व्यवहारनय के कथन को असत्यार्थ – उपचरित कहा जाता है।

व्यवहारनय को सर्वथा असत्यार्थ माननेवालों को नियमसार के उस कथन की ओर ध्यान देना चाहिए, जिसमें यह कहा है कि सर्वज्ञ भगवान पर को व्यवहार से जानते हैं। व्यवहार को सर्वथा असत्यार्थ मानने पर केवली भगवान का पर को जानना असत्यार्थ ठहरेगा और सर्वमान्य सर्वज्ञता ही संकट में पड़ जायेगी। इसप्रकार व्यवहार को सर्वथा सत्य माननेवालों को भी समयसार के उस कथन की ओर ध्यान देना चाहिए, जिसमें व्यवहारनय से जीव और शरीर को एक कहा गया है।

ववहारणओ भासदि जीवो देहो य हवदि खलु एक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो कदावि एक्कट्ठो।। 27।।

व्यवहारनय कहता है कि जीव और शरीर एक ही है; निश्चयनय के अभिप्राय से जीव और शरीर कभी भी एक पदार्थ नहीं हो सकते। यदि जीव और शरीर को एक कहनेवाले कथन को प्रयोजनवश किया गया कथन न मानकर सर्वथा सत्य मान लिया जाए तो मिथ्यात्व हुए बिना नहीं रहेगा। छहढाला में तो देह और आत्मा को एक माननेवाले को स्पष्टरूप से मिथ्यादृष्टि लिखा है— देह जीव को एक गिने बहिरातम तत्त्व मुधा है। देह और जीव को एक माननेवाला बहिरात्मा है, वह तत्त्व के बारे में मूर्ख है अर्थात् मिथ्यादृष्टि है।

अतः यह जानना चाहिए कि व्यवहारनय के उक्त दोनों ही कथन प्रयोजनवश किये गये सापेक्ष कथन हैं; अतः कथंचित् सत्यार्थ और कथंचित् असत्यार्थ हैं।

व्यवहारनय निश्चयनय की विषयवस्तु का प्रतिपादक है और निश्चयनय व्यवहारनय का निषेध करता है। इसप्रकार निश्चय और व्यवहार में प्रतिपाद्य-प्रतिपादक संबंध है और व्यवहार और निश्चय में निषेध्य-निषेधक संबंध है। इसप्रकार वे एक-दूसरे के विरोधी भी हैं और उनमें परस्पर तीव्रमैत्री भी है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आप कह सकते हैं कि यह कैसे सम्भव है? शतरंज के दो खिलाड़ी हैं। उन्हें आप मित्र कहेंगे या विरोधी? वे परस्पर पूरक भी हैं और प्रतिद्वन्द्वी भी। पूरक इसलिए कि दूसरे के बिना खेल ही नहीं हो सकता; प्रतिद्वंद्वी बिना खेलें किससे? अतः शतरंज के खेल में प्रतिद्वन्द्वी पूरक ही तो है। जब वह प्रतिद्वन्द्वी है, तो विरोधी ही है; क्योंकि विरोधी ही तो प्रतिद्वन्द्वी होता है। पूरक होने से मित्र भी है, क्योंकि मित्र ही तो आपस में खेलते हैं, शत्रुओं से खेलने कौन जाता है? इसप्रकार हम देखते हैं कि शतरंज के दो खिलाड़ी परस्पर मित्र भी हैं और विरोधी भी। आप कह सकते हैं कि यह कैसे हो सकता है कि एक ही व्यक्ति एक साथ हमारा मित्र भी हो और शत्रु अर्थात् विरोधी भी। पर अपेक्षा ध्यान में रखकर गहराई से विचार करेंगे तो सब-कुछ स्पष्ट हो जायेगा। जीवन में वे दोनों मित्र ही नहीं, घनिष्ठ मित्र हैं। उनमें ऐसी मित्रता देखी जा सकती है कि एक-दूसरे के पीछे जान की बाजी लगा सकता है; पर खेल में प्रतिद्वन्द्वी-विरोधी-शत्रु भी ऐसे कि चाहे जान चली जाए, पर सामने वाले के बादशाह को शह दिये बिना न मानेंगे; प्यादे को ही नहीं, वजीर को भी मारे बिना न रहेंगे। जीवन में वे एक-दूसरे को क्षमा कर सकते हैं, पर खेल में नहीं; खेल में तो उसे हराने की निरन्तर जी-जान से कोशिश करते हैं। न करें तो फिर खेल में वह आनन्द न आवेगा जो आना चाहिए।

खेल में खेल के प्रति ईमानदार, खेल के पक्के और जीवन में जीवन के प्रति ईमानदार, जीवन के पक्के जैसे दो खिलाड़ी होते हैं; वैसे जिनवाणी में भी दोनों नय अपने-अपने विषय के पक्के हैं। जिसका जो विषय है, उसे वे अपना-अपना विषय बनाते हैं। विषयगत विरोध के कारण वे परस्पर विरोधी भी हैं और सम्यक्-श्रुतज्ञान के भेद होने से अभिन्न साथी भी। दोनों ही अपने काम के पक्के हैं, अपने-अपने काम पूरी ईमानदारी से बखूबी निभाते हैं।

व्यवहार का काम भेद करके समझाना है, संयोग का भी ज्ञान कराना है; सो वह अभेद-अखण्ड वस्तु में भेद करके समझाता है, संयोग का ज्ञान कराता है; पर भेद करके भी वह समझाता तो अभेद-अखण्ड को ही है, संयोग से भी समझाता असंयोगी तत्त्व को ही है; तभी तो उसे निश्चय का प्रतिपादक कहा जाता है। यदि वह अभेद, अखण्ड, असंयोगी तत्त्व को न समझावे तो उसे निश्चय का प्रतिपादक कौन कहे? और निश्चय का काम व्यवहार का निषेध करना है; निषेध करके अभेद, अखण्ड, असंयोगी तत्त्व की ओर ले जाना है। यही कारण है कि वह अपने विरोधी प्रतीत होने वाले अभिन्न-मित्र व्यवहार का भी बड़ी निर्दयता से निषेध कर देता है। साथी समझकर किंचित् मात्र भी दया नहीं दिखाता; यदि दिखावे तो अपने कर्त्तव्य का पालन कैसे करे? यदि वह व्यवहार का निषेध न करे तो निश्चय के विषयभूत शुद्धात्मा की प्राप्ति कैसे हो, आत्मा का अनुभव कैसे हो? आत्मानुभूति की प्राप्ति के लिए ही तो यह सब प्रयास है। व्यवहार तो हमारा मित्र है, उसका निषेध कैसे करें?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

—यदि इस विकल्प में उलझ जावे तो फिर उसका भूतार्थपना ही नहीं रहेगा।

निश्चय, व्यवहार का निषेध कोई द्वेष के कारण थोड़े ही करता है; वह निषेध्य है, इसलिए निषेध करता है। उसकी सार्थकता निषेध में है। उसका प्रयोग भी साबुन की भाँति निषेध के लिए ही होता है। जिसप्रकार साबुन लगाए बिना कपड़ा साफ नहीं होता और साबुन लगी रहने पर भी कपड़ा साफ नहीं होता; साबुन लगाकर धोने से कपड़ा साफ होता है। साबुन लगाया ही धोने के लिए जाता है, उसकी सार्थकता ही लगाकर धो डालने में है। यह कोई नहीं कहता कि जब साबुन ने आपके कपड़े को साफ कर दिया तो अब उसे भी क्यों निकालते हो?

उसीप्रकार व्यवहार के बिना निश्चय का प्रतिपादन नहीं होता और व्यवहार के निषेध बिना निश्चय की प्राप्ति नहीं होती। निश्चय के प्रतिपादन के लिए व्यवहार का प्रयोग अपेक्षित है और निश्चय की प्राप्ति के लिए व्यवहार का निषेध आवश्यक है। यदि व्यवहार का प्रयोग नहीं करेंगे तो वस्तु हमारी समझ में नहीं आयेगी, यदि व्यवहार का निषेध नहीं करेंगे तो वस्तु प्राप्त नहीं होगी।

जैसे नाव में बैठे बिना नदी पार होंगे नहीं और नाव में बैठे-बैठे नदी पार होंगे नहीं। नाव में नहीं बैठेंगे तो रहेंगे इस पार और नाव में बैठे रहेंगे तो रहेंगे मँझधार। नदी पार करने के लिए नाव में बैठना भी होगा और नाव को छोड़ना भी होगा अर्थात् नाव में से उतरना भी होगा। उसीप्रकार व्यवहार के बिना निश्चय समझा नहीं जा सकता और व्यवहार को छोड़े बिना निश्चय पाया नहीं जा सकता। निश्चय को समझने के लिए व्यवहार को अपनाना होगा और निश्चय को पाने के लिए व्यवहार को छोड़ना भी होगा। किन्तु ध्यान रहे, कहीं ऐसा न हो कि नाव के उस पार पहुँचे बिना ही आप नाव को छोड़ दें — नाव से उतर जावें; यदि ऐसा हुआ तो समझिये नदी की धार में बहकर समुद्र में पहुँच जावेंगे। उसीप्रकार यदि व्यवहार द्वारा वस्तु का पूर्ण निर्णय किये बिना ही, निश्चय के किनारे पर पहुँचे बिना ही, यदि आपने उसे छोड़ दिया तो निश्चय की प्राप्ति होगी नहीं, व्यवहार से भी भ्रष्ट हो जावेंगे और संसार-समुद्र में डूबने के अतिरिक्त कोई राह न रहेगी। अतः व्यवहार कब छोड़ना — इसका ध्यान रखना बहुत ज़रूरी है तथा कहीं हम व्यवहार को अस्थान में ही न छोड़ दें — इस भय से वह छोड़ने योग्य है — यह समझने के लिए तैयार ही नहीं होना भी कम मूर्खता नहीं है; क्योंकि उस स्थिति में व्यवहार का निषेध ही है स्वभाव जिसका ऐसे निश्चय का स्वरूप न समझ पाने के कारण उसके विषयभूत अर्थ की प्राप्ति कैसे होगी?

निश्चयनय दो प्रकार का है — शुद्धनिश्चयनय और अशुद्धनिश्चयनय।

शुद्धनिश्चयनय तीन प्रकार का है— (1) परमशुद्धनिश्चयनय, (2) शुद्धनिश्चयनय या साक्षात्शुद्धनिश्चयनय और (3) एकदेशशुद्धनिश्चयनय।

ये तीन भेद तो शुद्धनिश्चयनय के हुए और एक अशुद्धनिश्चयनय — इसप्रकार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
निश्चयनय कुल चार रूपों में पाया जाता है।

व्यवहारनय के दो भेद हैं — सद्भूतव्यवहार और असद्भूतव्यवहार। उनमें से एक ही वस्तु में भेदव्यवहार करनेवाला सद्भूतव्यवहारनय है और भिन्न वस्तुओं में अभेदव्यवहार करनेवाला असद्भूतव्यवहारनय है।

सद्भूत और असद्भूत — दोनों की व्यवहारनय अनुपचरित और उपचरित के भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं। इसप्रकार व्यवहारनय चार प्रकार का माना गया है।

1. अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय, 2. उपचरितसद्भूतव्यवहारनय, 3. अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय, 4. उपचरितअसद्भूतव्यवहारनय।

अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय को शुद्धसद्भूतव्यवहारनय तथा उपचरितसद्भूत-व्यवहारनय को अशुद्धसद्भूतव्यवहारनय भी कहा जाता है। श्लिष्ट (नजदीक) के संयोग को विषय बनानेवाला नय अनुपचरित और अश्लिष्ट (दूर) के संयोग को विषय बनानेवाला नय उपचरित होता है।

इसप्रकार जीवन भर एक साथ रहने वाले शरीर और आत्मा को एक कहनेवाला और उन्हें परस्पर एक-दूसरे का कर्ता-भोक्ता कहनेवाला नय अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय है और स्त्री-पुत्रादि, मकान-जायदाद, देशादि को अपना कहनेवाला, उनका कर्ता-भोंक्ता आत्मा को कहनेवाला नय उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय है। यदि उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय को सर्वथा असत्यार्थ मानेंगे तो स्वस्त्री-परस्त्री, स्वदेश-परदेश का भेद करना संभव नहीं होगा; क्योंकि निश्चयनय से तो सभी पदार्थ परपदार्थ ही हैं। ऐसी स्थिति में अणुव्रतों की कल्पना संभव नहीं होगी; क्योंकि निश्चयनय से तो सभी स्त्रियाँ परस्त्री ही हैं। ब्रह्मचर्याणुव्रत में परस्त्री का त्याग और स्वस्त्री का ग्रहण होता है। अतः अणुव्रत के लिए स्वस्त्री-परस्त्री भेद होना जरूरी है। अतः यह नय सदाचार की सिद्धि करनेवाला नय है। इसीप्रकार शरीरसहित आत्मा को जीव कहनेवाला अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय को सर्वथा असत्य मानने पर कंकड़-पत्थरों के समान ही त्रस-स्थावर जीवों के घात में हिंसा नहीं होगी। अतः यह नय अहिंसक आचरण की सिद्धि करनेवाला है।

हमारा जीवन अहिंसक और सदाचारी रहे — इसके लिए उक्त दोनों नयों की उपयोगिता असंदिग्ध है, तथापि यदि हम उक्त दोनों नयों के कथन को सर्वथा सत्यार्थ मान लें तो फिर शरीर, स्त्री—पुत्रादि, मकान-जायदाद में एकत्व-ममत्वबुद्धि तथा कर्तृत्व-भोक्तृत्वबुद्धि रहने से मिथ्यात्व रहेगा, जो अनंत संसार का कारण है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि संयोगी पदार्थों को विषय बनानेवाले उपचरित और अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय सदाचार और अहिंसक आचरण की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी हैं; अतः कथंचित् सत्यार्थ हैं, उपादेय हैं; किन्तु संयोगी पर-पदार्थों में एकत्व-ममत्व और कर्तृत्व-भोक्तृत्व के पोषक होने से कथंचित् असत्यार्थ हैं, हेय हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसीप्रकार मोह-राग-द्वेष के भाव आत्मा में ही पैदा होते हैं, आत्मा की ही पर्यायें हैं; अतः उन्हें आत्मा का कहनेवाला उपचरित-सद्भूत-व्यवहारनय कथंचित् सत्यार्थ है, उपादेय है; क्योंकि स्वयं की भूल स्वीकार किये बिना भूल निकालना सभव नहीं है, किन्तु मोह-राग-द्वेषभाव आत्मा के स्वभाववाला नहीं है, विभावभाव है, आत्मा को दुखदाई है; अतः त्यागने योग्य, नाश करने योग्य है; उन्हें अपना कहनेवाला उपचरित- सद्भूतव्यवहारनय कथंचित् असत्यार्थ है, हेय है, त्यागने योग्य है।

इसीप्रकार भगवान आत्मा में रहनेवाले अनंत गुण व असंख्य प्रदेश और आत्मा के लक्ष्य से उत्पन्न होनेवाली सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायें आत्मा की ही हैं; अतः उन्हें आत्मा की कहनेवाला अनुपचरित-सद्भूत-व्यवहारनय सत्यार्थ है, उपादेय है; किन्तु इनके भेद के लक्ष्य से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति नहीं होती; अतः कथंचित् असत्यार्थ है, हेय है और इन सबसे अर्थात् स्त्री-पुत्रादि, शरीर, मोह-राग-द्वेष और सम्यग्दर्शन निर्मल पर्यायों तथा प्रदेशभेद और गुणभेद से भिन्न परमशुद्धनिश्चयनय का विषयभूत भगवान आत्मा एकमात्र सत्यार्थ है, भूतार्थ है, उपादेय है, श्रद्धान करने योग्य है, जानने योग्य है और ध्यान करने योग्य भी वही है।

यहाँ एक प्रश्न सभव है कि चार प्रकार के व्यवहारनय, उनकी उपयोगिता, उनकी हेयोपादेयता तो बताई; पर निश्चयनय के भेदों की तो चर्चा ही नहीं की और सीधे परमशुद्धनिश्चयनय की बात कह दी। अरे भाई ! परमशुद्धनिश्चयनय ही वस्तुतः परम उपादेय है। वह एकमात्र ऐसा निश्चयनय है, जो कभी व्यवहारपने को प्राप्त नहीं होता, कभी भी हेयपने को नहीं होता। भगवान आत्मा को पर और पर्यायों से भिन्न बतानेवाला परमशुद्धनिश्चयनय की विषयवस्तुस्वरूप भगवान आत्मा ही अपनापन स्थापित करने योग्य है, अपना जानने योग्य है और ध्यान करने योग्य है।

मोह-राग-द्वेष आदि अशुद्ध भावों में अभेद बतानेवाले, आत्मा को रागी-द्वेषी कहनेवाले अशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत आत्मा में तो अपनापन करना ही नहीं है; किन्तु उपशमादि भावों की एकदेश शुद्धि और क्षायिक भावों की सर्वदेश शुद्धि से आत्मा को अभिन्न कहनेवाले एकदेशशुद्धनिश्चयनय और केवलज्ञानादि क्षायिकभावों से आत्मा को अभिन्न बतानेवाले साक्षात् शुद्धनिश्चयनय की विषयवस्तु में भी अपनापन स्थापित करने का नाम सम्यग्दर्शन नहीं है, सम्यग्ज्ञान नहीं है और शुद्धपर्यायों से अभिन्न आत्मा भी ध्यान का ध्येय नहीं है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग और मोक्ष की प्राप्ति तो शुद्धाशुद्ध पर्यायों से पार भगवान आत्मा में अपनापन स्थापित करने से होती है, उसे ही निजरूप जानने से होती है और उसी का ध्यान करने से होती है, उसी की साधना से होती है, आराधना से होती है।

सभी जीव परमशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत भगवान आत्मा की आराधना कर, साधना कर, अनंत सुखी हों — इस मंगल भावना से विराम लेता हूँ। ❖❖

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य कुन्दकुन्द की आध्यात्मिक योग विद्या

✍ डॉ. अनेकान्त कुमार जैन

भारतीय परम्परा में वैदिक मन्त्रों का गहरायी से अध्ययन करने पर तथा उसकी प्रतीकात्मक शब्द शैली का अध्ययन करने पर योग विषयक सामग्री प्रचुर मात्रा में मिलती है। महर्षि अरविन्द ने वेद मन्त्रों का योग परक अर्थ किया है जैसा कि उनकी पुस्तक Hymns to myastic fire से प्रकट होता है। हम यदि जैन परम्परा के प्रमुख आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय, अष्टपाहुड, बारसाणुवेक्खा तथा दशभक्तिसंग्रह[1] का गहरायी से अध्ययन करें तो उनके साहित्य में अध्यात्म योग विषयक सामग्री प्रचुर मात्रा में प्राप्त होती है। जिस प्रकार वेद, उपनिषद, महाभारत, स्मृतिग्रंथ, भागवतपुराण आदि वैदिक परम्परा के ग्रन्थ प्रमुख रूप से योग विषयक न होते हुए भी इन ग्रन्थों में योगविद्या की सामग्री प्रचुर रूप से प्राप्त होती है, उसी प्रकार जैन परम्परा में योग विषयक स्वतन्त्र ग्रन्थों का प्रणयन बाद में हुआ किन्तु योग विद्या के आध्यात्मिक सूत्र कुन्दकुन्दाचार्य सदृश प्राचीन आचार्य के ग्रन्थों में प्रचुर मात्रा में बिखरे पड़े हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि अध्यात्म प्रधान है। सम्पूर्ण भारतीय परम्परा की योग विद्या का जो लक्ष्य मोक्ष है वही लक्ष्य आचार्य कुन्दकुन्द का भी है। आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य को योग विद्या की दृष्टि से देखने का ज्यादा प्रयास नहीं हुआ है। यह सही है कि योगदर्शन की प्रचलित अवधारणाओं, शब्दावलियों तथा मापदण्डों के आधार पर आचार्य शुभचन्द्र, आचार्य हरिभद्र, आचार्य हेमचन्द्र तथा उपाध्याय यशोविजय प्रभृति जैनाचार्यों के ग्रन्थों का जो कालान्तर में रचे गये, मूल्यांकन जितना हुआ है उतना मूल्यांकन आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य का नहीं हुआ है।

योग का लक्षण

आचार्य कुन्दकुन्द, महर्षि पतंजलि के योग शब्द के निकटतम अर्थ में 'संवर' को ले रहे हैं। 'समयसार' तथा 'भावपाहुड' दोनों ही ग्रन्थों में 'आत्मा संवर और योग है'– ऐसा कहा गया है– 'आदा मे संवरो जोगो'[2]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य कुन्दकुन्द को जैन विद्या का प्रतिष्ठापक आचार्य माना जा सकता है जिन्होंने प्रथम शती में ही योग का लक्षण बनाकर उसकी प्रतिष्ठा की। योग का लक्षण बतलाते हुये वे नियमसार में कहते हैं–

विवरीयाभिणिवेसं परिचत्ता जोण्हकहियतच्चेसु।
जो जुंजदि अप्पाणं णियभावो सो हवे जोगो।।[3]

अर्थात् जो विपरीताभिनिवेश को छोड़कर जिनकथित तत्त्वों में अपने आपको लगाता है उसका वह निजभाव ही योग है। यहाँ हम यह कह सकते हैं कि 'सम्यक्त्व' नाम के चतुर्थ गुणस्थान से आध्यात्मिक योग विद्या प्रारम्भ होती है। अतः योग प्राप्ति की प्रथम शर्त है– 'विपरीत अभिनिवेश का त्याग'।

आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि जो साधु अपने आत्मा को रागादि तथा समस्त विकल्पों के अभाव में लगाता है वह ही योगभक्ति से युक्त है और जो यह नहीं कर पा रहा है उसको योग किस प्रकार हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता।

रायादीपरिहारे अप्पाणं जो दुं जुंजदे साहू।
सो जोगभत्तिजुत्तो इदरस्स य कह हवे जोगो।।
सव्वविअप्पाभावे अप्पाणं जो दु जुंजदे साहू।
सो जोग भत्तिजुत्तो इदरस्स य कह हवे जोगो।।[4]

शुभ-अशुभ तथा शुद्धोपयोग

शुभोपयोग, अशुभोपयोग तथा शुद्धोपयोग की गहन चर्चा भी आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य में प्राप्त होती है।

शुभोपयोग का स्वरूप बतलाते हुये वे कहते हैं कि जो जिनेन्द्र को जानता है, सिद्ध को देखता है, उसी प्रकार सभी साधुओं को जानता तथा देखता है तथा जीवों में अनुकम्पा से सहित है, उसका वह उपयोग शुभ है अर्थात् शुभोपयोग है।[5]

इसी प्रकार अशुभोपयोग के लिए कहते हैं कि जो उपयोग विषय कषायों में लगा है, दुःश्रुति, दुःचित्त तथा दुष्टों की गोष्ठियों से युक्त है, उग्र है, तथा उन्मार्ग पर चलने को तत्पर है वह उपयोग अशुभोपयोग कहलाता है।[6]

शुद्धोपयोग शुभ तथा अशुभ से परे है। इसके लिए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि– जो अशुभोपयोग से रहित है और शुभोपयोग में भी नहीं है— ऐसा मैं आत्मातिरिक्त अन्य द्रव्यों में मध्यस्थ होता हूँ और ज्ञान स्वरूप आत्मा का ही ध्यान करता हूँ—

असुहोवओगरहिदो सुहोवजुत्तो ण अण्णदवियम्मि।
होज्झं मज्झत्थोऽहं णाणप्पगमप्पगं झाए।।[7]

इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि यद्यपि शुभोपयोग योग की प्रारम्भिक स्थिति है किन्तु योग का अन्तिम लक्ष्य शुद्धोपयोग ही है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

योगी का स्वरूप

आचार्य कुन्दकुन्द ने शुद्धोपयोग को सर्वोत्कृष्ट माना है। शुद्धोपयोगी मुनि कैसे होते हैं? उसका स्वरूप वे बताते हैं–

सुविदिदपदत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगोत्ति।।[8]

अर्थात् जिसने पदार्थ और सूत्र को भलीभाँति जान लिया है, संयम और तप से युक्त है तथा राग से रहित है, सुख और दुःख में समता रखे ऐसा श्रमण ही शुद्धोपयोगी कहा गया है।

नियमसार में योगी को वाद-विवाद से बचकर मौनपूर्वक निजकार्य सिद्ध करने को कहा है–

जिणकहियपरमसुत्ते पडिकमणादिय परीक्खऊण फुडं।
मोणव्वएण जोई णियकज्जं साहये णिच्चं।।
णाणा जीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवे लद्धी।
तम्हा वयणविवादं सगपरसमएहिं वज्जिज्जो।।[9]

अर्थात् जिनकथित परमसूत्र में प्रतिक्रमणादिक की अच्छी तरह परीक्षा कर योगी को निरन्तर मौनव्रत से निजकार्य सिद्ध करने चाहिए क्योंकि नाना जीव हैं, नाना कर्म हैं और नाना प्रकार की लब्धियाँ हैं इसलिए स्वधर्मी तथा परधर्मियों के साथ वचन संबंधी विवाद नहीं करना चाहिए, वे वर्जनीय हैं।

योगी को निश्चयनय और व्यवहारनय का ज्ञान जरूर होना चाहिए। उसके लिए कहा गया है कि जिनोक्त सूत्र को व्यवहार और निश्चय से जानो। उसे जानकर ही योगी सुख प्राप्त करता है और कर्ममल के पुंज को समाप्त करता है–

जं सुत्तं जिणउत्तं ववहारो तह य जाण परमंत्थो।
तं जाणिऊण जोई लहइ सुहं खवइ मलपुंजं।।[10]

योगी की अर्हता

ध्यान में स्थित होने के लिए योगी की अर्हता का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं–

देवगुरुम्मि य भत्तो साहम्मि य संजदेसु अणुरत्तो।
सम्मत्तमुव्वहंतो झाणरओ होइ जोई सो।।[11]

अर्थात् जो देव, गुरु का भक्त है, सहधर्मी तथा संयमी जीवों का अनुरागी है तथा सम्यक्त्व को ऊपर धारण करता है ऐसा योगी ही ध्यान में तत्पर होता है। जो योगी जिनवर के मतानुसार रत्नत्रय की आराधना करता है, वह आत्मा का ध्यान करता है और परपदार्थों का त्याग करता है इसमें कोई संदेह नहीं है।[12]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इनके अलावा भी अनेक स्थलों पर योगी की अर्हता को ध्यान के परिप्रेक्ष्य में बतलाया गया है।

योग शब्द का विविध प्रसंगों में उल्लेख

आचार्य कुन्दकुन्द ने अपनी रचनाओं में योग तथा योगी शब्द का अनेक प्रसंगों में उल्लेख किया है। जैसे उन्होंने शीलपाहुड में कहा कि ज्ञान, ध्यान, योग और दर्शन की शुद्धता वीर्यगुण के आधीन है अर्थात् आत्मा में वीर्यगुण का जैसा विकास होता है उसी के अनुरूप ज्ञान, ध्यान, योग और दर्शन की शुद्धता होती है।[13]

योगी के लिए व्यवहार बाधक माना गया है। इस प्रसंग में एक बहुत मार्मिक गाथा का उल्लेख आचार्य कुन्दकुन्द करते हैं–

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणे कज्जे।।[14]

अर्थात् जो योगी व्यवहार में सोता है वह आत्मकार्य में जागता है और जो व्यवहार में जागता है वह आत्मकार्य मे सोता है। और ऐसा जानकर योगी सब तरह से सब प्रकार के व्यवहार को छोड़ता है और जिनेन्द्र ने जैसा कहा वैसा परमात्मा का ध्यान करता है–

इय जाणिऊण जाई ववहारं चयइ सव्वहा सव्वं।
झायइ परमप्पाणं जह भणियं जिणवरिंदेण।।[15]

मोक्षपाहुड में ही योगी के मौन व्रत को लेकर बहुत सुन्दर वर्णन आया है। वे कहते हैं कि जो योगी मौनव्रत से ध्यानस्थ होता है वही आत्मा को द्योतित करता है अर्थात् आत्मानुभूति करता है– **मोणव्वएण जोई जोयत्थो जोयए अप्पा।**[16]

मौनव्रत के कारण को योगी स्वयं ही बतलाते हुये कहता है कि जो रूप मेरे द्वारा देखा जाता है वह बिल्कुल नहीं जानता और जो जानता है वह दिखायी नहीं देता, तब मैं किसके साथ बात करूँ?

जं मया दिस्सदे रूवं तण्ण जाणादि सव्वहा।
जाणगं दिस्सदे णंतं तम्हा जंपेमि केण हं।।[17]

योगी के सुख और दुःख के संदर्भ में भी एक अलग ही तरह की बात कही गयी है। आचार्य कहते हैं कि सुख से भावित ज्ञान दुःख उत्पन्न होने पर नष्ट हो जाता है इसलिए योगी को यथाशक्ति आत्मा को दुःख से भावित रखना चाहिए।[18] दुःख को महत्त्वपूर्ण मानते हुये कहते हैं प्रथम तो आत्मा दुःख से जाना जाता है, फिर जानकर उसकी भावना दुःख से होती है, फिर आत्मस्वभाव की भावना वाला पुरुष दुःख से विषयों में विरक्त होता है।[19] और विषयों से विरक्तचित्त योगी ही आत्मा को जानता है– **विसए विरत्तचित्तो जोई जाणेइ अप्पाणं।**[20]

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य कुन्दकुन्द ने ध्यान और योग को निकटतम बतलाया है।[21] उनके इसी अभिप्राय को हम ग्रहण करें तो हम कह सकते हैं कि 'झाण' या ध्यान शब्द का उल्लेख या ध्यान का वर्णन उन्होंने जहाँ-जहाँ भी किया है वह उनकी आध्यात्मिक योग विद्या का ही वर्णन है।

दशभक्तिसंग्रह में योगी भक्ति के लिए तेईस गाथायें हैं जिसमें उन्होंने महान योगियों तथा उनकी योग विद्या की विशेषताओं का गुणगान किया है। इसकी अंचलिका में कहा गया है–

इच्छामि भंते ! योगिभत्तिकाउस्सग्गो कओ........।[22]

आचार्य कुन्दकुन्द योग की महिमा बताते हुए कहते हैं कि– तीर्थंकर ऋषभादि जिनेन्द्र योग की उत्तमभक्ति करके निर्वाण सुख को प्राप्त हुये हैं इसलिए तूं भी योग की उत्तम भक्ति को धारण करो।[23]

निष्कर्ष

आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वे आध्यात्मिक योग विद्या के सूक्ष्म विश्लेषण ही नहीं बल्कि उसके प्रयोगकर्त्ता भी थे। इनकी इसी अध्यात्म प्रधान दृष्टि ने परवर्ती सभी जैन आचार्यों पर गहरा प्रभाव डाला है। आचार्य कुन्दकुन्द अपने समय के स्वयं एक महान योगी थे; उनकी आध्यात्मिक योग विद्या को समझे बिना जैन परम्परा की योग विद्या के गूढ़तम रहस्यों को समझना मुश्किल है। प्रस्तुत पत्र में मैंने संक्षिप्त रूप से मात्र उन्हीं अंशों को दिखाने का प्रयास किया है जहाँ वे **'योग'** या **'योगी'** शब्द को सीधे व्यवहृत करते हैं किन्तु यदि अभिप्राय को लिया जाय तो आचार्य कुन्दकुन्द के अधिकांश विषय आध्यात्मिक योग विद्या के ही प्रतिपादक हैं। इस दृष्टि से आचार्य कुन्दकुन्द पर शोध की अभी बहुत संभावनायें हैं।

सन्दर्भ सूची

1. तुलनीय, भगवान महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, डॉ. नेमिचन्द्र जैन, प्रकाशक– प्राच्य श्रमण भारती, मुजफ्फरनगर, उ.प्र. – में आचार्य कुन्दकुन्द तथा उनके साहित्य का परिचय।
2. समयसार – गाथा 277 तथा भावपाहुड गाथा 58।– कुन्दकुन्द भारती, सम्पादक– पं. पन्नालाल साहित्याचार्य, प्रकाशक– जैन समाज, खेकड़ा (मेरठ), उ.प्र. 1992.
3. नियमसार, गाथा 139
4. नियमसार, गाथा 137-138
5. प्रवचनसार, गाथा 65
6. वही, गाथा 66
7. वही, गाथा 67

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

8. वही, गाथा 14
9. नियमसार– गाथा 155-156
तथा देखें– मोक्षपाहुड, गाथा 28, पृष्ठ 244
मिच्छत्तं अण्णाणं पावं पुण्णं चएवि तिविहेण।
मोणव्वएण जोई जोयत्थो जोयए अप्पा।।
10. सूत्रपाहुड, गाथा 6
11. मोक्षपाहुड, गाथा 52
12. वही, रयणत्तयं पि जोई आराहइ जो हु जिणवरमएण।
सो झायदि अप्पाणं परिहरदि परं ण संदेहो।। –मोक्षपाहुड, गाथा 36, पृष्ठ 245
13. णाणं झाणं जोगो दंसणसुद्धी य वीरियावत्तं। –शीलपाहुड, गाथा 37, पृष्ठ 265
14. मोक्षपाहुड, गाथा 31
15. मोक्षपाहुड, गाथा 32
16. वही, गाथा 28
17. वही, गाथा 29
18. सुहेण भाविदं णाणं दुहे जादे विणस्सदि।
तम्हा जहाबलं जोई अप्पा दुक्खेहि भावए।। –वही, गाथा 62
19. वही, गाथा 65
20. वही, गाथा 66
21. केई जंपंति णरा ण हु कालो झाणजोयस्स। –मोक्षपाहुड, गाथा 73
22. दशभक्तिसंग्रह, योगीभक्ति, पृष्ठ 291
23. उसहादिजिणवरिंदा एवं काऊण जोगवरभत्तिं।
णिव्वुदिसुहभावण्णा तम्हा धरु जोगवरभत्तिं।। –नियमसार, गाथा 140

❖❖

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उदयचन्द्र जैन वाराणसी

समाचार दर्शन

उदारवादी व जगत बन्धु रहा है जैन धर्म : आचार्यश्री विद्यानन्द

सिद्धान्तचक्रवर्ती परमपूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज ने 8 दिसम्बर, 2006 को कुन्दकुन्द भारती में आयोजित भव्य एवं विशाल धर्मसभा में अपने प्रमुख शिष्य उपाध्यायश्री श्रुतसागर ज़ी को एलाचार्य पद पर प्रतिष्ठित करते हुए कहा– जैन धर्म अत्यन्त उदारवादी एवं जगत बन्धु रहा है। प्रत्येक युग में दिगम्बर मुनि सम्मानित रहे हैं। माता-पिता अपने उसी बच्चे को चाबी देते हैं जो उनके घर को तथा संस्कारों को संभाल सके इसलिए मैं यह ज्ञान की चाबी यानी एलाचार्य पद उपाध्यायश्री श्रुतसागर जी महाराज को प्रदान कर रहा हूँ। दीक्षा एक व्यक्ति को नहीं बल्कि सारे समाज को दी जाती है। एक को दीक्षा देने से अनेकों का उद्धार हो सकता है। भगवान आदिनाथ से लेकर अभी तक यह परम्परा चली आ रही है। धन से घराना नहीं बनता अपितु किसी घर को घराना उसके संस्कार, संस्कृति तथा धर्म बनाता है। केवल जन्म देना काफी नहीं होता बल्कि जन्म देने के बाद बच्चों में संरकार प्रदान करना ही सब कुछ होता है। एलाचार्य का अर्थ समझाते हुए आचार्यश्री ने कहा– इस पद पर वही प्रतिष्ठित हो सकता है जो गुण, संस्कार, ज्ञान एवं आचार में आचार्य जैसा हो। एलाचार्य, उप आचार्य और लघु आचार्य भी कहलाते हैं।

एलाचार्यश्री श्रुतसागर जी ने अपने उद्‌बोधन में कहा– मनुष्य को सम्यक्ज्ञान तथा वीतराग की ओर जाना चाहिए। जिसका घर ज्ञान हो, जिसका जीवन ज्ञान हो उसी को भगवान कहा जाता है। इसलिए मनुष्य को वित्तराग की ओर नहीं वीतरागता की ओर जाना चाहिए। मैं वित्तराग से कोसों दूर रहते हुए वीतरागता की ही चाबी चाहता हूँ, ज्ञान ही वास्तविक दीक्षा है। मैं पदयात्रा अवश्य करता हूँ, पर पद के लिए यात्रा नहीं करता। पूज्य आचार्यश्री ने ज्ञान, ध्यान और तप की जो अनमोल विरासत मुझे दी है मैं उसे पूरी जिम्मेदारी से सभालूँगा तथा उनके कुशल मार्गदर्शन में उन्हीं के अनुरूप चलने का संकल्प लेता हूँ।

मूड़बिद्री के भट्टारक पूज्य चारुकीर्ति स्वामी ने कहा– आज का यह समारोह चतुर्विध संघ को आगे बढ़ाने में सहायक सिद्ध होगा। मुख्य अतिथि धर्मस्थल के धर्माधिकारी श्री वीरेन्द्र हेगड़े ने कहा कि– आचार्यश्री के कुशल मार्गदर्शन से जैन संस्कृति एवं समाज की अभिवृद्धि हुई है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री पुनीत जैन ने कहा– यह कोई सामान्य उत्सव नहीं, महोत्सव मात्र भी नहीं, अपितु एक बड़ा भारी व्रतोत्सव है जिसमें सभी का कल्याण निहित है। डॉ. वीरसागर जैन ने मंगलाचरण करते हुए कहा– हमारे देश भारत का नाम ऋषभ-सुत भरत के नाम पर पड़ा है। वे बड़े आध्यात्मिक पुरुष थे, अतः हमारी संस्कृति अत्यधिक आध्यात्मिक है। हमें भी उनकी तरह आध्यात्मिक चक्षुओं से जीवन के हर प्रसंग को देखना-समझना चाहिए। डॉ. सुदीप जैन ने कहा– आचार्य कुन्दकुन्द का एक नाम एलाचार्य भी था। 'एला' इलायची को कहते हैं। वह सुगन्धित होती है, उसके दाने भी भेदविज्ञान का सन्देश देते हैं। आचार्य अपने योग्य शिष्य को यह पद प्रदान करते हैं। डॉ. सत्यप्रकाश जैन ने कहा– जैन आगमों में आचार्य, गृहस्थाचार्य, प्रतिष्ठाचार्य, निर्यापकाचार्य, एलाचार्य, बालाचार्य का उल्लेख मिलता है। भगवती आराधना में एलाचार्य और बालाचार्य को आचार्य के निर्देशानुसार कार्य करने का विधान बताया गया है। जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश में एलाचार्य को उपाचार्य भी कहा गया है। संस्कार विधि से पूर्व 108 इन्द्र-इन्द्राणियों ने स्वर्ण कलशों से उपाध्यायश्री का पद-प्रक्षालन किया।

कुन्दकुन्द भारती न्यास के अध्यक्ष श्री सुरेश चन्द्र जैन एवं मन्त्री श्री मुकेश कुमार जैन ने धर्माधिकारी श्री वीरेन्द्र हेगड़े जी का स्वागत किया तथा श्री आर.के. जैन (मुम्बई) ने उपाध्यायश्री श्रुतसागर जी के माता-पिता का उत्तरदायित्व निभाया। आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज को पिच्छी श्री सुरेन्द्र जैन जौहरी तथा एलाचार्य श्री श्रुतसागर जी महाराज को पिच्छी श्री आर.के. जैन (मुम्बई) तथा शास्त्र श्री आर.के. जैन (वीरा बिल्डर्स), दिल्ली ने भेंट किया।

परमपूज्य आचार्यश्री वर्धमानसागर जी एवं आचार्य महाप्रज्ञ जी से इस अवसर के लिए उनका मंगल आशीर्वाद एवं शुभकामना सन्देश प्राप्त हुआ। क्षुल्लक समर्पण सागर जी, पद्मश्री बाबूलाल पाटौदी एवं श्रीमंत डालचन्द जैन (पूर्व सांसद) ने भी अपनी मंगलकामना भेजी।

श्री प्रदीप जैन के भजनों से कार्यक्रम का शुभारम्भ हुआ। श्री सतीश जैन (आकाशवाणी) ने सभा का संयोजन एवं संचालन किया। विशिष्ट व्यक्तियों में ब्र. नीलम बहिन, श्रीमती शरयू दफ्तरी, श्री अशोक शाह, श्री प्रवीण शाह (मुम्बई), श्री गुलाबचन्द बाकलीवाल एवं रमेशचन्द गोधा (इन्दौर), डॉ. त्रिलोकचन्द्र कोठारी, स्वामी धर्मानन्द जी, श्री महेन्द्र कुमार जैन (पूर्व निगम पार्षद), श्री सतीश चन्द्र जैन (SCJ), श्री एस.के. जैन (प्रॉप शॉपी), श्री प्रमोद जैन (ग्रीनपार्क) आदि अनेक गणमान्य व्यक्तियों ने विनयांजलि अर्पित की।

समारोह समिति के अध्यक्ष श्री मुनीश्वर प्रसाद जैन ने सभी अतिथियों का आभार व्यक्त किया। इस कार्यक्रम में देश के विभिन्न भागों से पधारे भक्तजनों ने कार्यक्रम में भाग लेकर धर्म लाभ उठाया। ●●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैनधर्म स्वतन्त्र धर्म है : ए.आर. अंतुले

नई दिल्ली। श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा के त्रिवार्षिक अधिवेशन और आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी मुनिराज की शताब्दी वर्ष में सीरी फोर्ट ऑडिटोरियम में आयोजित एक भव्य समारोह में देश-विदेश से आए जैन धर्मावलम्बियों ने भाग लिया। यह कार्यक्रम परमपूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज के पावन सान्निध्य में सम्पन्न हुआ। पूज्य आचार्यश्री ने धर्मसभा को सम्बोधित करते हुए कहा– जैन धर्म प्राचीनतम और प्रामाणिक धर्म है।

कार्यक्रम की अध्यक्षता करते हुए केन्द्रीय अल्पसंख्यक मन्त्री श्री ए.आर. अंतुले ने कहा– जैन धर्म उस समय से अस्तित्व में है जब हिन्दू धर्म का नाम भी किसी ने नहीं सुना था। जैन धर्म एक स्वतन्त्र धर्म है। भगवान महावीर उनके 24वें तीर्थंकर हैं, उनको पहला मानना और यह कहना कि जैन धर्म हिन्दू धर्म की शाखा है यह गलत है, गुमराह करनेवाला है, यह झूठी कोशिश है ऐसा कभी हो नहीं सकता। धर्म परिवर्तन कोई हिंसा नहीं है। धर्म परिवर्तन के लिए किसी कानून की भी आवश्यकता नहीं है। यदि कोई स्वेच्छा से जैन धर्म अपनाता है तो उसे कोई रोक नहीं सकता।

संविधान के बनने से पहले प्रधानमन्त्री पं. जवाहर लाल नेहरु जी ने अपने निजी सचिव को कह कर एक पत्र लिखवाया था– जैन धर्म स्वतन्त्र धर्म है उसको किसी के साथ जोड़ कर मिटाया नहीं जा सकता। उन्होंने अपनी पुस्तक **डिस्कवरी ऑफ इण्डिया** में भी जैन धर्म को स्वतन्त्र धर्म माना है। यह पण्डितजी के समय की बात नहीं है, नोटिफिकेशन सन् 1992 में आया था उस समय अल्पसंख्यक धर्मों में 5 धर्मों का नाम स्वीकार किया गया था। उसमें और धर्मों के साथ जैन धर्म को अलग धर्म नहीं माना यह भारत सरकार की भूल थी उसे सुधारने की आवश्यकता है। गलती इंसान से ही होती है और उसे सुधारता भी इंसान है। यह कहकर कि जैन धर्म हिन्दू धर्म का हिस्सा है हम संविधान के विरोध में जा रहे हैं। क्या हम यह कह सकते हैं– सिख धर्म हिन्दू धर्म का हिस्सा है, बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म का हिस्सा है, तो हम यह कैसे कह सकते है कि जैन धर्म हिन्दू धर्म का हिस्सा है, शायद हम उनकी कटार से डर गए। अच्छा हुआ उनका नाम नहीं लिया, यदि लिया होता तो यह बात कहाँ जाकर रुकती कह नहीं सकते। इसीलिए हमें अभी से सतर्क रहने की ज़रूरत है। अभी बहुत सारे प्रदेशों में जैनधर्म को अल्पसंख्यक का दर्जा दिया गया है। आज भारत को सम्प्रदाय निरपेक्षता की बहुत आवश्यकता है, जैनधर्म बहुत प्राचीन धर्म है। मेरी समझ में नहीं आता, इससे प्राचीन और कोई धर्म हो सकता है। यदि इसके साथ दुर्व्यवहार किया जाता है, तो हमारे लिए बहुत शर्म की बात है। मैं मंच पर आने से पहले पूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज के दर्शनों के लिए गया था उस समय आचार्यश्री ने मुझसे कहा था– पाकिस्तान में कई एकड़ भूमि जैनधर्म के स्मारकों की है। अल्पसंख्यक मन्त्री होने के नाते दूसरे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देशों में भी जो अल्पसंख्यकों की चीजें हैं उनकी देखभाल भी मेरे मन्त्रालय के अन्तर्गत आती है। मैं वह भूमि किसी को हड़पने नहीं दूँगा।

पूज्य आचार्यरत्न श्री देशभूषण महाराज को विनयांजलि समर्पित करते हुए श्री ए.आर. अंतुले जी ने कहा– वह ऐसे महापुरुष थे जिन्होंने एक लाख किलोमीटर की पद यात्रा करते हुए पूरे देश में अहिंसा, एकता का सन्देश दिया। वह पहले ऐसे ऋषि थे जिन्होंने संसद में जाकर संसद को आशीर्वाद दिया। यह संसद हमारे लोकतन्त्र का पूजा स्थल है, गुम्बद है उसको आशीर्वाद देना इससे बड़ी चीज और क्या हो सकती है। आचार्यश्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी जी के समय में संसद में गए थे। वह उनको लेकर आयीं थीं, उन्होंने उनको एक ग्रन्थ भी भेंट किया था जिनको उन्होंने स्वीकार भी किया था और आज हमारी नेता श्रीमती सोनिया गाँधी ने समारोह के लिए एक सन्देश भेजा है जिसमें उन्होंने लिखा है– जब कांग्रेस की स्थापना हुई उस समय संस्थापकों में एक जैन भी थे। इसलिए मैं अपने भाइयों से कहता हूँ कि वह भारत के बारे में सीधे तरीके से सोचना शुरु करें। भारत में जब तक सभी धर्मों का समान सम्मान करेंगे तभी तक आज़ाद रहेंगे। भारत को आज सम्प्रदाय निरपेक्षता की बहुत आवश्यकता है। आचार्यश्री ने एक लाख पृष्ठ लिखे हैं। मैं उस पर खोज करूँगा कि उसमें उन्होंने क्या लिखा है और वह कितनी भाषाएँ जानते थे। इस अवसर पर उन्होंने **जैन लॉ** ग्रन्थ का लोकार्पण भी किया।

इस सभा को श्रीमती शरयू दफ्तरी, श्री निर्मल कुमार सेठी ने भी सम्बोधित किया। मंगलाचरण डॉ. सत्यप्रकाश जैन, सभा संचालन श्री सतीश जैन (आकाशवाणी), आचार्यश्री शान्तिसागर जी मुनिराज के चित्र का अनावरण श्री एस.के. जैन, आचार्यश्री देशभूषण जी मुनिराज के चित्र का अनावरण श्री सुरेन्द्र कुमार जैन जौहरी ने किया। समारोह की पूर्व सन्ध्या पर श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा के त्रिवार्षिक अधिवेशन में श्री निर्मल कुमार सेठी को पुनः सभा का अध्यक्ष मनोनीत किया गया। ●●

धर्मस्थल में महामस्तकाभिषेक

श्री रत्नवर्मा हेगडे तथा श्रीमती रत्नम्मा जी के संकल्प से निर्मित, 1982 में श्री डी. वीरेन्द्र हेगडे द्वारा श्रीक्षेत्र धर्मस्थल में प्रतिष्ठापित भगवान श्री बाहुबली का तृतीय महामस्तकाभिषेक महोत्सव जनवरी 28 से फरवरी 2, 2007 तक आयोजित है। इसी सन्दर्भ में 1008 भगवान श्री पार्श्वनाथ स्वामी का पंचकल्याणक महोत्सव का आयोजन दिनांक 28 जनवरी 2007 से किया गया है। दिनांक 28 जनवरी 2007 रविवार शाम 4.00 बजे इस महोत्सव का उद्घाटन एवं भावैक्य सम्मेलन आयोजित है। बाद के दिनों में विद्वत् सम्मेलन, विद्वत् सम्मान, कवि सम्मेलन और सांस्कृतिक कार्यक्रम भी आयोजित है। ●●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

युवाओं को दे सही दिशा

यंग जैन्स ऑफ इण्डिया (वाइजेआई) द्वारा सीरी फोर्ट ऑडिटोरियम में आयोजित अधिवेशन में टाइम्स ग्रुप की चेयरपर्सन श्रीमती इन्दु जैन ने कहा– जैन धर्म को मानने वाले इंसान और इंसानियत से ऊपर उठकर काम करें। लोग आज जैन धर्म की ओर आशा भरी नजरों से देखते हैं। युवा पीढ़ी को हम जब तक आत्मा का ज्ञान नहीं देंगे, तब तक 'वननेस' नहीं होगा। नौजवानों को जैन धर्म के सिद्धान्तों से अवगत कराने और इसे पूरे विश्व में फैलाने के ध्येय से यह अधिवेशन किया गया। ऐसे कार्यक्रमों से युवा पीढ़ी में जागृति आएगी। आज हमें ज्ञान को विश्व में ले जाने के लिए तरीके बदलने होंगे। जस्टिस श्री विजेन्द्र जैन ने कहा– अगर लोग जैन धर्म पर चलें तो पूरे विश्व में हिंसा और तनाव अपने आप समाप्त हो जाएगा। ●●

सम्मानित

* जैन विद्या के मनीषी विद्वान् प्रो. (डॉ.) प्रेमसुमन जैन को प्राकृत शोध संस्थान, श्रीक्षेत्र श्रवणबेलगोल का निदेशक मनोनीत किया गया है।
* प्रो. (डॉ.) प्रेमसुमन जैन, उदयपुर, प्रो. (डॉ.) फूलचन्द जैन 'प्रेमी', वाराणसी; डॉ. उदयचन्द जैन, उदयपुर; डॉ. कपूर चन्द जैन – डॉ. ज्योति जैन, खतौली एवं पं. लालचन्द जैन 'राकेश' को उदयपुर में आयोजित विद्वत् गोष्ठी में इक्यावन सहस्र रुपयों की सम्मान राशि के साथ पुरस्कृत किया गया।
* विख्यात प्रेस फोटोग्राफर पद्मश्री वीरेन्द्र प्रभाकर को भिवानी (हरियाणा) में आयोजित समारोह में एक लक्ष रुपयों की सम्मान राशि के साथ 'आचार्य महाप्रज्ञ अहिंसा प्रशिक्षण सम्मान' से अलंकृत किया गया।
* भोगीलाल लहेरचंद इंस्टीट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी तथा जसवंता धर्मार्थ ट्रस्ट के संयुक्त तत्त्वावधान में प्रो. मधुकर अनन्त महेन्दले (पूना) को 11वें आचार्य हेमचन्द्रसूरि पुरस्कार से सम्मानित किया गया।
* श्री शुद्धात्मप्रकाश भारिल्ल, जयपुर को दिल्ली में आयोजित एक समारोह में 'इंदिरा गाँधी प्रियदर्शिनी पुरस्कार' प्रदान किया।
* डॉ. अशोक कुमार शास्त्री, दिल्ली को एक समारोह में 'पं. प्रकाश हितैषी पुरस्कार' से सम्मानित किया गया।
* दौसा (राज.) में आयोजित एक समारोह में डॉ. सविता जैन, दिल्ली को 'वात्सल्य रत्नाकर पुरस्कार', डॉ. उदयचन्द जैन, उदयपुर को 'मर्यादा शिष्योत्तम पुरस्कार', एवं डॉ. सत्यप्रकाश जैन, दिल्ली को 'सिद्धान्तचक्रवर्ती पुरस्कार' से सम्मानित किया गया।

प्राकृतविद्या परिवार की ओर से सभी सम्मानित विद्वानों को हार्दिक बधाई। ●●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शिक्षण शिविर का आयोजन

श्री अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् (पंजी.) एवं जैनसमाज सूरजमल विहार, दिल्ली के संयुक्त तत्त्वावधान में श्री जैन मन्दिर सूरजमल विहार में दस दिवसीय 'छहढाला शिविर' का आयोजन किया गया जिसमें डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, जयपुर प्रमुख वक्ता थे। इससे पूर्व विद्वत्परिषद् एवं जैनसमाज ऋषभ विहार द्वारा श्री जैन मन्दिर ऋषभ विहार में पन्द्रह दिवसीय 'न्याय शिक्षण शिविर' का आयोजन किया गया था। ●●

समाधि दिवस सम्पन्न

परमपूज्य वात्सल्यरत्नाकर आचार्यश्री विमलसागर जी का 12वाँ समाधिदिवस उनके अन्तिम दीक्षित शिष्य पूज्य मुनिश्री ऊर्ज्यन्त सागर जी के पावन सान्निध्य में श्री आदिनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर, दौसा (राज.) में समारोहपूर्वक मनाया गया। ●●

इन्द्रध्वज विधान सम्पन्न

परमपूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज एवं एलाचार्य श्री श्रुतसागर जी के पावन सान्निध्य में श्री राकेश जैन (गौतम मोटर्स) परिवार की ओर से पं. पदमचन्द शास्त्री, पानीपत एवं श्री महावीर प्रभाचन्द्र शास्त्री, सोलापुर के आचार्यत्व में 25 दिसम्बर 2006 से 1 जनवरी 2007 तक इन्द्रध्वज विधान सानन्द सम्पन्न हुआ। ●●

जन्मशताब्दी महोत्सव सम्पन्न

परमपूज्य आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी मुनिराज का जन्मशताब्दी महोत्सव श्रीक्षेत्र शान्तिगिरि, कोथली (कर्नाटक) 31 दिसम्बर 2006 को परमपूज्य आचार्यश्री वैराग्यनन्दी जी मुनिराज ससंघ के पावन सान्निध्य में सम्पन्न हुआ। ●●

परमपूज्य आचार्यश्री भरत सागर जी महाराज का समाधिमरण

वात्सल्य रत्नाकर परमपूज्य आचार्यश्री विमलसागर जी मुनिराज के प्रमुख शिष्य परमपूज्य आचार्यश्री भरतसागर जी मुनिराज का अणिन्दा पार्श्वनाथ, जिला–उदयपुर, (राजस्थान) में 21 अक्टूबर 2006 को सचेतन अवस्था में समाधिमरण हो गया। आचार्यश्री को अपनी समाधि का ज्ञान तीन दिन पूर्व ही हो गया था तपस्या और ज्ञान के चमकते दिनकर आचार्यश्री भरतसागर जी मुनिराज का व्यक्तित्व पूरे देश में अपना महत्त्व रखता था। प्राकृतविद्या परिवार की ओर से पूज्य आचार्यश्री को विनम्र श्रद्धांजलि। ●●

प्राकृतविद्या के स्वत्वाधिकारी एवं प्रकाशक श्री सुरेशचन्द्र जैन, अध्यक्ष, श्री कुन्दकुन्द भारती, 18-बी, स्पेशल इन्स्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली-110067 द्वारा प्रकाशित एवं मुद्रक श्री यू.सी. जैन द्वारा, पृथा ऑफसैट प्रा.लि., B62/11, नारायणा इण्डस्ट्रियल एरिया, फेस-II, नई दिल्ली-110028 में मुद्रित। *—भारत सरकार पंजीयन संख्या 48869/89*

4858

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

खारवेल भवन में आयोजित 'गणधर वलय विधान'
उपाध्यायश्री श्रुतसागर जी एवं स्वस्तिश्री चार

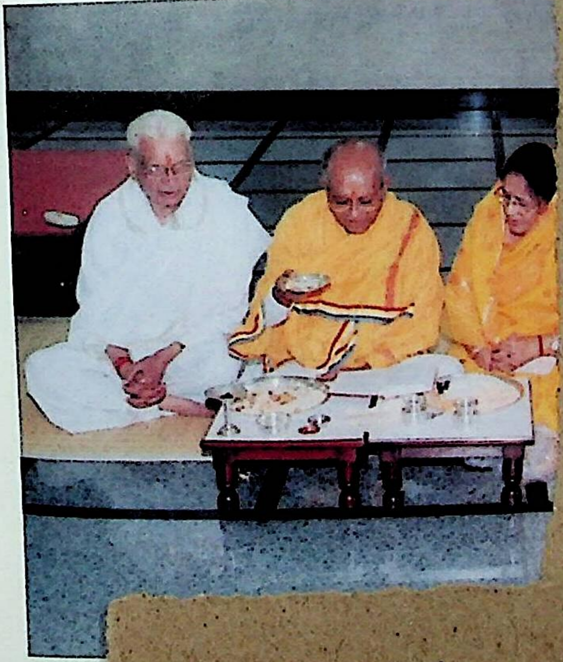

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi